'कब तक पुकारुं'
में अभिव्यक्त
राजस्थानी जनजातीय जीवन

(एम. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध)

शोध–निर्देशक

प्रो. मैनेजर पांडेय

शोधकर्ता

आशा राम भार्गव

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2005

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 01/7/ 2005

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled - " *'KAB TAK PUKARUN'* **MEIN ABHIVAYAKTA RAJASTHANI JANJATIA JEEVAN**" by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

Name: **ASHA RAM BHARGAVA**
(Research Scholar)

PROF. MANAGER PANDEY
(Supervisor)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

पूजनीय माँ–पिताजी को...

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन i–vi

अध्याय प्रथम : राजस्थान का जनजातीय जीवन 1–54

(क) जनजाति शब्द का अर्थ, परिभाषा व विशेषताएं
(ख) जनजाति के समानांतर चलने वाले शब्द और नामकरण की समस्या
(ग) जनजातियों का इतिहास और इतिहास में जनजातियां
(घ) राजस्थान का जनजातीय जीवन (विभिन्न पक्ष)
सामाजिक पक्ष
धार्मिक पक्ष
आर्थिक पक्ष
राजनीतिक पक्ष

अध्याय द्वितीय : नटों का जीवन और कब तक पुकारुं 55–95

(क) रांगेय राघव और जनजातीय चेतना
(ख) नटों का जीवन और कब तक पुकारुं

अध्याय तृतीय : शिल्प संरचना और कब तक पुकारुं 96–133

(क) कथानक
(ख) पात्र योजना
(ग) देशकाल व् वातावरण
(घ) भाषा
(ड.) उद्देश्य

अध्याय चतुर्थ : कब तक पुकारुं और शैलूष – तुलनात्मक अध्ययन 134–169

(क) कथानक
(ख) नटों के वर्तमान व भविष्य संबंधी दृष्टिकोण
(ग) चरित्र चित्रण
(घ) आंचलिकता
(ड.) पठनीयता, प्रभावीपन व संवेदनशीलता

उपसंहार 170–181

संदर्भ ग्रंथ सूची 182–188

हिंदी
अंग्रेजी
पत्र–पत्रिकाएं

प्राक्कथन

रांगेय राघव हिंदी साहित्य के लिए कोई अपरिचित नाम नहीं है। 38 उपन्यास और 80 कहानियों के साथ साहित्य की अनेक विधाओं काव्य, नाटक, रिपोर्ताज तथा आलोचना व अनुवाद रचना करने वाले राघव बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। रांगेय राघव साहित्य तक ही सीमित नहीं रहे उन्होंने इतिहास, समाजशास्त्र व संस्कृति के संबंध में भी लिखा व अपने विचार प्रकट किए जिसका वर्तमान दौर के साहित्यकारों में अभाव पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रांगेय राघव का लेखन ज्ञान साहित्य से भी संबद्ध था। पिछड़े ग्राम्य अंचल से शहर तक, प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक काल तक, संस्कृत साहित्य के साथ पाश्चात्य साहित्य तक तथा गुलाम भारत से आजाद भारत तक इनकी साहित्यिक विषयवस्तु का विस्तार पाया जाता है। रांगेय राघव इन विभिन्न विषयों व समाजों से परिचित जान पड़ते हैं।

साहित्य केवल कल्पना या भावनाओं की दुनिया नहीं है, यहां विचारों का भी महत्व होता है। रांगेय राघव इसी विचार से प्रेरित दिखाई देते हैं इसी कारण वे साहित्य में विचारधारा के प्रयोग को बुरा नहीं मानते। वे विचारधारा के अनुसार साहित्य रचना भी करते हैं और अपने विचारों को टिप्पणियों के माध्यम से प्रकट भी करते हैं।

लेकिन साहित्य केवल विचारों की दुनिया नहीं है। रांगेय राघव का विचारधारा संबंधी दृष्टिकोण संतुलित है। इसी कारण वे साम्यवाद से पद्धति, दृष्टि व मानवप्रेम लेने के बावजूद साम्यवाद की मॉडल व्यवस्था, राजनीति द्वारा साहित्य का रूप निर्धारण, पार्टी नीतियों का साहित्य के अंकुश के तौर पर प्रयोग करने, यांत्रिक ढंग से मार्क्सवाद को साहित्य पर लागू करने का विरोध करते हैं। उनके अनुसार इनसे रचनात्मकता व निर्णयात्मकता में बाधा पहुंचती है। वे लेखक की स्वतंत्रता के पक्षधर थे। लेखक की स्वतंत्रता का विचार उनकी मुक्तिधर्मी चेतना का ही रूप है जिसका स्वर उनके साहित्य में भी मिलता है।

रांगेय राघव का साहित्य उनके अनुभवों से निसृत जान पड़ता है। वो उनकी रचना में रचा बसा प्रतीत होता है। उसे ये जीवनानुभव का अंग बनाकर साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। वैर ग्राम के माध्यम से वे प्रेमचंद के बाद के ग्राम्य जीवन का यथार्थ चित्रण करते हैं, जहां शोषण के विविध पहलू व केंद्र हो गए हैं। इसके माध्यम से वे संघर्षरत मनुष्य की पीड़ा पहचानते हैं। उनकी यह पीड़ा और चित्रण गहरे आत्मीय संवेदनात्मक अनुभवों से युक्त है। रांगेय राघव

का स्वयं का जीवन संघर्ष में बीता, उन्होंने विभिन्न प्रकार के कष्ट सहकर साहित्य रचना की थी। वे संघर्षों की पीड़ा पहचानते थे, शायद इसी कारण संघर्षी मन के प्रति लगाव रखते थे। यह संघर्षरत मनुष्य के मन की पीड़ा उनकी व्यक्तिगत पीड़ा से समभाव या साम्य रखती है।

रांगेय राघव अपने साहित्य के माध्यम से संघर्षरत मनुष्यों की पहचान कराते हैं और जिन संघर्षरत मनुष्यों की पीड़ा की पहचान ये कराते हैं वे आदिवासी हैं। ये आदिवासी या जनजातियां समाज के हाशिए पर हैं, समाज ही नहीं साहित्य जगत के भी हाशिए पर हैं। इनके जीवन को आधार बनाकर लिखे गए साहित्य को अंगुलियों पर गिना जा सकता है। रांगेय राघव इन्हीं हाशिए के लोगों की चिंता करने वाले विचारक हैं। वे 'संघर्षरत मनुष्य के लिए हृदय सालते' प्रतीत होते हैं। उनकी यह संघर्षरत मनुष्य की पीड़ा की पहचान उन्हें तत्कालीन साहित्यकारों में ही नहीं आज के साहित्यकारों में भी विशिष्ट स्थान प्रदान करती है। वे समूचे प्रगतिवादी साहित्य में जितनी विशाल पृष्ठभूमि में मानवीय संघर्षों को अंकित करते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। वे पहले रचनाकार सिद्ध होते हैं जो इन हाशिए के लोगों (नटों) को रोशनी के दायरे में लाते हैं। वे उनका जीवन चित्रण करते हैं जो आपके आस–पड़ोस में रहने वाले हैं पर जिनके जीवन को समझने का समय किसी के पास नहीं है। राघव ने उनके प्रति आत्मीयता दिखाई और उनके जीवन को देखा, समझा व चित्रित किया।

इस विषय पर कार्य करने की प्रेरणा प्रो. मैनेजर पाण्डेय के एक व्याख्यान से मिली जो उन्होंने 31.08.2002 को पेरियार मैस में एक सभा के दौरान दिया था। इतिहास, समाज और संस्कृति पर चर्चा करते हुए उन्होंने 1871 के अपराधी जनजाति अधिनियम और उसके अंतर्गत आने वाली जनजातियों के शोषण, उनकी यातनाओं, पीड़ाओं का वर्णन किया। यह हृदय को प्रभावित करने वाला वर्णन था। तत्पश्चात् बूधन के एक–दो अंक पढ़ने पर 1871 के अंतर्गत आने वाली इन जनजातियों की पीड़ा आत्मकथाओं आदि के माध्यम से ज्ञात हुई। 1871 के अधिनियम के अंतर्गत आने वाली जनजाति और गुलाम भारत में उनकी स्थिति की 'कब तक पुकारुं' साहित्यिक अभिव्यक्ति करता है। राजस्थान के उदयपुर में आदिवासियों को भगाने के लिए जंगल जलाना, कुंए में जहर घोल देना, अरावली प्रदेश के नटों–कंजरों आदि घुमक्कड़ों का संघर्ष इस उपन्यास को प्रासंगिक बना देता है।

रांगेय राघव का दृष्टिकोण भी प्रासंगिक जान पड़ता है। आज जब भारत के मूल निवासी संबंधी बहस काफी बढ़ गई है और कुछ लोग जो आर्यों को ही भारत

का मूल निवासी मानने लगे हैं, जो भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनार्यों का योगदान नहीं मानते, उन्हें वनवासी कहकर उनके सांस्कृतिक योगदान को झुठला देना चाहते हैं, जो उन्हें असभ्य, असंस्कृत कहते हैं उनके लिए रांगेय राघव के आर्येतर संस्कृति और भारतीय संस्कृति में उनके योगदान संबंधी विचार चुनौती बनकर आते हैं। इसी प्रकार चुनौती उनके लिए भी है जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद या एक संस्कृति के नाम पर इनकी संस्कृति को मिटा देना चाहते हैं। रांगेय राघव भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनार्यों का योगदान सिद्ध करते हैं वे सांस्कृतिक सहअस्तित्व और भिन्नता में एकता के सिद्धांत की बात करते हैं, वे एक जाति के प्रतिमानों पर दूसरी को आंक कर उसे असभ्य या असंस्कृत नहीं मानते। आज से 50 वर्ष पूर्व रांगेय राघव जो आर्येतर संस्कृति का योगदान सिद्ध करते हैं आज वह इस बहस के संदर्भ में प्रासंगिक हो जाता है।

रांगेय राघव नटों के माध्यम से इसी आर्येतर संस्कृति का चित्रण करते हैं। सदियों से उनकी पीड़ा, शोषण के विविध पहलुओं का यथार्थ व समग्र चित्रण करते हैं। समग्रता इस रूप में भी है कि वे उनके वर्तमान, भूत, भविष्य सब पर विचार करते हैं। रांगेय राघव सपनों के साथ जीने वाले लेखक हैं इसी कारण कामना करते हैं कि 'शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी यह मिट जाएगी' वे कामना करते हैं कि 'एक दिन जातिभेद, छुआछूत सब मिट जाएगा'। वे सदियों से पीड़ित जनजाति की मुक्ति का स्वर उठाते हैं।

रांगेय राघव के 'कब तक पुकारुं' के नटों की समस्याओं व पीड़ा का चित्रण और वर्तमान में अरावली प्रदेशों के नटों आदि की यातनाओं, समस्याओं, संघर्ष को देखकर लगता है कि 'कब तक पुकारुं' मानो आज की ही रचना है। वह समय और था यह समय और है। तब भारत गुलाम था आज आजाद है। पर इनकी समस्याएं, संघर्ष तब भी था और आज भी है, अपने ही देश में कैदी और बेगाने की जिंदगी उनकी तब भी थी और अब भी है। आज भी इन्हें बांग्लादेशी करार दिया जाता है, नागरिक सुविधाओं से दूर रखा जाता है। केवल राजस्थान में ही 4 लाख कबीलों की 55 जातियों के लोग भारतीय होने कें बावजूद नागरिकता हेतु तरस रहे हैं जबकि धनाढ्य विदेशियों को यह नागरिकता सरकार द्वारा परोसी जा रही है।

'कब तक पुकारुं' के सवाल आज के ही लगते हैं। आज भी लगता है कि जनजातियां पुकार रहीं हैं कि शोषण की घुटन कब समाप्त होगी? हमें आजादी कब मिलेगी? कब वह दिन आएगा जब हम भी सम्मानजनक जीवन जी सकेंगे? लेखक मानो सवाल करता है कि आजादी के पूर्व जो सपने संजोए थे और 50 वर्ष पूर्व 'कब तक पुकारुं' मुक्ति और सामाजिक बदलाव की जो उम्मीद लगाए बैठा था क्या

आज तक वह उम्मीद पूरी हुई? क्या आज तक इनका स्तर सुधरा है? क्या शोषण की घुटन मिटी है?

अरावली प्रदेश हो या उदयपुर के आदिवासी या कोई अन्य सबकी पीड़ा मानो मुक्ति की पुकार कर रही है, यह पुकार 'कब तक पुकारुं' में भी है। संघर्ष वहां भी था और यहां भी। सुलोचना जी रांगेय राघव के अनुभव की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए लिखती हैं कि कुछ समय पहले तक सुखराम जीवित था। मैं सोचता हूं सुखराम ही नहीं उसकी जाति भी जीवित है, उनका शोषण भी जीवित है, उनकी पुकार भी अभी तक जीवित है कि मुक्ति को 'कब तक पुकारुं'।

मेरे एम.फिल. शोध का विषय 'कब तक पुकारुं' में अभिव्यक्त राजस्थानी जनजातीय जीवन है जिसके अंतर्गत चार अध्याय हैं।

पहला अध्याय 'राजस्थान का जनजातीय जीवन' है। इसमें सर्वप्रथम जनजाति के अर्थ, परिभाषा पर विचार किया गया है। इसके साथ ही जनजातियों की सामान्य विशेषताओं और किसी समुदाय को जनजाति मानने की कसौटियों पर भी विचार किया गया है। इसी संदर्भ में संवैधानिक सूची की अनियमितताओं की भी चर्चा की गई है। जनजाति समुदाय का तथाकथित सभ्य समुदाय से क्या अंतर है इस पर भी विचार किया गया है। इसी अध्याय में जनजातियों के नामकरण की समस्या पर विचार किया गया है। जनजाति को वनवासी, पहाड़ी आदि कहने के पीछे कारण क्या हैं? जनजातियों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त नाम कौन सा है इन प्रश्नों के हल खोजने की कोशिश की गई है। इसी अध्याय के अंतर्गत जनजातियों के इतिहास और इतिहास में जनजातियों की स्थिति की चर्चा की गई है। विभिन्न समयों में इनके 'पलायन के इतिहास' तथा तथाकथित सभ्य समाज द्वारा इनके शोषण पर विचार किया गया। अपराधी जनजाति अधिनियम की धाराओं, उसकी अमानवीय क्रियाविधियों के साथ आजाद भारत में इनकी स्थिति की चर्चा करना शोध का विषय रहा है। इसी अध्याय में राजस्थान का जनजातीय जीवन चित्रण किया गया है। नट, भील, मीणा, कंजर, सांसी व बंजारा आदि जनजातियों के जीवन को आधार बनाया गया है। अपराधी जनजाति अधिनियम के अंतर्गत आने वाली जनजातियों को आधार बनाया गया है न कि अनुसूचित जनजाति की सूची को। राजस्थान की जनजातियों के जीवन का क्या वैशिष्ट्य है? इन जनजातियों की तथाकथित सभ्य समाज से क्या भिन्नता है? घुमक्कड़ जनजातियों व स्थायी जनजातियों के जीवन में, संस्कृति में समानता है या भिन्नता? इन सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है। इन जनजातियों के जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक पक्ष व मान्यताओं का वर्णन किया गया है।

दूसरे अध्याय 'नटों के जीवन और कब तक पुकारुं' में सर्वप्रथम रांगेय राघव की जनजातीय चेतना की चर्चा की गई है। राघव के जनजातियों के जीवन चित्रण के पीछे निहित भावनाओं को खोजने का प्रयास किया गया है। इनकी आर्येतर संस्कृति संबंधी मान्यता को न केवल उपन्यास वरन् कहानियों व काव्य के माध्यम से भी दर्शाया गया है। इसी अध्याय में नटों के जीवन का 'कब तक पुकारुं' के आधार पर वर्णन किया गया है। 'कब तक पुकारुं' में चित्रित इन नटों के जीवन को यथार्थ की कसौटी पर कसने की कोशिश की गई है। इनके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन, मान्यताओं, आस्थाओं और 'कब तक पुकारुं' में इनके चित्रण की तुलना की गई है।

तीसरे अध्याय 'शिल्प संरचना और कब तक पुकारुं' के अंतर्गत रांगेय राघव के इस उपन्यास की रचना प्रक्रिया का अध्ययन किया गया है। रांगेय राघव का नटों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण क्या है? उनकी विचारधारा क्या है? उपन्यास यथार्थवाद पर आधारित है या कल्पना पर इन सभी प्रश्नों का हल खोजने का प्रयास किया गया है। परंपरागत शिल्प प्रतिमानों कथानक, चरित्रचित्रण, भाषा, उद्देश्य, देशकाल व वातावरण आदि के आधार पर उपन्यास का मूल्यांकन किया गया है। इसके साथ ही आंचलिकता, विचारधारा के आलोक में भी उपन्यास का मूल्यांकन किया गया है। लेखक विचारधारा प्रयोग को उचित मानता है या नहीं? लेखक का विचारधारा प्रयोग संबंधी दृष्टिकोण क्या है? क्या विचारधारा उपन्यास पर हावी हो गई है, चरित्र व कथानक आदि स्वाभाविक है या लेखक की विचाधारा उन पर हावी है? इन प्रश्नों पर विचार किया गया है। नटों का जीवन चित्रण यथार्थवादी दृष्टिकोण से चित्रित है या आदर्शवादी इस पर भी विचार किया गया है।

चौथा अध्याय 'कब तक पुकारुं' और 'शैलूष' (शिवप्रसाद सिंह) की तुलना पर आधारित है। दोनों उपन्यास नटों के जीवन को कथा का आधार बनाते हैं। उपन्यासकारों द्वारा विषय चयन के कारण तथा अनुभव की प्रामाणिकता की खोज की गई है। नटों के वर्तमान, भूत व भविष्य संबंधी लेखकों के दृष्टिकोण को भी तुलना का आधार बनाया गया है। इसके साथ ही कथानक का आधार व स्वरूप, चरित्रयोजना, भाषा, आंचलिकता आदि के आधार पर तुलना की गई है। यथार्थ और कल्पना के आधार पर कथानक, चरित्र आदि की जांच की गई है। पाठकीय ग्रहण से संबंधित तत्व पठनीयता, प्रभावीपन व संवेदनशीलता को भी तुलना का आधार बनाया गया है।

इस कार्य में आचार्य मैनेजर पाण्डेय का महत्वपूर्ण योगदान रहा। उनका स्नेह और मार्गदर्शन समय–समय पर आने वाली कठिनाइयों को दूर करने में सहायक सिद्ध हुआ। उन्होंने इस विषय पर कार्य करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया और दृष्टि विकसित की। यह शोध कार्य उन्हीं की दृष्टि और मार्गदर्शन का प्रतिफल कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। मैं इस कार्य के लिए उनका हार्दिक आभारी हूँ और सदैव रहूँगा।

मैं भारतीय भाषा केंद्र के समस्त गुरुजनों का भी आभारी हूं जिनका समय–समय पर सहयोग मिला। जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय पुस्तकालय, साहित्य अकादमी पुस्तकालय तथा गंगा सिंह राजकीय पुस्तकालय (बीकानेर) का भी आभार व्यक्त करता हूँ।

अपने मित्रों तथा सहयोगियों का भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका भावात्मक तथा सामग्री उपलब्ध कराने में सहयोग मिला। इनमें नीरज सर, लोकेश जी, किशोर भाई, योगेश यादव, रविकांत, जीतेश, विक्रम सिंह, लक्ष्मीनारायण आदि हैं।

मेरे आदरणीय बड़े भाई साहब आत्माराम और अविनाश का मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिनका प्यार व विश्वास ही मुझे यहां तक पहुंचा सका है। इन्हीं की मेहनत का परिणाम है कि मैं इतना पढ़ पाया। मैं अपने भाईयों, भाभियों, बहनों आदि का आभारी हूँ जिनका सहयोग मेरे जीवन को कष्ट से उबारने में सहायक सिद्ध होता है। विनोद जो मेरा भानजा कम मित्र अधिक है उसका सहयोग भी सहायक सिद्ध हुआ। मैं रामनिवास जी का भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी सलाह से ही हमने कला संकाय में प्रवेश लिया।

अंत में उनका स्मरण करता हूं जो मेरे लिए सबसे पहले हैं जिनका जीवन ही मेरे लिए सब कुछ है। जिन्होंने ममत्व व प्यार के सहारे किसी भी कष्ट को मेरे निकट न आने दिया। जिन्होंने मेरी इच्छाएं पूर्ण कर मुझ में ही अपने सपनों को साकार होते देखा। जिन्होंने अपनी इच्छाओं को मेरी इच्छाओं में एकाकार कर दिया। उनका जीवन संघर्ष ही मेरे लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है उनका स्मरण कर मैं अपने जीवन को सार्थक पाता हूँ, धन्य समझता हूँ। वे प्रातः स्मरणीय मेरे माँ व पिताजी हैं।

137, साबरमती छात्रावास,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली –67.

आशाराम भार्गव

अध्याय प्रथम

राजस्थान का जनजातीय जीवन

(क) जनजाति शब्द का अर्थ, परिभाषा व विशेषताएं

(ख) जनजाति के समानांतर चलने वाले शब्द और नामकरण की समस्या

(ग) जनजातियों का इतिहास और इतिहास में जनजातियां

(घ) राजस्थान का जनजातीय जीवन (विभिन्न पक्ष)

सामाजिक पक्ष

धार्मिक पक्ष

आर्थिक पक्ष

राजनीतिक पक्ष

जनजाति शब्द का अर्थ व विशेषताएं

राजस्थान के जनजातीय जीवन पर विचार करने से पूर्व जनजाति शब्द के अर्थ पर विचार करना उचित होगा। जनजाति शब्द के अर्थ पर विचार करना इस कारण उचित होगा क्योंकि प्रथमतः जनजाति और उसके समानांतर चलने वाले शब्द आदिवासी, वनवासी आदि में कोई अंतर है या नहीं यह देखना है और साथ ही यह भी देखना है कि यह अंतर वास्तविक है या उसके पीछे राजनीतिक, सामाजिक या कोई अन्य कारण है? यह अकारण नहीं है कि विभिन्न लोगों और संस्थाओं द्वारा इन्हें भिन्न–भिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। इस नामकरण पर भी अपना विचारधारात्मक प्रभाव है। दूसरा कारण यह है कि जनजाति शब्द के अर्थ द्वारा ही यह निर्धारित किया जा सकता है कि इसकी मूल विशेषताएं क्या हैं और कसौटियां क्या हैं? किस जाति को जनजाति माना जाए और किसको नहीं?

जनजाति शब्द के अर्थ और परिभाषा के संदर्भ में विचारणीय तथ्य यह है कि इसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं बन पायी है और ना ही विद्वान किसी एक परिभाषा पर सहमत हैं फिर भी सामान्य अर्थबोध हेतु कुछ विद्वानों के मतों या परिभाषाओं पर विचार किया जा सकता है।

इस प्रसंग में तीन बातों पर विचार किया जाएगा, जनजाति का अर्थ क्या है? किसी मानव समूह को जनजाति मानने की कसौटियां क्या है और जनजातीय जीवन की विलक्षणता या विशिष्टता क्या है जो उन्हें अन्य समूहों से अलग करती हैं?

जनजाति शब्द ट्राइब का अनुवाद माना जाता है। ममता चौधरी के अनुसार "ट्राइब शब्द लेटिन शब्द ट्रीबूस (Tribus) से आया है जिसका अर्थ रहने के स्थान से है... यह बताता है कि लोगों का एक समूह जो एक समुदाय का निर्माण करता है तथा एक पूर्वज की संतान होने का दावा करता है।"[1]

जैकब्सन और स्टर्न के अनुसार – "जनजाति एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का समूह है जिसकी सामान्य भूमि हो, सामान्य भाषा हो, सामान्य सांस्कृतिक परंपरा हो और जिस समुदाय का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ ओतप्रोत हो।"[2] इसी प्रकार मजूमदार के अनुसार – "एक जनजाति एक भौगोलिक और क्षेत्रीय सामाजिक समूह होता है· जिसके सदस्य समान बोली बोलते हैं, वे एक आर्थिक संगठन के रूप में संयुक्त होते हैं तथा उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं होता .... जनजाति एक समान संस्कृति का समूह है जो सामान्यतः अंतर्विवाही होती है, किसी पादप या पशु से रहस्यमयी रूप से संबद्ध होता है या रक्त संबंध स्थान की समीपता के कारण होता है। यह रक्त संबंध विकसित होता है रक्त बंधन में जिनमें अंतर्विवाह का निषेध होता है।"[3] इस प्रकार मजूमदार के

अनुसार स्थान विशेष, बोली, आर्थिक क्रियाकलाप तथा रक्त संबंधों पर आधारित समाज ही जनजाति होता है।

पिडिंग्टन के अनुसार "लोगों का समूह जो सामान्य भाषा बोले, एक प्रदेश में रहे और सांस्कृतिक समानता जाहिर करे तथा जनजाति के बाहर विवाह न करे।"[4]

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार – "सरलतम रूप में जनजाति एक टोलियों का समूह है जिसका एक सानिध्य वाले भूखण्ड पर अधिकार हो तथा जिनमें एकता की भावना (संस्कृति में) गहन समानता, बारंबार संपर्क तथा कतिपय सामुदायिक हितों में समानता से उत्पन्न हुई हो।"[5]

रिसले ने भारतीय संदर्भ में जनजाति शब्द को व्याख्यायित किया उनके अनुसार – "परिवारों का संगठन या समूह जो साधारण नाम धारण किए हुए हो, जिनका कोई खास संबंध हो, स्वयं को किसी एक ही मिथकीय या ऐतिहासिक पूर्वज की संतान मानते हों या कभी कभी किसी जानवर की। जो देश के कुछ भागों में रक्त संबंधों की बजाय रक्त कलह के कारण संयुक्त रहते हैं, समान भाषा बोलते हैं, निश्चित क्षेत्र पर कब्जा किए हो या दावा करते हों तथा जरूरी रूप से अंतर्विवाही नहीं होते।"[6]

इस प्रकार जनजाति की सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। सभी विद्वानों ने कुछ खास तत्वों को जनजाति का लक्षण मानकर परिभाषा दी है। कुछ ने आवास को महत्व दिया है तो किसी ने भाषा, संस्कृति आदि को। इन परिभाषाओं से निश्चित अर्थ तक नहीं पहुंचा जा सकता है लेकिन फिर भी विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं में व्यक्त समान लक्षणों के आधार पर एक परिभाषा बनाई जा सकती है। सामान्यतः सभी विद्वानों ने एक समान नाम, एक क्षेत्र पर अधिकार, समान पूर्वज, एक भाषा, समान सामाजिक धार्मिक रीति आदि लक्षण बताए हैं। इन्हीं लक्षणों द्वारा जनजातीय लोगों की प्रकृति को समझा जा सकता है।

सामान्य रूप से उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जनजाति की सामान्य विशेषताएं ज्ञात की जा सकती हैं जो इस प्रकार से न केवल जनजाति की परिभाषा हो सकती है वरन् तथाकथित सभ्य समाज से उसकी भिन्नता और विशिष्टता का आधार तथा साथ ही किसी मानव समूह को जनजाति मानने की कसौटी भी। इस आधार पर जनजातियों की सामान्य विशेषताओं का परिचय दिया जाना समीचीन होगा।

सवाल यह उठता है कि किसी मानव समूह को जनजाति मानने का आधार क्या हो? तथा ये जनजाति किस अर्थ में दूसरे मानव समूहों से भिन्न है? रत्नाकर भेंगटा मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप इण्टरनेशनल रिपोर्ट में इनकी अलग पहचान बताते

हुए लिखते हैं – "इनकी अलग पहचान है जिसके प्रमुख पहलू हैं – अपना अलग धर्म, व्यक्ति का समुदाय व प्रकृति से गहरा जुड़ाव, धन व बाजार पर कम निर्भरता, सामाजिक स्तर पर स्वप्रशासन की लंबी परंपरा और एक समतामूलक संस्कृति जिसमें हिंदुओं की भेदभावपूर्ण कठोर जाति व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं है।"[7] इस मानवीय संबंधों वाले समाज की कुछ विशेषताएं रही हैं। 'एक तो यह कि इनमें सामूहिकता के मानवीय मूल्यों पर आधारित विकसित समाज (व्यवस्था) अपने में स्वतंत्र इकाई (स्वयंभू) होता है। दूसरे इसमें अपने आपसी विवादों–मामलों को निपटाने की शक्ति होती है, तीसरे प्राकृतिक व पारंपरिक संसाधनों से इसका नैसर्गिक (भावात्मक) संबंध होता है और खुद को जीवित, विकसित व समृद्ध बनाए रखने के लिए अपने प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भरता बनाए रखना ताकि आत्मनिर्भरता की ताकत बढ़े।"[8]

ललिता प्रसाद विद्यार्थी – "जनजाति एक सामाजिक समूह है जिसके नौ प्रमुख तत्व हैं – एक निश्चित क्षेत्र पर अधिकार का दावा, सामान्य बोली, सामान्य नाम, सामान्य संस्कृति, अंतर्विवाह संस्कार, सामान्य निषेध, अलग सामाजिक व राजनीतिक तंत्र, मुखिया में पूर्ण आस्था, अपनी भिन्न अर्थव्यवस्था में पूर्ण आत्मतुष्टि।"[9]

इस परिभाषा से जनजाति की सामान्य विशेषताएं सामने आती हैं जिसके अनुसार इनका भिन्न धर्म, भिन्न सामाजिक व्यवस्था, भिन्न राजनीतिक तंत्र, भिन्न अर्थव्यवस्था, भिन्न संस्कार हैं और इन्हीं तत्वों को मिलाकर इनकी भिन्न संस्कृति बनती है जो इन्हें तथाकथित सभ्य समाज से ही नहीं वरन् अन्य जनजाति समूहों से भी अलग करती है, विशिष्ट बनाती है। जनजातियों की यह भिन्न संस्कृति प्रकृति से घनिष्ठ रूप से संबंधित है प्रकृति का उनके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक समस्त क्षेत्रों पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, उनका ज्ञान, आध्यात्म भी प्रकृति से संबद्ध है।

भारत में जनजाति एक क्षेत्रीय समूह है जिसका परंपरागत क्षेत्र होता है और प्रवासी सदैव उसे अपने घर के रूप में याद करते हैं। भील व मीणा जो अहमदाबाद में कार्य करते हैं वे अपने घर को सदैव याद रखते हैं। जनजातियों की राजनीतिक गतिविधि उनकी तरह की ही होती है जिसमें पंचायतें होती हैं समूह और उपसमूह स्तर पर। अपने ग्राम के प्रति श्रद्धा होती है, मुखिया में दृढ़ आस्था होती है। इनकी अपनी भाषा होती है।

सामाजिक आधार पर जनजाति के लोग अंतर्विवाही होते हैं। एक जनजाति में कई गोत्र होते हैं, गोत्रों में बहिर्विवाह होता है। प्रत्येक गोत्र के सदस्यों में खून का रिश्ता होता है। गोत्र टोटेमिक खण्ड पर आधारित होते हैं इनका क्षेत्रीय सामीप्य या आवास होता है। एक जनजाति में सामाजिक संगठन इस तरह का होता है –

जनजाति, उपजनजाति, अर्द्धसंगठन, गोत्र समूह, स्थानीय समूह, उपगोत्र, वंश व परिवार। सभी तत्व हों यह भी अनिवार्य नहीं है।

जनजाति की अपनी सामाजिक, राजनीतिक व भौगोलिक स्थिति के साथ उनकी अर्थव्यवस्था भी भिन्न और विशिष्ट होती है जो मुख्यतः आत्मतुष्टिपरक होती है। तकनीकी कला का अभाव होता है जिस कारण इनका शोषण भी होता है, पैसे और पैसे संबंधी संस्थाओं का बहुधा प्रयोग नहीं होता। परस्पर नैतिक बंधन, विनिमय, सहयोग व संयुक्त प्रवास का हाट बाजार उनकी अर्थव्यवस्था के प्रमुख तत्व हैं।

इस प्रकार ये जनजातियों की सामान्य विशिष्टताएं हैं लेकिन फिर भी एक बात विचारणीय है और वह यह कि बहुत से विद्वान जो आदिवासी या जनजाति का तात्पर्य दूर घने जंगलों, पर्वतों में रहने वालों से लेते है वे ही उपर्युक्त प्रकार के तत्व बताते हैं लेकिन वास्तव में किसी भी एक तत्व का समस्त जनजातियों में पाया जाना उतना ही कठिन है जितना समस्त तत्वों का एक जनजाति में पाया जाना, फिर दूसरी बात यह है कि भारत की जनजातियों में क्षेत्रीय आधार पर भी भेद पाया जाता है। यही कारण है कि एक विशेषता सब जगह लागू नहीं होती और सब विशेषताएं एक जगह लागू नहीं होती। समानता न होना भी उनकी विशेषता है अन्यथा एक जनजाति की संस्कृति को दूसरी से अलग किस आधार पर और क्यों माना जाएगा। कहा जा सकता है कि कोई भी एक जनजाति सांस्कृतिक रूप से किस अन्य जनजाति के समान नहीं होती। यह भिन्नता आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि तत्वों की ही नहीं वरन् स्तर और अवस्था की भी है। जिस तरह अभी तक कई जनजातियां खाद्य संग्राहक अवस्था में हैं तो कुछ जनजातियां नौकरीपेशा भी हैं। इसी भिन्नता को खलील अब्बास सिद्दिकी दर्शाते हैं उनके अनुसार – "संस्कृति के विचार से मध्य भारत के आदिवासी दक्षिण भारत के आदिवासियों की तुलना में अधिक उन्नत हैं। दक्षिण के आदिवासियों की तुलना में इनके रहन–सहन का ढंग कम प्राचीन है। दक्षिण भारत के आदिवासियों की तरह ये यायावर नहीं हैं अपितु बस्तियां बसा कर रहते हैं उनका जीवन आहार संग्रह और शिकार पर ही निर्भर नहीं करता अपितु उनके जीवन यापन का महत्वपूर्ण साधन कृषि भी है पर खेती का ढंग कुछ और ही है। आर्थिक विचार से मध्य भारत के आदिवासी दक्षिण भारत से श्रेष्ठ व समुन्नत हैं। दक्षिण भारत के आदिवासियों की तुलना में इनका जातीय संगठन अधिक अच्छा व श्रेष्ठ है। इन कबीलों ने वृक्ष के पत्तों का वस्त्र पहनना छोड़कर कपड़ा पहनना शुरु कर दिया, इस क्षेत्र के आदिवासी शारीरिक दृष्टि से भी हृष्ट–पुष्ट व गठीले होते हैं।"[10]

इनके साथ ही घुमक्कड़ जनजातियों की भी संस्कृति अपने आप में विशिष्ट होती है। उनकी अपनी मान्यताएं, विश्वास, अपना धर्म, अपना आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक संगठन होता है। घुमक्कड़ जनजातियों में भी वे जनजातियां जिनका संपर्क तथाकथित सभ्य समाज से अधिक हुआ है उनकी संस्कृति अपनी साथी जनजातियों से भिन्न हो गई है। इसी घुमक्कड़ वृत्ति के कारण ब्रिटिश काल में इन्हें अपराधी जनजातियां घोषित कर दिया गया था। अपराधी जनजातियां अपने आप में कोई विशिष्ट जनजातियां नहीं हैं बल्कि ब्रिटिश काल में यह विशेष नाम देकर इन्हें अन्य जनजातियों से अलग कर दिया गया था वरना भील भारत की प्राचीनतम जनजातियों में से एक है। तथाकथित सभ्य समाज का संपर्क इनके लिए सांस्कृतिक विघटन का कारक बन कर आया है। ये अपनी भाषा, व्यवसाय तथा रीति–रिवाज खो रहे हैं। इन घुमक्कड़ जनजातियों में तथाकथित सभ्य समाज के संपर्क के कारण अन्य विशेषताएं आईं। इनकी मान्यताएं, विश्वास, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक जीवन पर पड़ौसी समाज का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है दूसरी तरफ इनको अपनी आजीविका ही नहीं वरन् अनेक अन्य कार्यों के लिए भी पड़ौसियों पर निर्भर रहना पड़ता है इसी कारण संपर्क बढ़ता गया और सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ।

इस प्रकार भारत की जनजातियों में प्रत्येक की अपनी भिन्न संस्कृति है, उन पर क्षेत्रीय प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसी प्रकार एक क्षेत्र की भी समस्त जनजातियों की संस्कृति समान नहीं है। घुमक्कड़ जनजातियों और जंगल में बसने वाली जनजातियों की भी संस्कृति भिन्न है। तथाकथित सभ्य समाज से संपर्क और उनके संपर्क से दूर रहने वाली जनजातियों की अपनी भिन्न–भिन्न विशेषताएं हैं और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन जनजातियों में भी सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहा है। इन सब भिन्नताओं के बावजूद "जनजातीय संस्कृति अपने आप में संपूर्ण संस्कृति हैं। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जनजातीय संस्कृति पर अगर दृष्टिपात किया जाए तो ऐसा लगेगा कि विभिन्न रूपों में एक ही संस्कृति पल्लवित और पुष्पित है।"[11] यही एक संस्कृति जनजातीय संस्कृति कहलाती है जो तथाकथित सभ्य समाज से अनेक रूपों में भिन्न है और विशिष्ट भी, फिर चाहे वह नारी की स्वतंत्रता संबंधी स्थिति हो या फिर भिन्न राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, विश्वास, पर्व, त्यौंहार, बलि, सामाजिक संगठन व परंपरा हो, वेशभूषा, अर्थव्यवस्था, भोजन, भाषा, आवास संबंधी भिन्नता हो।

नामकरण की समस्याः

आदिवासियों को भारत में विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। सामान्यतः इनके लिए वनवासी, आदिवासी, पहाड़ी, आदिम जाति, जनजाति, अनुसूचित जनजाति, मूलनिवासी आदि नाम प्रयुक्त होते हैं। विचारणीय तत्व यह है

कि क्या ये सारे शब्द पर्यायवायी हैं या इनका कोई भिन्न अर्थ है? इन शब्दों के निहितार्थ क्या है? कौन–सा शब्द जनजातीय समुदाय की समस्त विशेषताओं को समाहित करता है और साथ ही विभिन्न समयों (कालों) में प्रयुक्त नामों का आधार क्या है?

आदिवासी नाम संबंधी बहस वर्तमान काल की ही देन है और यह बहस कब शुरु होती है इस संबंध में प्रो. मैनेजर पाण्डेय बताते हैं कि "बीच के दौर में हिंदुस्तान में अनेक जातियों ने भारत का आदिवासी होने का आंदोलन चलाया, पंजाब में यह आंदोलन चला। उत्तर प्रदेश व पंजाब में दलितों ने यह आंदोलन चलाया कि वे हिंदुस्तान के आदिवासी हैं। इसी दौर में आदिवासियों को भी स्वयं को आदिवासी कहना ज्यादा पसंद आता था उनके अनुसार चूसने व लूटने वाले ये तथाकथित मुख्यधारा के लोग बाहर से आए हैं, आक्रमणकारी हैं।"[12] इस प्रकार भारत के प्राचीन निवासी और विदेशी आक्रांता की बहस शुरु होती है और सभी लोग अपने को भारत का मूल निवासी बताते हैं।

सवाल यह उठता है कि आदिवासी को वनवासी कहने से क्या फर्क पड़ता है? इसका कारण क्या है और निहितार्थ क्या है?

प्रो. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार – "जाहिर है कि आर्यों को भारत का मूल निवासी मानने वाले लोग उन्हें आदिवासी के बदले वनवासी कहना पसंद करते हैं। वस्तुतः वनवासी शब्द उनके प्रति किसी प्रेम का द्योतक नहीं है बल्कि एक खास राजनीतिक व भारतीय समाजव्यवस्था के इतिहास के प्रति विशेष दृष्टिकोण के कारण हुआ।"[13] यह विशिष्ट दृष्टिकोण पराजित जाति के प्रति विजेता जाति का दृष्टिकोण प्रतीत होता है। वनवासी कहने के पीछे शायद मूल यही हो कि वे बताना चाहते हैं कि हम विजेता हैं और हमने इन्हें जंगलों या वनों में भगाया है। वनवासी शब्द का तात्पर्य केवल वन में रहने वालों से ही नहीं है इसके पीछे निहितार्थ है कि ये जंगली, बर्बर, असभ्य लोग हैं। हरिराम मीणा इसके पीछे दुष्चक्र मानते हैं उनके अनुसार – "सतयुग, त्रेता, द्वापर काल खण्डों में आदिवासियों को असुर, दैत्य, दानव, राक्षस, प्रेत न जाने क्या–क्या संज्ञाएं देकर मनुष्य जाति का होने से नकारते रहने का दुष्चक्र रचा गया और इस कलियुग में उनकी आदिवासी पहचान (इण्डीजीनस आइडेंटिटी) को नष्ट करने के लिए उन्हें जनजाति या वनवासी कहकर उनके मौलिक स्वरूप को ही तिरोहित करने का बकायदा सरकारी ऐलान किया है।"[14]

आदिवासी कहने से क्या मिलता है? आदिवासी शब्द में क्या खास बात है? क्यों आदिवासी स्वयं को आदिवासी कहलाना पसंद करते हैं और क्यों लोग उन्हें आदिवासी न कहकर वनवासी कहना अधिक रुचिकर महसूस करते हैं?

आदिवासी का अर्थ होता है प्राचीन निवासी या मूल निवासी। जब आदिवासी कहा जाता है तो सीधे तौर पर सवाल उठता है कि फिर कौन आदिवासी नहीं है, अर्थात् बाहर से आया हुआ कौन है? आदिवासी कहने से अपना इतिहास, अपनी परंपरा होती है और सबसे बड़ी बात यह है कि जब उन्हें आदिवासी कहा जाता है तो तात्पर्य उनके हक से होता है, संस्कृति के निर्माण में उनकी भागीदारी से होता है वनवासी कहकर संस्कृति के ठेकेदार उन्हें इस चीज से दूर करते हैं। आदिवासी कहने का तात्पर्य होता है अपनी संस्कृति, अपनी परंपरा, अपना देश, अपनी जमीन, अपने पुरखे, अपना इतिहास, अपना अधिकार, अपनी विरासत।

आदिवासियों के लिए जो तीसरा शब्द चलता है वह है जनजाति। जनजाति ट्राइब का अनुवाद माना जाता है। यह शब्द अंग्रेज सरकार द्वारा इन्हें दिया गया था। इसी ब्रिटिश काल में अपराधी जनजाति भी नाम दिया गया और आजादी के बाद इन्हें अनुसूचित जनजाति, अधिसूचित जनजाति और विमुक्त जनजाति कहा गया। ब्रिटिश काल में दिया गया अपराधी जनजाति नाम एक कलंक की तरह है जिसके कारण निर्दोष लोगों को जन्म के कारण ही अपराधी घोषित कर दिया जाता था अर्थात् अपराधी जनजाति में पैदा हुए समस्त बच्चे बिना अपराध किए ही अपराधी मान लिए जाते थे। इस तरह अपराधी जनजाति कोई विशिष्ट प्रकार नहीं है वरन ब्रिटिश काल में दिया गया नाम है जिससे इन्हें मुक्ति आजादी के बाद मिली।

स्वतंत्रता के उपरांत भी इनके लिए आदिवासी की बजाय संविधान में जनजाति शब्द ही प्रयुक्त किया गया। ललिता प्रसाद विद्यार्थी के अनुसार – "1871 से 1931 की जनगणना तक जनजातियों के नामकरण संदर्भों में उत्तरोत्तर संशोधन होते रहे जैसे आदिवासी अथवा दलित वर्ग। 1941 की जनगणना में इन विशिष्ट विशेषणों को त्याग दिया गया। स्वतंत्रता के बाद अनुसूचित जाति व आदिवासी अभिप्राय ग्रहण करने की प्रक्रिया चलती रही।"[15]

सवाल यह उठता है कि इनके लिए सर्वाधिक उपयुक्त नाम कौन सा है? और साथ ही जनजाति शब्द इनकी संपूर्ण विशेषताओं को दर्शाता है या नहीं। जनजाति शब्द को न तो संविधान में परिभाषित किया न किसी अन्य स्थान पर संतोषजनक परिभाषा मिलती है। "सामान्य लोगों के लिए साधारण लोग जो पहाड़ों, वनों में रहते हैं, जनजाति की जानकारी रखने वालों के लिए नृत्य, गान हेतु प्रसिद्ध, प्रशासन के लिए नागरिक समूह जो राष्ट्रपति का विशेष दायित्व है।"[16]

ममता चौधरी संस्कृत जन शब्द को जनजाति का समानार्थी मानती हैं – "संस्कृत शब्द जन वे समस्त तत्व रखता है जो ट्राइब हमें अर्थ बताता है। पाणिनी के अनुसार जन का अर्थ परिवारों का संयुक्त समूह (कुल) होता है। कई परिवार अपने को गोत्र रूप में संगठित करते हैं जैसे क्षत्रिय। यह (गोत्र) एक निश्चित प्रदेश

में रहने लगे। समान जनपद के नागरिक समजनपद कहलाए। इस तरह भरत जिस प्रदेश में स्थिर हुए उसका नाम भारत पड़ा।"[17] इस प्रकार जनजाति शब्द का भी कोई विशिष्ट अर्थ नहीं है और साथ ही संस्कृत का जन शब्द वर्तमान जनजाति से विस्तृत है इसके अनुसार तो समस्त जातियां जनजातियां हैं।

इन समस्त नामों पर विचार करने पर आदिवासी नाम ही सार्थक प्रतीत होता है क्योंकि ये जनजातियां ही भारत की प्रारंभिक निवासी हैं। कुछ विद्वान कोलारियन शाखा को प्राचीन मानते हैं, कुछ द्रविड़ को और कुछ नीग्रीटो को (रसेल)। लेकिन इतना निश्चित है कि चाहे दो भागों में विभक्त जनजातीय परिवार कोलारियन (हो, मुण्डा, भूमिज, संथाल आदि) और द्रविड़यन हो या उससे पूर्व के नीग्रीटो (जिन्होंने विद्वानों के अनुसार अपना निशान इस धरती पर नहीं छोड़ा) हो, भारत के मूल निवासी वे ही थे। वर्तमान आदिवासी द्रविड़ और कोलारियन की ही संतानें हैं और चाहे वह भील, संताल, गोंड हो या फिर अन्य छोटी जनजातियां। विभिन्न समयों में आक्रांतों द्वारा इन्हें इनकी जमीन से पदच्युत किया गया। उन्हें या तो जंगल, पर्वत आदि दुर्गम स्थानों में शरण लेनी पड़ी या दासत्व स्वीकारना पड़ा। इसी कारण ये जनजातियां दुर्गम स्थानों में चली गईं। जो तथाकथित सभ्य समाज से दूर रही वे अपनी संस्कृति को अभी भी बचाए रख सकी है लेकिन जिन जनजातियों का संपर्क तथाकथित सभ्य समाज से हुआ चाहे कारण आर्थिक रहा हो या विजेता जाति द्वारा बलात् हो उन्होंने ऐसा व्यवसाय अपना लिया जो उन तथाकथित सभ्य समाज की सेवा या मनोरंजन से संबंधित हो। इसी कारण उनकी संस्कृति का भी ह्रास हुआ है। इसके बावजूद भी हैं तो वे भारत के आदिवासी ही चाहे सांस्कृतिक संपर्क के कारण वे तथाकथित सभ्य समाज के निकट प्रतीत होते हों। इनको वनवासी कहकर इनकी मूल पहचान को तिरोहित नहीं किया जा सकता फिर वनवासी केवल वनों में रहने वाले ही हैं तो फिर पहाड़, रेगिस्तान की जनजातियों को क्या नाम दिया जाएगा। आदिवासी नाम ही सर्वाधिक उचित व सार्थक है।

आजाद भारत में इन्हें अनुसूचित जनजाति, अधिसूचित जनजाति, विमुक्त जनजाति आदि नाम दिए गए। ब्रिटिश काल की अपराधी जनजातियों को इस समय नया नाम देने की प्रक्रिया शुरु हुई – "1952 में आदतन अपराधी एक्ट पास हुआ जिसके बाद इन्हें आदतन अपराधी माना गया फिर अपराधी जनजाति अधिनियम को समाप्त कर इसके अधीन आने वाली समस्त जनजातियों को विमुक्त और पूर्व अपराधी कहा गया। 1953 में पिछड़ा वर्ग आयोग की रिपोर्ट और अपराधी शब्द पर नकार के चलते इनको इसके बाद अधिसूचित जनजाति कहना उचित समझा गया।"[18] इन विभिन्न नामों की अपनी कोई सार्थकता या औचित्य नहीं है क्योंकि सभी जनजातियां ही मानी गई हैं और दूसरी बात यह है कि अनुसूचित जनजाति के अलावा अन्य सूची का औचित्य क्या है, क्या अनुसूचित और अधिसूचित जनजाति में

किसी प्रकार का सांस्कृतिक अंतर है। वास्तव में यह सरकारी नामकरण है जिसके पीछे यथोचित कारण प्रतीत नहीं होता। इस सूची के संबंध में ही विचारणीय यह है कि सरकारी तंत्र द्वारा बनाई गई इस अनुसूचित जनजाति की समस्त जनजातियां आदिवासी नहीं हैं और बहुत–सी जनजातियां इस सूची में आने से रह गई हैं।

सवाल यह उठता है कि क्या अनुसूचित जनजाति में आनेवाली जनजातियां आदिवासी हैं या फिर उसका भिन्न आधार है? रत्नाकर भेंगटा के अनुसार – "किसी समुदाय को जनजाति के तौर पर परिभाषित करते समय भौगोलिक अलगाव, विशिष्ट संस्कृति, आदिम विशेषताओं, आमजन से मिलने में संकोच तथा आर्थिक पिछड़ेपन जैसी बातों का ध्यान रखा जाता है तथापि भारत के संविधान में आजादी के बाद की संवैधानिक सूची में जिन आदिवासियों को सम्मिलित किया गया उसमें पर्याप्त असंगतता व गड़बड़ियां हैं।"[19]

संविधान में जनजाति शब्द को न तो परिभाषित किया गया न किसी स्थान पर संतोषजनक परिभाषा दी गई है। संविधान में जनजाति शब्द को उस सीमा तक परिभाषित किया है कि अनुसूचित जनजातियां – "ऐसी जनजातियां है जो जनजातीय समूह या समूहों का एक भाग या समूह है जिसे राष्ट्रपति सार्वजनिक सूचना से स्पष्ट कर सकता है। (अनु.342) इस अस्पष्टता के कारण किसी भी जनजाति को अनुसूचित जनजाति की सूची में रखने के समय समस्याओं या भ्रांतियों का सामना करना पड़ता है।"[20]

इस सूची में समय–समय पर संशोधन किए जाते रहे लेकिन 1968 में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा तथा गोवा, दमन दीव आदि में पांच–पांच जनजातियों को अनुसूचित जनजाति में शामिल किया गया। सवाल यह उठता है कि क्या ये जनजातियां पहले उन प्रतिमानों पर खरी नहीं उतरती थी और क्या ये पहले जनजातियां नहीं थीं? "1950 तथा 1960 में अनुसूचित जनजाति की सूची तैयार करने में जनजातियों के पिछड़ेपन तथा प्राचीन होने की जांच की गई इन सूचियों पर लोकसभा में तथा बाहर भी असंगत होने का आरोप लगाया गया।"[21] इतना ही नहीं "जनगणना में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां गैर आदिवासियों को अनुसूचित जनजातियों की सूची में लिया गया है। इसके विपरीत कई जगहों पर आदिवासी समुदायों को अनुसूचित जनजातियों के रूप में सूचीबद्ध नहीं किया गया है।"[22] इसके साथ असंगतता का प्रमाण यह भी है कि एक ही समुदाय भिन्न–भिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न स्थिति में है। उदाहरणार्थ बंजारा। आंध्रप्रदेश, बिहार, झारखंड में ये अनुसूचित जनजाति, दिल्ली, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश में अनुसूचित जाति और राजस्थान में अन्य पिछड़ा वर्ग तथा उत्तरांचल, उत्तर प्रदेश में सामान्य कोटि में है। क्या इनकी प्राचीनता भिन्न–भिन्न राज्यों में भिन्न हैं? या फिर कोई अन्य कारण है।

इस प्रकार अनुसूचित जनजाति समस्त जनजातियों का प्रतिनिधित्व नहीं करती और ना ही जनजाति शब्द इनकी मूल पहचान को प्रतिपादित करता है। अतः आदिवासी शब्द ही सार्थक है।

इतिहास में जनजातियां और जनजातियों का इतिहास

वर्तमान के निर्माण में अतीत का महत्वपूर्ण योगदान होता है। कालचक्र में प्रत्येक घटना इतिहास बनती चली जाती है और इतिहास ही वह आधार है जो वर्तमान को निर्मित करता है। आदिवासियों की अतीत में स्थिति क्या रही है? इनका अपना इतिहास क्या है और साथ ही आदिवासियों के इतिहास की आवश्यकता क्या है इन प्रश्नों पर इस प्रसंग में विचार किया जाएगा।

आदिवासियों के इतिहास की आवश्यकता इस कारण है कि इनको अपनी ऐतिहासिक स्थिति का ज्ञान होना चाहिए साथ ही तथाकथित सभ्य समाज द्वारा इन्हें उपेक्षित रखे जाने के षडयंत्र का भी पर्दाफाश होना चाहिए। आदिवासियों के इतिहास पर अगर दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनका इतिहास प्रथमतः तो क्रमबद्ध रूप में मिलता ही नहीं है और दूसरे इनको इतिहास में सदैव राक्षस, पिशाच आदि बताकर इनके मानव होने पर भी सवाल उठाए गए या फिर कह सकते हैं कि भिन्न–भिन्न जनजातियों, राक्षस, पिशाच, दैत्य–दानव आदि को क्रूरता व बर्बरता का पर्याय घोषित कर दिया गया।

क्रमबद्ध इतिहास के अभाव में हमें मिथकों, लोककथाओं, जनश्रुतियों के साथ–साथ पौराणिक आख्यानों पर आश्रित होना पड़ता है जिनके माध्यम से हम इनकी ऐतिहासिक स्थिति का विश्लेषण कर सकते हैं जिसमें ये सदैव शत्रु, पराजित और मानवेतर के रूप में चित्रित किए गए हैं।

आदिवासियों के इतिहास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा सकता है – 1. ब्रिटिश पूर्व, 2. ब्रिटिश काल, 3. स्वातंत्र्योत्तर काल।

ब्रिटिश काल को इस विभाजन का आधार इस कारण माना गया है कि एक तो उस समय से इनका इतिहास स्पष्ट रूप से मिलता है और दूसरे यह जनजातियों के लिए क्रूरता का काल भी रहा जब इन्हें अपराधी (जन्मजात) नाम देकर इनके वर्तमान, भूत और भविष्य पर एक साथ एक ऐसा तमगा लगा दिया गया जिससे वे आज तक भी मुक्त नहीं हो पाए हैं। राजस्थान के जनजातीय जीवन के अंतर्गत अगर इतिहास पर चर्चा की जाए तो प्रथमतः तो राजस्थान की जनजातियों का इतिहास इससे भिन्न नहीं है और इसी के साथ प्राचीन काल में यह भेद करना भी कठिन था कि कौन सी जनजाति राजस्थान की है और कौन सी नहीं।

1. ब्रिटिश पूर्व

ब्रिटिश पूर्व का इतिहास पराजित और पलायनकर्ता जाति का इतिहास है अर्थात् इस समय इनकी स्थिति पराजित की थी। बाहरी आक्रांताओं द्वारा समय–समय पर किए गए आक्रमण, युद्ध व अत्याचारों से पीड़ित होकर इन्होंने दुर्गम स्थानों में पलायन किया और जिन्होंने पलायन नहीं स्वीकारा उनको दास की तरह जीवन बिताना पड़ा।

वैदिक काल में आर्यों के आने से पूर्व यहां मुण्डा और अन्य सगोत्री जनजातियों ने अधिकार कर रखा था। आर्य जब यहां आए तो उन्होंने यहां के भिन्न संस्कृति के लोगों को दस्यु कहा जिसका तात्पर्य अनार्य था, आर्यों से भिन्न। वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि सभी यहां पर विभिन्न जनजातियों के अस्तित्व के सूचक हैं। "संस्कृत साहित्य में इनका उल्लेख 1. निषाद, सबर, कोल, भील, 2. कीरात, 3. दास, दस्यु, शूद्र, द्रविड़ और द्रविड़ के रूप में आता है।"[23] वैदिक साहित्य में प्रयुक्त वर्ण शब्द रंग का सूचक था। उस समय दो वर्ण प्रमुख थे आर्य वर्ण और दास वर्ण। दस्युओं का रंग काला था। इसी भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के दौरान कम शक्तिशाली शूद्र वर्ण पराजित होता है और इन्हें भगाया जाता है। "सामान्यीकृत दृष्टिकोण से यह दो तरह की मानव प्रजातियों के मध्य युद्ध था, दो सभ्यताओं के बीच का संघर्ष जो लंबे अर्से तक चला, संग्राम व संधियों के दौर के साथ अनेक चरणों में। 'पवित्र' हिंदू शास्त्रों ने इसे नाम दिया सुरासुर संग्राम, देवदानव युद्ध, धर्म–अधर्म के बीच लड़ाई वगैरह–वगैरह।"[24]

ऋग्वेद में भी जनजातियों का उल्लेख मिलता है। यहां दस्युओं का उल्लेख आर्यों के शत्रुओं या बाधकों के रूप में है। इंद्र से दस्युओं को समाप्त करने की प्रार्थना की गई है और उसकी विजयों का भी उल्लेख है कि उसने दस्युओं को नष्ट कर आर्य वर्ण को जमीन बांट दी। राक्षस अन्य उपाधि थी जो उस समय जनजाति को दी गई। जिसका तात्पर्य था शक्तिशाली, ताकतवर। वर्तमान में हिंदुओं में इसका तात्पर्य है बर्बर, क्रूर। आर्यों के लिए दस्यु का तात्पर्य था जो धार्मिक कार्यों में विघ्न पहुंचाए। शतपथ ब्राह्मण में राक्षस बलि के बाधक के रूप में आते हैं।

"मनु ने जो आर्यावर्त का विवरण दिया उसके अनुसार इस भूमि के पीछे म्लेच्छों (विदेशियों) की धरती है। उसने बताया कि इस आर्यावर्त में तीन जातियां (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) स्थायी रूप से निवास कर सकती हैं लेकिन शूद्र जो जीवन के लिए पीड़ित हैं वे चाहे जहां थोड़े समय के लिए डेरा डाल सकते हैं – अगर कुछ क्षत्रिय या अन्य जातियों के राजा म्लेच्छों को हरा दे और चार जातियों को अपने साम्राज्य में स्थापित करे और म्लेच्छों को भी उसी तरह स्वीकार करे जैसे हारे हुए चाण्डाल (जैसा आर्यावर्त में है) तब वह देश भी बलि हेतु उपर्युक्त हो जाएगा

क्योंकि जमीन स्वयं में अपवित्र नहीं होती वह केवल संपर्क से ही ऐसी होती है।"[25] इस प्रकार "यही वह भूमि है जहां के मूल निवासियों को युद्ध, हिंसा, आतंक द्वारा जबरन दास बनाया गया या फिर खदेड़ कर बेदखल किया गया। यह सिलसिला लंबे अर्से तक चला। ... मूल निवासियों का वह हिस्सा दबोच लिया गया। उन्हें शूद्र बनाया गया, दास या सेवक बनाया गया अर्थात् साधारण मानव जीवन जीने की बजाय मनुष्य श्रेणी से नीचे जानवर से भी बदतर जिंदगी गुजारने हेतु विवश कर दिया।"[26]

इस प्रकार जो लोग पराजित हुए वे या तो वहां से भगा दिए गए अथवा चौथे वर्ण के रूप में स्वीकार कर लिए गए जिन्हें किसी भी तरह की कोई सुविधा न देकर सेवा–सुश्रुषा का कार्य सौंपा गया उन्हें दास बनाया गया। वे मजदूर, बुनकर, चमार आदि के रूप में निम्नतम सामाजिक संगठन बनाते हैं। "जो जनजातियां पृथक अस्तित्व बनाए हुए थी वे इस रूप में दास नहीं थे अपने गांव में जंगल में अधिकार किए हुए थे। शायद यही कारण था कि इन्हें अछूत जातियों से कुछ उच्च स्थान दिया गया यद्यपि वे स्वयं को (गाय का मांस खाकर) अपवित्र किए हुए थे।"[27] इसी प्रकार "ऐतरेय ब्राह्मण, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, पाराशर साहित्य के अनुसार ज्यादातर दस्यु जनजाति विश्वामित्र के छोटे शापित पुत्र की संतान थे।"[28] इस प्रकार दस्यु आदि जनजातियां एक तरफ पराजित जातियों से मिलकर बनी थी साथ ही जातिच्युत लोग भी इसमें शामिल किए गए इसी कारण इसका स्तर हीन माना गया।

महाकाव्य काल में रामायण और महाभारत में भी जनजातियों का उल्लेख मिलता है। रामायण में बताया गया है कि "केवल दो समुदाय थे उस समय आर्य और अनार्य। अनार्यों में मुख्य जनजाति राक्षस व वानर थी दोनों दक्कन के मूल निवासी थे। अन्य जनजातियों में निषाद, सबर, यक्ष, नाग, गृधराज भी थे। राक्षस श्रीलंका व दक्कन के प्रारंभिक निवासी थे। नस्ल के आधार पर ऋग्वेद के दस्युओं के समान थे। वानर भी अनार्य पर्वतवासी जनजाति थी। निषाद ने राम को गंगा पार करवायी। गृधराज और सुपर्ण ये भारत की घुमंतू जनजातियों के थे। गृधराज पश्चिम घाट व पश्चिम सागर के निवासी थे साम्पति व जटायु द्वारा शासित। शबरी भी सबर जनजाति की थी। कोल इसे माता मानते हैं।"[29]

महाभारत में भी इनका वर्णन मिलता है जहां युद्ध में मुण्डा कौरवों की सेना में सहायक थे। शिव कीरात का रूप धारण करते हैं।

इस प्रकार वैदिक काल व महाकाव्य काल तक आर्य विरुद्ध जनजातियां आर्यों की वर्णव्यवस्था में या तो चतुर्थ सोपान पर रखी गयी थी या फिर दुर्गम स्थानों में धकेल दी गई थी। इस काल में उनका क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता, महाकाव्यों तथा विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में इनका उल्लेख अवश्य मिलता है उसी के आधार पर

उस समय के इनके इतिहास और इतिहास में हीनतर स्थिति को ज्ञात किया जा सकता है जहां इन्हें सदैव पराजित, म्लेच्छ, दुष्ट, बर्बर व क्रूर के रूप में प्रस्तुत किया गया है फिर भी यह काल संघर्षों का काल रहा था।

ऐतिहासिक काल खण्ड से पूर्व जनजातियों को या तो आर्यों से समझौता करना पड़ा या पलायन। हिंदू शासन की लंबी शताब्दियों और हिंदू पड़ौसियों से जनजातियों ने स्वयं को हिंदू संस्कृति के बहुत सदृश किया। इस कालखंड में हिंदू संपर्क और वर्ण व्यवस्था में इनके स्थान को देखा जा सकता है। जो इनकी निरंतर निम्न से निम्नतर स्थिति का द्योतक है। धूरिए लिखते हैं कि "लगभग सभी आदिवासी जनजातियां हिंदूकृत हो गयीं थोड़े या बहुत रूप में क्योंकि वे लंबे अर्से तक महान हिंदुओं के संपर्क में रहे। धर्म व उत्थानकारी कर्म के संदर्भ में हिंदुओं के समान रुचि थी।"[30] "उत्तरवैदिक काल 1000 ई.पू. से 600 ई.पू. हिंदूवाद के उद्भव, जनजातियों के आर्यीकरण और आर्यों के जनजातीयकरण की दोहरी प्रक्रिया के चलते रहने से लक्षणान्वित है।"[31] आर्यों के जनजातीयकरण से तात्पर्य जातिच्युत आर्यों को शूद्र मानने से है। यद्यपि अशोक ने अपने शासनकाल में जनजातियों को शरण देने का आश्वासन दिया लेकिन उससे पूर्व अजातशत्रु ने वैशाली जनजातीय गणतंत्र को नष्ट कर दिया था। सिकंदर ने उत्तर पश्चिम सीमा पर जनजातियों का सफाया कर दिया। "धम्मसूत्र (600 ई.पू. से 300 ई.पू.) तथा मनुस्मृति (200 ई.पू. से 200 ई.) संविलयन की प्रक्रिया अपनाते रहे। ये मिश्रित जनजातियां एक जाति के पुरुष व दूसरी जाति की स्त्री से उत्पन्न संतान थी। इनमें से कुछ ब्राह्मणीकृत जनजातियां जिन्हें मिश्रित जनजाति नामपत्रित किया गया निषाद थी। इस काल में उन्होंने अपनी प्रारंभिक स्थिति खो दी। ये आखेट कर जीवनयापन करने लगे। मेदा, आंध्र, चेन्चू, वन्य पशु शिकार करते थे। कसाहलम्, उर्गा, पुल्कस पशु–पक्षी मारते थे। सरेधा नौकरों व कुशल प्रशासकों का कार्य करते थे। वेरा नगाड़ा बजाते थे इसी प्रकार चाण्डाल जो एक और जनजाति थी हिंदू समाज में उसका संविलयन हो गया तथा उन्हें पशुओं व मनुष्यों के शवों को हटाने, अपराधियों के अंगों को काटने तथा कोड़े लगाने का काम दिया गया। इस प्रकार इन जनजातियों को हीन बनाने की प्रक्रिया चलती रही।"[32] इस प्रकार ऐतिहासिक कालखंड में भी हिंदू संविलयन और इनको हीन बनाने की प्रक्रिया निरंतर चलती रही। इसके साथ ही इस काल में आदिवासियों का आंतरिक विचलन भी हो रहा था। "छोटा नागपुर में छठी शताब्दी बी.सी. में स्थित होने से पूर्व बहुत से स्थानों पर रहते थे। आजमगढ़ इनका प्राचीन स्थान था। यहां से सभी जगह विस्थापित हुए। उत्तर भारत में बुंदेलखंड फिर पूर्वी राजस्थान से उत्तर परिश्चम भारत वहां से रूहेलखड, अवध से उत्तर बिहार फिर दक्षिण बिहार मगध और अंत में छोटा नागपुर।"[33]

राजपूतों के शासनकाल से पूर्व राजस्थान में भीलों व मीणाओं का शासन था लेकिन धीरे–धीरे इनको मूल भूमि से विस्थापित कर जंगलों में भगाया गया। भील मध्य और पश्चिम भारत की प्रभावी जनजाति थी जो उत्तर पश्चिम से मालवा आई। नाथ बताते हैं कि "रीवाकांठा में 1200–1300 ई. तक भील मुखिया का राज था लेकिन शुरुआती 1400 ई. में राजपूतों ने इन आदिवासियों को हटाकर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार मीणा हाड़ौती में राज्य करते थे किंतु बूंदी में मूल राज्य पर हाड़ों ने अधिकार कर लिया। बूंदी में हाड़ा ने देवा मीणा से यह राज्य छीनकर चौहानों के राज्य की नींव डाली। हाड़ौती में राजपूतों ने कोट्या भील को मारकर कोटा नगर बसाया, झालावाड़ में नोहर थाना प्रांत में भी भीलों का राज था। किशनगंज क्षेत्र में बसा भंवरगढ़ का किला मीणों का था। जला मीणा के बसाए जालौर पर भी मीणा प्रभुत्व था।"[34]

राजपूत काल में राजस्थान के मूल निवासियों का शासन समाप्त किया गया। यह प्रक्रिया राजस्थान के बाहर भी चलती रही जहां "ओरांव म्लेच्छों (विदेशियों) द्वारा भगाए गए। शायद आक्रामक चेर थे जिन्होंने अशोक पूर्व 271 बी.सी और गुप्त के बाद शासन किया। दक्षिण भारत में उराली के पूर्वज केरल के कुरुम्बा, कुरुमन या कुरम्वा को जो 8वीं ए.डी. सदी पूर्वार्द्ध तक प्रभावी थे। वे लोग, चालुम्य, चोल द्वारा बार–बार हटाए गए। अंत में चोल राजा ने उन्हें बिखरा दिया। इस प्रकार प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में जनजातियां विस्थापन कर रही थी।"[35]

मुगलों के भारत में स्थापित होने के बाद भी जनजातियों का इतिहास पलायन का ही रहा। 16वीं शताब्दी में मुगलों द्वारा इन्हें प्रताड़ित किया गया। छोटानागपुर के ओरांव तथा मुण्डाओं को मालगुजार बना दिया गया था। (1585 ए. डी. में) 1616 ई. में जहांगीर ने उन्हें कैदी बना लिया। पश्चिम भारत में भील मराठों और मुगलों द्वारा परेशान किए गए। इस्लाम में बहुत से भीलों का विलय किया गया। कर्नल टॉड के अनुसार – "भील अपने अंत समय तक लड़े प्रथमतः राजपूतों से और फिर मुगलों से। भील गहन से गहनतर मध्य भारत की पहाड़ियों व अरावली क्षेत्र में जाने लगे।"[36] जिस रीवां पर भीलों का अधिकार था वह 1400 ई. में राजपूतों के अधीन हुआ 1480 में वह मुगलों के अधीन हो गया। मुगलों के आक्रमण से अधीनता न स्वीकारने वाले राजपूतों ने आदिवासी क्षेत्रों की तरफ पलायन किया और आदिवासियों को वहां से भगाया।

मुगल शासन का अंतिम काल छोटे–छोटे विद्रोहों का काल था। इस काल में भीलों ने भी विद्रोह किया। "17वीं सदी के शुरु में भील व्यग्र लगे। बहुत से मुखियाओं के क्रूर शासन में और बहुत से क्षुद्र उपद्रवों द्वारा लूटने व घर जलाने का क्रम सारे भील प्रदेश में हुआ। भीलों के सशस्त्र बल लूटने में व्यस्त थे। भीलों के

साथ निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया गया इसी कारण वे पहाड़ों में चले गए।... 1800 ई. में होल्कर व सिंध के युद्ध के समय भील आए और इतने साहसी हो गए कि आतंक मचा दिया और राजनीतिक मुखियाओं के लिए बड़ी समस्याएं खड़ी की। 1780–1800 ई. का समय भीलों के उत्थान का समय था।"[37]

मुगलकाल में जनजातियों के धर्मपरिवर्तन की प्रक्रिया चलती रही। इसी समय भक्तिकाल में बहुत सी जनजातियां वैष्णव हो गई। जनजातियों पर राजनीतिक के साथ–साथ धार्मिक प्रभाव भी पड़ना शुरु हो गया। उनकी संस्कृति संपर्क के कारण प्रभावित होती जा रही थी। "भक्ति आंदोलन जैसे हिंदू धर्म की कतिपय धाराओं ने भी मुण्डा और ओरावं जैसी जनजातियों को प्रभावित किया।"[38] भीलों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। इसके पूर्व जनजातियों को हिंदू बनाने की जो प्रक्रिया चल रही थी भक्ति आंदोलन ने उसमें महत्वपूर्ण योगदान किया और उसी का कारण था कि कुछ जनजातियां वैष्णव बन गई। भीलों की कई शाखाओं ने मांस खाना छोड़ दिया। इस्लाम ने भी धर्मपरिवर्तन में योगदान किया। मेव मीणाओं की ही मुस्लिम शाखा मानी जाती है जिसने मुगल काल में इस्लाम स्वीकार किया। घुमक्कड़ जनजातियां इस धार्मिक दबाव के विरोध को ही अपनी घुमंतू प्रवृत्ति का मूल कारण मानती हैं। ज्यादातर घुमंतू जनजातियां स्वयं को राजपूत मानती हैं और अपनी उत्पत्ति राणा प्रताप से मानती हैं फिर चाहे गाडोलिया लुहार हो या अन्य। "इनका कहना है कि इस घुमंतू प्रवृत्ति के कारण ही न केवल उन्होंने स्वयं को बचाया वरन् हिंदू धर्म को भी इस्लाम से बचाया।"[39]

इस प्रकार मुगलकाल तक जनजातियों का इतिहास आक्रामकों द्वारा विस्थापित किए जाने, चतुर्थवर्ण में स्वीकार किए जाने और अत्याचारों का इतिहास है। राजपूतों ने इन्हें यहां से भगाया और राजपूतों को जब मुगलों ने पराजित किया तो फिर इन्हीं आदिवासियों को इनके स्थानों से एक बार फिर भगाया गया। इस प्रकार मुगलकाल तक का इतिहास राजनीतिक रूप से इसके सताच्युत कर भगाए जाने का इतिहास है, सामाजिक रूप से सामाजिक व्यवस्था में चतुर्थ सोपान पर स्थिर करने व हीन सामाजिक स्थिति का इतिहास है जिसमें ये निरंतर हीन से हीनतर बनाए गए। धार्मिक रूप से मुगलकाल तक का इनका इतिहास संविलयन का इतिहास रहा है प्रारंभिक काल में आर्यों ने इन्हें हिंदू बनाया। मुगलों के आने के बाद इन्हें मुस्लिम बनाया गया। सांस्कृतिक रूप से मुगलकाल तक का काल इनके लिए मूल संस्कृति को खोकर पड़ौसी जातियों की संस्कृति के प्रभाव का इतिहास है। ब्रिटिश काल में इनकी स्थिति परिवर्तित होती है जिसके पीछे कारण था मुगलों की सत्ता का पतन और छोटे–छोटे स्थानीय साम्राज्यों का उदय।

ब्रिटिश काल

मुगलकाल के अंतिम पड़ाव में अनेक स्थानीय शक्तियों का उदय हुआ। इसी काल में अनेक छोटे छोटे संघर्ष हुए और जनजातियां जो मुगलों के अधीन थी स्वतंत्रता की राह पर बढ़ी। ब्रिटिश शासन स्थापित हो जाने के बाद जनजातियों का आतंक बढ़ा। भीलों ने मुगल शासन के अंतिम समय में उपद्रव शुरु कर दिए थे, वे पहाड़ी इलाकों से आते और लूटमार कर वापस चले जाते। 17वीं सदी में वे उपद्रवी हो गए थे। 1800 ई. में स्थानीय मुखियाओं के लिए उन्होंने समस्याएं उत्पन्न की। ब्रिटिश सरकार ने इन ठगी व डकैती तथा लूटमार की घटनाओं पर निमंत्रण करने के लिए 1793 में मजिस्ट्रेट को अधिकार दिया कि वह क्रमबद्ध अपराध करने वाली घुमक्कड़ और संदेहास्पद जनजातियों को दण्ड दे सकता है।

19वीं सदी के प्रारंभ में ठगी व डकैती की घटनाओं में और अधिक वृद्धि हुई। 1839 ई. में इसे रोकने के लिए ठगी निरोधक कानून बनाया गया। बाद में 1860 में इण्डियन पेनल कोड तथा क्रिमिनल प्रोसेड्युर कोड, 1861 में उपर्युक्त शक्तियां समाहित कर दी गईं।

अंग्रेजों ने जनजातियों का शोषण उनके क्षेत्रों में जाकर तथा उनके धार्मिक क्रियाकलापों में हस्तक्षेप कर किया। इन्होंने भारत पर अधिकार करने के बाद आदिवासी क्षेत्रों में अपना अधिकार कायम करना चाहा। इसी प्रक्रिया के तहत उन्होंने इन क्षेत्रों में समय–समय पर प्रवेश किया लेकिन जब नियंत्रण करना चाहा तो स्थानीय शक्तियों द्वारा विरोध सहना पड़ा। जनजातियों के इस विरोधपूर्ण वातावरण को युद्धों का सामना करना पड़ा। दूसरी तरफ अंग्रेजों के साथ जनजाति क्षेत्रों में सूदखोर, ठेकेदार तथा धार्मिक गुट (ईसाई मिशनरी) का प्रवेश हुआ जिन्होंने इन्हें न केवल लूटा वरन् इनकी संस्कृति को सभ्यता के नाम पर नष्ट करने का प्रयत्न किया। ब्रिटिश सरकार ने जंगलों पर अधिकार कर लिया फलतः आदिवासियों को जंगल की उपज लेने से रोका गया उनको वहां से विस्थापित किया गया। इस प्रकार अंग्रेजी सरकार की नीतियों और सूदखोरों, महाजनों आदि के शोषणपूर्ण व्यवहार से दुःखी होकर जनजातियों ने विद्रोह करना आरंभ कर दिया। 1772 में मलपहाड़िया, 1795, 1800, 1801, 1807, 1808, 1816, 1821 ई. में अनेक विद्रोह हुए। 1831 में कोल विद्रोह हुआ जिसे शांत कर दिया गया। 1840 में खोंड, 1854 में संथाल, 1864–70 में धनबाद में नॉन रेग्युलेटिंग सिस्टम को बढ़ावा दिया गया। बाद में इन क्षेत्रों के लिए पृथक्करण की नीति पर बल दिया गया। 1887 का सरदारी विद्रोह 1895 में बिरसा आंदोलन, ताना भारत विद्रोह 1914, तथा भील विद्रोह 1879–80 इसी अंग्रेजों की नीति के विरुद्ध हुए।

इन्हीं समस्त विद्रोहों तथा जनजातियों पर नियंत्रण करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने ठगी व डकैती की आड़ में 1871 का अपराधी जनजाति अधिनियम बनाया। जिसमें बहुत सी जनजातियों को शामिल किया गया। अपराधी जनजाति अधिनियम ऐसा अधिनियम था जिसके द्वारा रातोंरात ही अनेक जनजातियों को जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया। जन्मजात अपराधी का तात्पर्य है कि किसी व्यक्ति ने कोई अपराध किया हो या न किया हो लेकिन चूंकि वह उस जाति में पैदा हुआ है इसी कारण उसे अपराधी मान लिया जाता। अपराधी जनजाति अधिनियम के पारित होने के पीछे विद्वानों ने मूल कारण अंग्रेजों द्वारा आदिवासी विद्रोह को दबाना और उन पर नियंत्रण करना बताया है। "1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेज सरकार भ्रम की स्थिति में थी। वह अनेक वर्गों को शंका की नजर से देखने लगी थी। इस मानसिकता या शंका के शिकार घुमक्कड़ लोग हुए या अनेक ऐसी जनजातियां जो जंगलों से प्राप्त खाद्य पदार्थों पर ही आश्रित थी और इसी कारण ब्रिटिश सरकार से टकराने को मजबूर थे। इन्हें ब्रिटिश सरकार अपराधी करार देने लगी। बंजारा, नट, फकीर व सैनिक टुकड़ियों (विघटित) को अपराधी जनजातियों में शामिल किया गया। धीरे–धीरे इस सूची में जनजातियों की संख्या बढ़ती गई। इसके लिए अपराधी जनजाति अधिनियम 1871 बनाया गया। बाद में इस सूची में बहेलिया, मछुआरे, सड़क पर घूम–घूम कर गाने वाले, तालाब बनाने की कला में पारंगत जातियों को भी शामिल किया गया।"[40]

इस नीति के तहत अंग्रेजों की नीतियों का विरोध करने वाले और विद्रोहियों की सहायता करने वालों को इस सूची में शामिल किया जाने लगा। उदाहरणार्थ संथाल परगना की धिकारोस जनजाति ने संथालों का प्रथम विद्रोह में साथ दिया। 1856 में दूसरा विद्रोह हुआ और 1857–58 में खरवार विद्रोह हुआ। 12 साल में ही अधिनियम पारित कर 1871 में धिकारोस जनजाति जो शस्त्र बनाती थी अपराधी करार दिया गया।

"घुमंतू जातियों द्वारा एक स्थान पर न रहना और किसी निश्चित व्यवसाय का न होना भी ब्रिटिश सरकार द्वारा शंका की दृष्टि से देखा जाता था। एक समूह जब चिह्नित कर लिया जाता तो उसके सदस्यों को अपराधी घोषित करने की बात आती ताकि उन्हें निगरानी में रखा जा सके साथ ही यदि सजा प्राप्त व्यक्ति है और उसका दूसरे समुदाय में खून का रिश्ता है तो अपने आप में यह अपराधी होने का प्रमाण माना जाता। अतः एक बार कोई अपराधी घोषित हो जाता तो उससे संबंध रखने वाले समुदाय अपराधी जनजाति की सूची में आ जाते।"[41]

1871 का अपराधी जनजाति अधिनियम ऐसा अधिनियम था जिसके द्वारा जातीयता पर आधारित भारतीय समाज में एक और जाति शामिल की गई। इस

अधिनियम के अंतर्गत "यदि स्थानीय सरकार के पास विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि कोई जनजाति गिरोह या व्यक्ति समूह योजनाबद्ध तरीके से गैर जमानती अपराध करने का आदी है तो वह कौंसिल के गर्वनर जनरल से रिपोर्ट कर सकती है तथा इस जनजाति गिरोह या व्यक्ति समूह के अपराधी जनजाति घोषित करने की प्रार्थना कर सकती है इस अधियिनम की धारा 1 से 20 (जो अपराधी जनजातियों को उनकी सीमा से बाहर जाने पर गिरफ्तारी से संबंधित थी।) पूरे भारत पर लागू थी।... इस अधिनियम के जनजातियों की संख्या 100 थी।"[42]

इस प्रकार 1871 का अधिनियम जनजातियों को जन्म के आधार पर अपराधी घोषित करता है तथा निश्चित सीमा क्षेत्र से बाहर जाने संबंधी रोक लगाकर एक प्रकार से आजीवन बंदी बना देता है। इस अधिनियम द्वारा इन्हें आजीवन अपराधी की जिंदगी जीने को विवश किया गया। जिसके कारण सामाजिक निम्नतर हुई। लोगों ने इन पर विश्वास करना बंद कर दिया। इस अधिनियम के अंतर्गत भील, मीणा, सांसी, नट, कंजर, बावरिया, गाड़ोलिया लुहार, कबूतरा आदि को शामिल किया गया था।

1897 में इस अधिनियम में संशोधन कर सुधार के नाम पर अमानवीय कृत्य को बढ़ावा देते हुए बच्चों को उनके माता–पिता से अलग करना शुरु कर दिया गया। इस समय स्थानीय सरकार को अधिकार दिया गया कि 4 से 18 वर्ष की आयु के बच्चों को माता–पिता से अलग रखा जाए और उनके आवासों को स्थायी किया जाए। "इन व्यक्तियों को तथाकथित सुधार के नाम पर कंटीले तारों की घेरेबंदी में रखा जाता था तथा ये कहीं भाग न जाएं इसलिए गार्ड रूम में दिन में कई बार हाजिरी देनी पड़ती थी। इन बस्तियों को सेटलमेंट कहा जाता था।"[43]

1911 में इसमें कुछ प्रावधान और जोड़े गए जिसमें इन जनजातियों के रजिस्ट्रीकरण और वयस्कों के फिंगरप्रिंट लिए जाने का प्रावधान था। स्थानीय सरकारों को ही अपराधी घोषित करने का अधिकार दे दिया गया। जनजातियों के स्थायीकरण (सेटलमेंट) की व्यवस्था करना भी स्थानीय सरकार का ही दायित्व माना गया। अपराधी प्रवृत्ति के लोगों को स्थान विशेष पर जाने से भी रोका जा सकता था। इस अधिनियम द्वारा बच्चों को माता–पिता से दूर करने की आयु 4 से बढ़ाकर 6 वर्ष कर दी गई।

"भारतीय कारागार कमेटी और कांफ्रेंस की रिपोर्ट के आधार पर 1923 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया। स्थानीय सरकारों को कहा गया कि इन जनजातियों का स्थायीकरण करें।' किसी भी अपराधी जनजाति को स्थायी करने और ब्रिटिश इण्डिया के सूबे से भारतीय राज्य (प्रांत) में प्रवेश या स्थानांतरित करने से पूर्व जांच करे।"[44] इस प्रकार एक प्रांत से दूसरे प्रांत या कहें एक पुलिस क्षेत्र से

दूसरे पुलिस क्षेत्र में इनको पुलिस सुरक्षा (देखरेख) में ही भेजा जाता था। जैसे ही किसी पुलिस क्षेत्र में इन जनजातियों का घुमक्कड़ समूह आता पुलिस द्वारा कुछ सिपाहियों को उन पर नजर रखने और अपनी निगरानी में पुलिस क्षेत्र पार कराकर दूसरे पुलिस सीमा क्षेत्र में पहुंचाने हेतु लगा दिया जाता। ये सिपाही इन पर नजर रखते और इन्हें अपनी निगरानी में दूसरे सीमा क्षेत्र तक पहुंचाते ताकि उनके सीमाक्षेत्र में अपराध की कोई घटना न हो।

1924 में पहले के समस्त अधिनियमों और प्रावधानों को समाहित करते हुए नया एक्ट पारित किया गया। "इस अधिनियम के अनुसार अपराधी घोषित करने के लिए अब ब्रिटिश गवर्नर जनरल की आज्ञा की आवश्यकता नहीं रह गई। इसमें अब तक घोषित जनजातियों की संख्या बढ़कर 180 हो गई।"[45]

1947 में जनजातियों में शिक्षा, कानूनी व्यवस्था व स्थायीकरण के कारण हुए सुधारों को दृष्टि में रखकर इन अपराधी जनजातियों के प्रति सहानुभूति का वातावरण बना तथा कुछ प्रावधान दूर करने का विचार किया गया। इसके तहत दूसरी–तीसरी बार अपराध में सजा कम बढ़ी हुई मिलती थी। यह भी माना गया कि एक जनजाति को संपूर्ण रूप से अपराधी कहना उचित नहीं है।

इस प्रकार ब्रिटिश काल में अंग्रेजों ने जनजातियों द्वारा किए गए विद्रोहों और विद्रोहियों को किए गए सहयोग के कारण इनको अपराधी करार दिया। इसी कारण अंग्रेजों ने इनके प्रति दमन की नीति अपनाते हुए 1871 के अपराधी जनजाति अधिनियम द्वारा बहुत सी घुमक्कड़ जनजातियों को (जिन पर अंग्रेजों को शक था) जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया जिसके द्वारा जहां एक तरफ अपनी स्वतंत्रता का हनन हुआ वहीं दूसरी तरफ उनकी सामाजिक स्थिति में गिरावट आई। अंग्रेजी सरकार ने इनके विद्रोह को दबाने के लिए ही इनको तथाकथित सभ्य समाज से अलग कर दिया ताकि राष्ट्रीय आंदोलन में इनका योगदान न हो। इसके लिए उन्होंने 1871 का अधिनियम तो पारित किया ही साथ ही प्रतिबंधित क्षेत्रों में भी इनको बांट दिया जहां पर दूसरे लोगों का (अंग्रेजों व ईसाई मिशनरी के अलावा) प्रवेश निषेध था। अंग्रेजों द्वारा पारित अपराधी जनजाति अधिनियम में जनजातियों की संख्या निरंतर बढ़ती गई। गवर्नर जनरल से अधिकार स्थानीय सरकार को दिया गया तथा सेटलमेंट और सुधार के नाम पर न केवल बच्चों को मां बाप से अलग कर दिया वरन् इन्हें कांटेदार बाड़ों में रखा गया जिसमें इनको आजीवन बंदी की जिंदगी व्यतीत करनी पड़ी।

अंग्रेजों का जनजातीय संस्कृति को नष्ट करने या शोषण का चक्र एकपक्षीय नहीं था। जहां एक तरफ उन्होंने 1919 व 1935 के अधिनियमों द्वारा प्रतिषिद्ध या निषिद्ध क्षेत्रों में इनको बांटकर आमजन से दूर रखा ताकि राष्ट्रीय आंदोलन में

इनका योगदान न हो साथ ही वहां केवल अंग्रेज व ईसाई मिशनरी के प्रवेश की अनुमति थी जिसके कारण इनका धार्मिक शोषण किया गया और सुविधा के नाम पर जबरदस्ती ईसाई बनाया गया। दूसरी तरफ उन्होंने इनकी संपत्ति और जीवन के आधार जंगलों पर अधिकार कर इनके वनोपज लेने पर रोक लगा दी अतः इनकी आर्थिक व्यवस्था भी चरमरा गई। सूदखोरों का इनके क्षेत्र में प्रभाव पड़ा फलतः ये कर्जदार हुए, इनसे भूमि छीन ली गई।

इस प्रकार अंग्रेजों ने इनके क्षेत्रों पर कब्जा किया इनके धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक जीवन के लिए खतरे उत्पन्न किए। जनजातियों को जन्मजात अपराधी घोषित किया और उनकी स्वतंत्रता और उनकी संस्कृति को नष्ट किया।

भारत की आजादी के बाद इनकी स्थिति में सुधार आया लेकिन वह आशावत नहीं था।

स्वतंत्र भारत में जनजातियों की स्थिति :

भारत 1947 में आजाद हुआ लेकिन ये जनजातियां मुक्त हुई 1952 में। स्वतंत्र भारत में यह अनुभव किया गया कि भारत की स्वतंत्र प्रतिष्ठा में अपराधी जाति जैसा अधिनियम असंगत है इस कारण इन जनजातियों को इससे मुक्त करने का विचार बनाया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1949 में भारत सरकार ने अपराधी जनजाति अधिनियम जांच समिति की स्थापना की। अनन्तस्वामी अयंगर की अध्यक्षता में जिसे दायित्व सौंपा गया कि वह रिपोर्ट दे कि इस अधिनियम को हटाया जाय या रूप परिवर्तन किया जाए। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर 1924 के अपराधी जनजाति को 1952 में रद्द कर दिया गया और आदतन अपराधी (आभ्यासिक दोषी) एक्ट पारित हुआ जो उन व्यक्तियों की जानकारी देता है जो आदतन अपराध में शामिल हैं। "यह आदतन अपराधी अधिनियम, आधारभूत मान्यता में बदलाव लाया अपराध के लिए उत्तरदायित्व समुदाय से सीधे व्यक्ति स्तर पर आया।"[46] इस अधिनियम को भंग करने के उपरांत जो पहले अपराधी जनजाति अधिनियम के अंतर्गत अधिसूचित थी वे विमुक्त और पूर्वअपराधी जनजाति में बदल गई।

1953 में पिछड़ा वर्ग आयोग गठित किया गया जिसने सुझाव दिया कि "इन जनजातियों को न तो अपराधी कहा जाए, न पूर्व अपराधी। इस तरह की कोई उपाधि इनके साथ न लगाई जाए। उनके अनुसार इन्हें केवल अधिसूचित जनजाति कहा जाए।"[47] अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा भी इसी तरह के सुझाव आए जिसके फलस्वरूप इन्हें अधिसूचित कहा जाने लगा। "कई प्रदेशों में आभ्यासिक अपराधी अधिनियम लागू कर इस जनजाति के लोगों को इस कानून के अंतर्गत

लाकर अलग–थलग रखा गया तथा यातना देना प्रारंभ किया जो आज भी जारी है।"[48]

"1969 में शीलू आओ की रिपोर्ट के अनुसार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन जनजातियों की मुक्ति हुई किंतु बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के इनको अलग श्रेणी में रखा गया। इनके पिछले अपराधी जनजाति अधिनियम 1924 की समाप्ति के बाद दिए गए पूर्व अपराधी नाम से मुक्ति दिलाई। इनको अधिसूचित जनजाति नाम दिया गया।"[49] इस प्रकार इनको आजादी के बाद भी विशेष श्रेणी में रखकर समाज से दूर किया गया। अधिसूचित जनजाति नाम दे देना और इस प्रकार की सूची बनाए रखने का औचित्य ही क्या था? अनुसूचित जनजाति में जिन जनजातियों को शामिल किया गया वे सभी पूर्व अपराधी नहीं थी लेकिन अधिसूचित या विमुक्त केवल पूर्व अपराधी जनजातियां ही थी। इस प्रकार के भेद की आवश्यकता क्या थी?

संविधान द्वारा जनजातियों को दस वर्ष तक विशेष सुविधा प्रदान की गई जिसके तहत सरकारी नौकरियों और अनेक क्षेत्रों में आरक्षण की व्यवस्था की गई। लेकिन इस हेतु निर्धारित अनुसूचित जाति और जनजाति की सूची में अनेक अनियमितताएं थीं। कुछ जनजातियां इसके योग्य न थी उनको इस सूची में शामिल कर लिया गया और बहुत सी जनजातियों को छोड़ दिया गया। उदाहरणार्थ नट, कंजर, सांसी आदि अपराधी जनजातियां थी और जिनका जीवन और अर्थव्यवस्था आज भी आदि ही है लेकिन उन्हें राजस्थान सरकार द्वारा अनुसूचित जाति की सूची में रखा गया। इतना ही नहीं एक ही जनजाति या समूह को अलग अलग राज्यों में अलग अलग सूचियों में स्थान दिया गया उदाहरणार्थ बंजारा जनजाति राजस्थान में अन्य पिछड़ा वर्ग में आती है तथा अन्य कई राज्यों में अनुसूचित जाति में तो कई में अनुसूचित जनजाति में। दूसरा तथ्य यह भी है कि इसमें सम्मिलित सभी जनजातियां लाभ नहीं उठा पाती कुछ खास जनजातियां ही इसका लाभ उठाए हुए है फलतः वर्ग की खाई बढ़ती जा रही है अमीर और अमीर हो रहा है और जनजातियों की स्थिति में खास सुधार नहीं आ रहा है। इससे स्पष्ट है कि जनजातियों के लिए निर्धारित सूची ही नहीं बल्कि उसका क्रियान्वयन भी असंगत है और कमियों से परिपूर्ण है। इसी प्रकार भारत सरकार द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों व योजनाओं द्वारा जो जनजातियों के कल्याण व विकास कार्यक्रम लागू किए गए थे सबने अपेक्षित लाभ नहीं दिया वे अपने लक्ष्य में असफल रहे।

"जनजातीय विकास कार्यक्रमों का आकलन करते समय दो विचार सामने आते हैं एक विचार के अनुसार जनजातियों के विकास का दर्शन, प्रयास बुरी तरह असफल हुआ, जबकि दूसरा विचार इस कार्यक्रम की आंशिक सफलता के प्रभाव पर दुख प्रकट करता है। आश्चर्यजनक बात यह है कि जनजातीय विकास कार्यक्रम के

Jawaharlal Nehru University Library
T-H-1961

क्रियान्वयन को एक सफलता मानने का साहस किसी में नहीं था।"[50] भारत सरकार द्वारा जारी किए गए अभिलेख में भी कहा गया – "जनजातीय विकास के नाम पर बहुत सा रूपया व्यय करने के पश्चात जनजातीय वर्ग को संविधान के अनुरूप सुरक्षा प्रदान करने में असफलता ही मिली है।"[51] इस प्रकार सूचियों की असंगतता के साथ–साथ प्रयासों में भी कमियां रहीं। विकास कार्यक्रमों की असफलता के साथ–साथ इन जनजातियों का शोषण भी कम नहीं हुआ वह निरंतर चलता रहा। पुलिस व प्रशासन द्वारा इन्हें अपराधी नाम से ही अभिहित किया जाता रहा। 4 मई 1998 में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने सामाजिक आर्थिक सुधार हेतु एक सलाहकार मण्डल का गठन किया जिसके अध्यक्ष ब्रह्मदेव शर्मा थे उनकी रिपोर्ट में कहा गया – "यह सोच से परे है कि समाज के लोगों का एक वर्ग जो इस उपमहाद्वीप के सर्वप्रथम निवासियों में से एक है तथा जनसंख्या का 6 प्रतिशत है इसे भुला दिया गया है और आजादी की अर्द्धशताब्दी बाद भी सम्मानजनक जीवन से इन्हें वंचित रखा जा रहा है। .... यद्यपि विरुद्ध नियम निरसित कर दिया गया है परंतु पुलिस का विमुक्त जातियों के प्रति दृष्टिकोण नहीं बदला है अपने प्रशिक्षण व अभ्यास के चलते इन जनजातियों को पुराने दृष्टिकोण से जन्मजात अपराधी नामित करते हैं।"[52]

मध्यप्रदेश के मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट भी इन्हें अपराधी करार देती है – "इन जनजातियों के लोग शुरु से ही अपराधी वृत्ति के रहे हैं, चोरी, डकैती में लिप्त रहे हैं। इन जातियों के पुरुष आज भी कई तरह के अपराधों में लिप्त रहते हैं और इनमें से अधिकांश देह व्यापार की दलाली का धंधा करते हैं और अपनी महिलाओं के लिए पैसे वाले ग्राहक ढूंढते हैं।"[53] इस प्रकार किसी खास जनजाति को वेश्यावृत्ति में लिप्त बताकर सारी जनजाति को वेश्या करार देना उस ब्रिटिश कानून के समान ही है जो एक आध अपराधी व्यक्तियों के चलते सारी जनजाति को अपराधी करार देता था। "मानव समुदाय के इस हिस्से को आज भी तथाकथित अपराधी जनजाति के रूप में जाना जाता है। कहीं चोरी होती, हत्या की वारदातें होती तो इनके हाथ होने की खबर छपती है। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री कहते हैं – 'जांच पड़ताल में साफ तौर पर पता चलता है कि यह कार्य उन जनजातियों का है जिन्हें ब्रिटिश काल में अपराधी घोषित किया जा चुका है।"[54] किन्हीं दो तरह के अपराध में एक ही जनजाति के लोग शामिल होने से सारी जनजाति अपराधी नहीं हो जाती। इस प्रकार भारत की आजादी के पचास वर्ष की समाप्ति के उपरांत भी ये जनजातियां उस काले कानून की गिरफ्त से नहीं बच पाई हैं। "आज भी इन्हें अपराध के लिए सामूहिक रूप से पीटा जाता है, हवालात में बंद कर दिया जाता है इनको छुड़ाने के लिए इनकी स्त्रियों को थाने जाना पड़ता है... बंगाल की खेरिया सबर जनजाति के बूधन तथा महाराष्ट्र की अपराधी जनजाति के पीन्या हरिकाले की पुलिस हिरासत में हुई मृत्यु किसी भी मानव हृदय को दहलाने वाली है।"[55]

दूसरी तरफ ये जनजातियां संसाधनहीन हैं और आजीविका के साधन विकसित नहीं कर पाई है। ब्रह्मदेव शर्मा रिपोर्ट 1998 के अनुसार – "विमुक्त जनजातियों को किसी प्रकार का संसाधन उपलब्ध नहीं है न उनके पास जमीन है न ही व्यावसायिक दक्षता, सिवाय कुछ लोगों के जो पत्थर तोड़ने या लोहे इत्यादि का काम करते हैं।"[56] इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था ज्र्जर हो चुकी है। न इनके आय के स्रोत हैं और न ही संसाधन। इनके जीवन में आजादी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, इनका जीवन पूवर्वत ही चल रहा है। जिस मुक्ति या आजादी की बात की जाती है जिसके तहत भारतीय नागरिक होने के नाते इनको समानता व स्वतंत्रता का अधिकार मिलना चाहिए था उसकी यथार्थ स्थिति का चित्रण रतन कात्यायनी करते हैं (राजस्थान के अरावली पहाड़ी क्षेत्र में बसी बस्ती का) – "इन कबीलाई लोगों के पास जमीन की कोई मूलभूत सुविधा उपलब्ध नहीं है। पीने के पानी के सवाल पर प्रतिदिन उत्पीड़न की घटनाएं बढ़ रही है। यहां इनके पास मताधिकार, राशनकार्ड, आवास का अधिकार, बच्चों की शिक्षा, सुरक्षा तथा पीने के पानी का पूर्णरूपेण अभाव सा बना है।... समुदायों में जन्म से बिखरे हुए लोग भारतीय होने के बावजूद नागरिक अधिकारों से वंचित रहकर देश की नागरिकता के लिए तरस रहे हैं। यही कारण है कि सरिस्का में हल्दीना गांव में बंजारों को बांग्लादेशी कहा गया बाद में उनके नेता की मृत्यु होने पर उसकी लाश को मिट्टी नहीं दी जाने दी गई फलतः उस शव को सिर पर लिए वे फिरते रहे ताकि उसे कहीं मिट्टी देने का अवसर मिले।"[57]

इस प्रकार भारत की आजादी के बाद भी जनजातियों की स्थिति में खास सुधार नहीं आया है वे आज भी अपराधी माने जाते हैं और साथ ही भारत की नागरिकता पाना भी उनके लिए कठिन है। उनको विकास के सोपान पर आगे बढ़ाने के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई, लेकिन उसमें भी असंगतता है जहां एक तरफ सूची ही असंगत है दूसरी तरफ विकास कार्यक्रमों का लाभ कुछ खास लोगों तक ही सीमित रह गया।

इस प्रकार जनजातियों का इतिहास क्रमबद्ध रूप से नहीं मिलता इसके लिए हमें पुराण, धार्मिक ग्रंथों, आख्यानों, श्रुतियों, लोककथाओं आदि को आधार मानना पड़ता है जब इनको आधार मानकर हम अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि आर्यों के आगमन अर्थात् वैदिक काल से ही इनको विजातीय माना गया और इनके साथ क्रूर व्यवहार किया गया इनकी शांत जिंदगी में व्यवधान उपस्थित कर इनको इनके मूल स्थानों को छोड़ने के लिए बाध्य किया गया जो नहीं भागे उनको संविलयन की प्रक्रिया द्वारा वर्ण व्यवस्था में चतुर्थ सोपान की जगह दी जिसका कार्य तीन वर्णों की सेवा करना तथा दास का जीवन बीताना था। अधिकांश जनजातियां ऐसी ही थीं जिनका कार्य सेवा व मनोरंजन तक सीमित था। एक और कार्य इन लोगों ने किया

जिसके तहत उन्होंने यहां की मूल जनजातियों को अपने ग्रंथों में और आख्यानों आदि में क्रूर, बर्बर, आक्रामक, भयावह आदि का पर्याय बनाकर प्रस्तुत किया अर्थात् इनके मानव होने पर सवाल उठाया गया और इन्हें पशुवत क्रूर माना गया। पराजित और हारी हुई जाति होने के कारण इनके साथ ऐसा किया गया। ऐतिहासिक काल खंड में भी यह धकेलने की प्रक्रिया जारी रही और इनको दुर्गम स्थानों की ओर धकेला गया। रामायण महाभारत आदि में भी इनकी छवि क्रूर, बर्बर आदि प्रस्तुत की गई। "सही तो यह है कि प्राचीन काल में सवर्ण हिंदुओं के पुरखों अर्थात् आर्यों ने आदिवासियों को समतलों से खदेड़ा और मध्यकाल, ब्रिटिशकालीन दौर में उन्हें पर्वतीय क्षेत्रों में भी परेशान किया जाता है। मुस्लिम आक्रमण के दौर में विशेष रूप से मुगलकाल खंड में आदिवासियों की पारंपरिक शासन व्यवस्था को ध्वस्त किया गया। राजस्थान के मीणा राज्यों व भील शासित प्रदेशों यथा ढूंढाड़ (अजमेर), अलवर, मांची, कोटा, न्हाण, बूंदी, डूंगरपुर बांसवाड़ा इसके उदाहरण है। यह सारा अंचल अरावली श्रृंखला में आता है।... ब्रिटिश काल में यही काम अंग्रेजों ने रियासती रजवाड़ों से मिलकर वन–पर्वतों के आदिवासी अंचलों में खुली घुसपैठ करके किया। यही काम स्वतंत्र भारत के शासक देशी–विदेशी निजी कंपनियों से मिलकर कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि जैसे आदिवासियों को खदेड़ते, मारते रहने का क्रम अतीत से अब तक टूटा ही नहीं है।"[58] ब्रिटिश काल का अपराधी जनजाति अधिनियम इनके इतिहास पर लगा वह बदनुमा दाग है जिससे ये आज भी उबर नहीं पाए हैं और स्वतंत्रता के उपरांत भी इन्हें किसी खास सुविधा का लाभ नहीं मिल पा रहा है और ये आदिकाल से लेकर आज भी पराजित, घुमक्कड़, भगोड़े तथा अपनी ही जमीन, अपने ही देश में पराए की जिंदगी जीने को विवश हैं।

राजस्थान का जनजातीय जीवन

भारत में लगभग संपूर्ण क्षेत्र में जनजातियां पाई जाती हैं उत्तर में कश्मीर से दक्षिण में केरल तक तथा पूर्व में अरुणाचल प्रदेश से पश्चिम में गुजरात तक। प्रत्येक क्षेत्र की जनजातियों की अपनी विशिष्टता है और एक क्षेत्र की जनजातियों में भी आपस में भेद है। यह भिन्नता एक ही जनजाति में विभिन्न स्थानों पर रहने के कारण भी आती है अर्थात् न केवल एक स्थान पर रहने वाली जनजातियों में आपस में अंतर पाया जाता है वरन् विभिन्न स्थानों पर रहने वाली एक ही जनजाति में भी अंतर पाया जाता है। "मध्य भारत के आदिवासी सांस्कृतिक दृष्टि से दक्षिण भारत के आदिवासियों से उन्नत है, रहन–सहन का ढंग कम प्राचीन है। वे दक्षिण भारत के आदिवासियों की तरह यायावर नहीं हैं बस्तियां बसा कर रहते हैं। जीवन आहार संग्रह और शिकार पर ही निर्भर नहीं करता अपितु जीवनयापन का महत्वपूर्ण साधन कृषि भी है परंतु खेती का ढंग कुछ और ही है। आर्थिक विचार से भी दक्षिण वालों से श्रेष्ठ हैं। दक्षिण भारत के आदिवासियों की तुलना में इनका जातीय संगठन श्रेष्ठ

व अच्छा होता है। इन कबीलों ने वृक्षों के पत्तों का वस्त्र पहनना छोड़कर कपड़ा पहनना शुरु कर दिया है। शारीरिक दृष्टि से से भी हृष्ट–पुष्ट व गठीले होते हैं।"[59] इस प्रकार जनजातियों की अर्थव्यवस्था, सामाजिक मान्यता, रहन–सहन, धार्मिक जीवन, संस्कार, रीतियों, वेशभूषा आदि में भिन्नता पाई जाती है। कहीं–कहीं तो अंतर इतना अधिक है कि सभ्यता के विकास के स्तरों का भी भेद है जहां एक खाद्य संग्राहक और शिकारी है वहीं दूसरी नौकरीपेशा, एक घुमक्कड़ जनजाति है तो दूसरी स्थायी निवासी। स्पष्टतः इन सभी पर भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह अकारण नहीं है कि "अण्डमान के टापुओं की विशेष व्यवस्था और उनके एक दूसरे से अलग होने के कारण यहां के लोगों की सामाजिक व्यवस्था बिल्कुल एक सी नहीं है बल्कि विभिन्न टापुओं के लोगों के रीति–रिवाज तथा उनकी संस्कृतियां एक दूसरे से भिन्न हैं।"[60]

आर्थिक स्तर पर जनजातियों को वनशिकारी, खाद्य संग्राहक, कृषक, कारीगर, पशुपालक, लोक–कलाकार, नौकरी पेशा आदि में बांटना भी इनकी भिन्नता का द्योतक है। इसी प्रकार भाषायी आधार पर (द्रविड़, आस्टिक, चीनी तिब्बती), प्रजातीय आधार पर (नीग्रीटों, मंगोलायड, ऑस्ट्रोलायड) सांस्कृतिक आधार पर (हिंदू प्रभाव, प्रभाव रहित, आंशिक प्रभावित)वधार्मिक आधार पर वर्गीकरण इस बात का सूचक है कि जनजातियां प्रत्येक स्तर पर दूसरे से भिन्न होती हैं। यही भिन्नता ही उनकी अलग पहचान बनाती है इनकी विशिष्टता सिद्ध करती है जिस पर भौगोलिक प्रभाव सर्वाधिक परिलक्षित होता है।

जब राजस्थान के जनजातीय जीवन की बात की जाती है तो कुछ प्रश्न सामने आते हैं कि क्या राजस्थान की जनजातियां अन्य प्रदेशों से भिन्न होती हैं और अगर भिन्नता होती है तो कैसी और कितनी? राजस्थान की समस्त जनजातियों में समानताएं पाई जाती हैं? वह कौन सा तत्व है जो राजस्थान की समस्त जनजातियों में सामान्य रूप में पाया जाता है जो इस क्षेत्र की जनजातियों का वैशिष्ट्य है?

राजस्थान का जनजातीय जीवन अन्य प्रदेशों के जनजातीय जीवन से इस कारण भिन्न है कि प्रत्येक जनजाति के सांस्कृतिक जीवन पर भौगोलिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। भौगोलिक कारक महत्वपूर्ण कारक है जो संस्कृति का मूल स्वरूप निर्धारित करता है जैसे जंगलों में रहने वाली जनजातियों का जीवन मरुस्थल की जनजातियों से भिन्न होता है इतना ही नहीं भौगालिक कारक ही उनकी आजीविका, व्यवसाय, वस्त्र, खानपान आदि को निर्धारित करता है। राजस्थान के संदर्भ में भी यह भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित है जहां एक तरफ भील, मीणा, गरासिया, सहरिया आदि जनजातियां हैं जो प्राचीन काल में जंगलों में निवास करती

थी दूसरी तरफ नट, कंजर, सांसी, बावरिया, बंजारा आदि घुमक्कड़ जनजातियां हैं जिनका संपर्क सभ्य समाज से सदैव रहा। दोनों प्रकार की जनजातियों का जीवन अन्य प्रदेशों की जनजातियों से तो भिन्न है ही आपस में भी भिन्न है, भिन्नता राजनीतिक, धार्मिक मान्यता, विश्वास, रीति, संस्कार, अर्थव्यवस्था की ही नहीं बल्कि सामाजिक स्थिति की भी है। भील, मीणा आदि जनजातियां एक समय राजस्थान की शासक जनजातियां थीं। आमेर से लेकर दक्षिण राजस्थान में बांसवाड़ा, जालौर, सिरोही, उदयपुर, कोटा अर्थात् हाड़ौती अंचल पर इन्हीं का अधिकार था। परंतु नट, कंजर, बंजारा, सांसी आदि तथाकथित सभ्य समाज के धूरे पर बसी तथा न स्थिति में रही जनजातियां रही हैं। भील व मीणा जनजातियां छुआछूत का शिकार नहीं रही वरन एक समय मेवाड़ के महाराणा का तिलक भील के अंगूठे के रक्त से किया जाता था साथ ही मेवाड़ के राजचिह्न में भी भील विद्यमान हैं जो उनकी उच्च सामाजिक स्थिति का द्योतक है। दूसरी तरफ नट, कंजर, सांसी भी प्रथमतः तो बस्तियां बसा कर नहीं रहते थे दूसरे ये गांव से बाहर बस्तियां बना कर रहने को मजबूर थे। इस प्रकार इन दोनों प्रकार की जनजातियों की भिन्न सामाजिक स्थिति इनकी संस्कृति को भी भिन्न बनाती है।

आर्थिक दृष्टि से भी इन दोनों प्रकार की जनजातियों में अंतर पाया जाता है। भील, मीणा, कृषक व मजदूर वर्ग में आते है वहीं नट, बंजारा, कंजर, सांसी आदि के पास अपनी जमीन रहने के लिए ही नहीं है फिर कृषि हेतु उपलब्धता तो दूर की बात है। फलतः इनकी अर्थव्यवस्था जंगलों से खाद्य सामग्री, शहद, जड़ी–बूटी एकत्र करना, खेल तमाशे व इलाज करने तक सीमित है।

धार्मिक आधार पर दोनों जनजातियों में यद्यपि भेद नहीं है दोनों हिंदू प्रभाव से प्रभावित हैं तथा हिंदू धर्म में आस्था रखती हैं, परंतु फिर भी दोनों प्रकार की जनजातियों के अपने भिन्न–भिन्न देवता हैं, भिन्न पूजा पद्धतियां हैं, भिन्न व्रत–त्यौंहार, मेले हैं, भिन्न शगुन–शास्त्र हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन, आर्थिक जीवन में भिन्नता होते हुए भी राजस्थान की इन जनजातियों में कुछ समानताएं पायी जाती हैं जो अन्य प्रदेशों की जनजातियों से इनकी भिन्नता परिलक्षित करती है।

ऐतिहासिक रूप से राजस्थान की ये दोनों प्रकार की जनजातियां चाहे भील, मीणा, गरासिया, सहरिया हो या घुमक्कड़ नट, बंजारा, सांसी, बावरिया, कंजर आदि सभी ब्रिटिश सरकार के 1871 में पारित अपराधी जनजाति अधिनियम के अंतर्गत सम्मिलित की गई थी।

राजस्थान की जनजातियां भील, मीणा, गरासिया, सहरिया, नट, बावरिया आदि सभी तथाकथित सभ्य समाज से दूर नहीं रह सकी अर्थात् ये जनजातियां

दक्षिण भारत की जनजातियों की भांति दुर्गम पहाड़ों, गिरि कन्दराओं में नहीं रही। यद्यपि भील जनजाति जंगल में रहती थी लेकिन प्रारंभ में शासक थी और फिर समय–समय पर इनका संपर्क तथाकथित सभ्य समाज से होता रहा है। इस संपर्क का परिणाम राजस्थान की जनजातियों पर यह पड़ा कि यहां की जनजातियां तकनीकी रूप से पिछड़ी हुई नहीं हैं इसी संपर्क का परिणाम इनकी संस्कृति पर बहुआयामी रहा है। संपर्क के अंतर्गत तथाकथित सभ्य समाज जो इनकी नजर में श्रेष्ठ था उनकी नकल करने की प्रवृत्ति बढ़ी फलतः राजस्थान की जनजातियों की वेशभूषा, रीति रिवाज, मान्यताओं, धार्मिक, सामाजिक मान्यताओं आदि पर उस समाज का प्रभाव पड़ा और साथ ही इनका व्यवसाय भी (आंशिक रूप से ही सही) निश्चित हुआ। ये खाद्य संग्राहक की कोटि से बाहर आए। कहा जा सकता है कि इनकी मूल संस्कृति में परिवर्तन आया। इनकी अर्थव्यवस्था तथाकथित सभ्य समाज के मनोरंजन से संबंधित हो गई। धार्मिक रूप से हिंदू धर्म का प्रभाव इन जनजातियों पर अधिक है राजस्थान की जनजातियों पर ईसाईयत का प्रभाव नहीं है यहां की ज्यादातर जनजातियां हिंदू–धर्म में आस्था रखती है इनके अधिकांश देवता हिंदुओं के ही देवता हैं। यहां पर सामाजिक रूप से पितृसत्तात्मक व्यवस्था पाई जाती है दक्षिण की मातृसत्तात्मक व्यवस्था से भिन्न। इस प्रकार तथाकथित सभ्य समाज से संपर्क का प्रभाव इनकी संस्कृति पर पड़ा और इस कारण इनकी संस्कृति में परिवर्तन आया लेकिन इतना नहीं कि इनकी संस्कृति ही लुप्त हो जाए। क्षेत्र का प्रभाव संपर्क पर भी पड़ा और संपर्क का प्रभाव सभ्यता के स्तर पर। उत्तर भारत के मीणाओं का संपर्क तथाकथित सभ्य समाज से अधिक रहा और एक समय में यहां के राजा थे अतः इनका जीवन हिंदुओं के इतना निकट पाया जाता है कि अंतर करना तो दूर अंतर करने की बात करना भी गुनाह है जबकि दक्षिण राजस्थान के भील, मीणा सभ्यता के स्तर पर अभी भी पिछड़े हुए हैं। वे भी स्वयं को हिंदू ही मानते हैं लेकिन उनके खुद के स्थानीय देवता व संस्कारों का प्रभाव भी है जो उत्तर राजस्थान की जनजातियों में कम हो चुके हैं अर्थात् वे अपने संस्कारों को तथाकथित सभ्य समाज के अधिक संपर्क के कारण धीरे–धीरे भूल रहे हैं। इस प्रकार राजस्थान का जनजातीय जीवन अपने आप में विशिष्ट है यहां की जनजातियों का जीवन न केवल अन्य प्रदेशों के जीवन से भिन्न है वरन् परस्पर यहां की जनजातियों में भी संस्कृति का अंतर स्पष्ट परिलक्षित होता है। संपर्क का परिणाम सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अर्थात् समस्त संस्कृति या जीवन पर पड़ा।

सामाजिक पक्षः

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए इनमें एक व्यवस्था पाई जाती है और प्रत्येक समाज की अपनी संरचना होती

है। सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक रीतियां प्रत्येक सामाजिक समूह में समान नहीं होती और न ही सामाजिक स्थिति समान होती है। यह भिन्नता ही उसकी विशेषता का लक्षण है। जनजातियों का सामाजिक जीवन (संरचना, व्यवस्था, सामाजिक रीतियां, सामाजिक स्थिति आदि) तथाकथित सभ्य समाज से भिन्न होता है। इसकी भिन्नता क्षेत्रीय आधार पर भी दृष्टिगोचर होती है। राजस्थान की जनजातियों का सामाजिक जीवन इसी संदर्भ में दृष्टव्य है।

जनजातियों के सामाजिक जीवन पर अगर दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि जनजातियां या जनजातीय समूह सहयोग की भावना पर आधारित होता है यहां इनके रीतिरिवाज, पर्व, उत्सव, विपदा आदि अवसरों पर यह भावना देखी जा सकती है यह सहयोग और इस सामाजिक संगठन का आधार इनमें रक्त संबंध तथा कबीले पर आधारित होता है तथाकथित सभ्य समाज से इनकी इस सहयोग की भावना में अंतर होता है। यह अंतर सहयोग की मात्रा व आधार दोनों स्तरों पर होता है। जनजातियों की सहयोग भावना रक्त संबंध तक ही सीमित रहती है तथा घनिष्ठ होती है।

जनजातियों की सामाजिक संरचना का अध्ययन करते समय हम यह पाते हैं कि इनका सामाजिक संगठन अनेक स्तरों पर विभक्त रहता है। मुख्यतः गोत्र, उपगोत्र, वंश, परिवार आदि स्तर पर। 'मजूमदार एक जनजाति को नौ सामाजिक समूहों का संगठित रूप मानते हैं जिसमें जनजातीय समूह, जनजाति, उपजनजाति, अर्द्धजनजाति, क्षेत्रीय समूह या गोत्र समूह, गोत्र, उपगोत्र, वंश, परिवार आदि है।"[61]

जनजातियों का सामाजिक संगठन गोत्रों में विभक्त रहता है ये गोत्र बहिर्विवाही होती है एक गोत्र के अंतर्गत आने वाले लोगों का संबंध रक्त आधारित होता है तथा ये अंतर्विवाह नहीं करते। स्वयं को एक ही पूर्वज की संतान मानते हैं। गोत्रों का नाम भी उन्हीं पूर्वजों या टोटम के आधार पर होता है।

जनजातियों की यह रक्त संबंध आधारित गोत्र विभाजित सामाजिक संरचना भारत की लगभग समस्त जनजातियों में पाई जाती है। भील, मीणा, गोंड, संथाल, ओरांव, नट, कंजर, सांसी आदि सभी में। मीणाओं में बहुत सारी गोत्रे व उपविभाग हैं। 84 गोत्रे हैं और प्रत्येक गोत्र की देवी होती है। कुछ वृक्ष पीपल, वट आदि रक्षित किए जाते हैं विभिन्न गोत्रों द्वारा। प्रत्येक गोत्र में बहुत से कुटुम्ब हैं जो ज्ञात पूर्वज की संतान हैं। सामुदायिक रूप से अंतर्विवाह होता है तथा गोत्र में बहिर्विवाह।"[62]

"सांसी मालावत व विधावत में विभक्त है। बाद में इनके छह उपविभाग हैं जो कुलों के समकक्ष हैं। ये बहिर्विवाह की तरह व्यवहार करते हैं।"[63] रसेल के अनुसार

"सांसी कापड़िया में 12 गोत्रे होती हैं। सांसी दो समूहों में विभक्त हैं कल्हार और मल्हा। दोनों आठ या बारह उपभागों में बंटे हैं। कल्हार कल्हार समूह के सदस्य से विवाह नहीं कर सकता, मल्हा से कर सकता है। इसी तरह मल्हा भी। ये समूह बहिर्विवाही है।"[64] "कंजरों के बेरार में दो भाग बताए रसेल ने। कूच बूंदियां जो झाड़ू बनाते हैं तथा ईमानदार हैं दूसरे अपराधी कंजर। इनके भी दो भाग हैं – मारवाड़ी व दक्कनी। मध्य भारत में दो और भाग जाट व मुल्तानी कंजर। दो बहिर्विवाह समूह होते हैं इनमें भी, कल्हा व मल्हा।"[65] 'पीपुल ऑफ इंडिया' कंजरों के 12 गोत्र मानता है, सभी बहिर्विवाही। मजूमदार संयुक्त प्रांत व पंजाब में 12 भाग मानते हैं। कूचबूंद, नट, तुर्कत, बेरिया, बेल्दार, चमार मंगता, सासिया, डोम, भाटू, कलंदर, बहेलिया, जोगी। राजपूताना में 23 उपविभाग तथा राजपूत गोत्र सिसोदिया, राठौड़, कुत्था, चौहान, मालावत, करमावत आदि हैं।

बंजारों में भी गोत्र पाए जाते हैं। भीलों में छोटे–छोटे गोत्र कुल, अटक या ओदाह कहलाते हैं। जो गोत्रों के ही पर्याय हैं। अटक का नाम पूर्वज, पक्षी या स्थान पर होता है। विवाह एक अटक में नहीं किया जा सकता इस प्रकार जनजातियां गोत्र स्तर पर विभाजित होती हैं गोत्रों में रक्त संबंध होता है तथा स्वयं को एक ही पूर्वज की संतान मानते हैं। इसी कारण इनमें आपस में विवाह नहीं होते। गोत्र भी उपगोत्र, वंशसमूह आदि स्तरों पर विभाजित होती है तथा प्रत्येक गोत्र के अपने देवी–देवता होते हैं। भीलों के उपगोत्र पीपरिया, देवरिया, चाट्रया आदि हैं। वंश समूह एक गांव में रहने वाला समूह होता है। गोत्र या उपगोत्र में वंश होते हैं जो ज्यादा नजदीकी समूह है।

परिवार व पारिवारिक व्यवस्था भिन्न–भिन्न जनजातियों में भिन्न रूप में पाई जाती है। परिवार में सामान्यतः माता–पिता व संतान होती है लेकिन कुछ मामलों में भिन्न पारिवारिक व्यवस्था भी पायी जाती है। केरल की नायर जनजाति में पति एक बार संभोग कर चला जाता है बाद में मां और उसकी संतान ही परिवार का हिस्सा होते हैं। इसी प्रकार मातृसत्तात्मक व पितृसत्तात्मक परिवारों की अलग--अलग क्षेत्रों में अलग–अलग व्यवस्था पाई जाती है दक्षिण भारत और उत्तरपूर्व में ज्यादातर मातृसत्तात्मक परिवार पाए जाते हैं और शेष भारत में पितृसत्तात्मक। इसी प्रकार नाभिकीय और संयुक्त परिवार और एकविवाही तथा बहुर्विवाही व्यवस्था भी पाई जाती है।

राजस्थान में पितृसत्तात्मक परिवार ही पाए जाते हैं। मीणा, कोली, कथौड़ी, कंजर, सांसी, नट, बंजारा समस्त जनजातियों में परिवार पितृसत्तात्मक ही है। "नाभिकीय परिवार एकविवाही के साथ भारतीय जनजातियों में पाया जाता है लेकिन बड़ी जातियों में आर्थिक मांग या आज्ञा के कारण बहुत से संयुक्त व विस्तृत परिवार

भी पाए जाते हैं।.... भीलों की एक वासितु होती है जिसमें माता–पिता व बच्चे होते हैं। इसी के साथ शादीशुदा पुत्र उसकी पत्नी व कुंवारे बच्चे एक ही परिवार में एक छत के नीचे रहते हैं।"[66]

कलाबाज और पशुपालक जनजातियों में साधारणतः नाभिकीय परिवार ही होते हैं। अकृषक मजदूर जनजातियां जैसे मुण्डा, ओरांव जो खेतों में काम करते हैं उनका भी परिवार नाभिकीय ही होता है। मीणा, सांसी, कंजर, नट, बंजारा, भील सभी में परिवार एकल (नाभिकीय) ही पाया जाता है जिसमें माता–पिता व कुंआरी संतान होती है। कंजर, नट, बंजारा, सांसी, गाड़िया लुहार आदि घुमक्कड़ जनजातियों के कबीला व्यवस्था पाई जाती है जिसके तहत कबीला एक ही व्यक्ति की संतान होती है परंतु फिर भी परिवार नाभिकीय ही पाए जाते हैं।

विवाह की संख्या के आधार पर भी जनजातियों में अंतर पाया जाता है। बहुर्विवाही जनजातियों के साथ बहुत सी ऐसी जनजातियां भी पाई जाती हैं जिनमें एक ही पत्नी पर पांच–चार (जितने भी भाई हों) सबका अधिकार रहता है। कंजर, भील, मीणा, बंजारा, नट सभी में यद्यपि एक विवाह पाया जाता है परंतु सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ व्यक्ति दो विवाह भी कर सकता है।

राजस्थान में परिवार पितृसत्तात्मक ही है इसी कारण पिता की संपत्ति व कर्ज को उसकी मृत्यु के बाद पुत्रों में बांट दिया जाता है तथा परिवार का बड़ा बेटा ही मुखिया होता है। स्त्रियों को न संपत्ति में हिस्सा दिया जाता है न पारिवारिक मामलों में बोलने का अधिकार। कंजरों में पिता की संपत्ति पुत्रों द्वारा बांट ली जाती है लगभग ऐसा ही भील, मीणा, सांसी, नट, बंजारा आदि में होता है।

सामाजिक जीवन के अंतर्गत सामाजिक स्तर और सामाजिक स्थिति पर भी विचार किया जाना चाहिए क्योंकि सामाजिक स्थिति सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करती है। भील व मीणा जनजातियों में स्वयं में भी स्तर भेद मिलता है। मीणाओं में जमींदार व चौकीदार मीणा होते हैं। दोनों में किसी प्रकार का संबंध नहीं होता। जमींदार मीणा स्वयं को चौकीदारों से उच्च मानते हैं इनमें परस्पर विवाह भी नहीं होते। इसी प्रकार भीलों में लंगोटिया व पोतिया भील हैं जिनमें भी किसी प्रकार का आपसी व्यवहार नहीं होता। "भीलों में भेद भोजन के आधार पर भी होता है – पटेलिया भील कुशल किसान होते हैं और केवल बकरे या हिरन का मांस खाते हैं ये भील भैंसे का मांस भी खा लेते हैं। नायक वर्ग के भील मरे जानवर का मांस खाते हैं और गंदे रहते हैं अतः सामाजिक दृष्टि से पटेलिया सबसे ऊँचे माने जाते हैं व नायक भील सबसे नीचे।"[67] "उजले भील अपने आपको मैले भीलों से अच्छा समझते हैं। गांव में रहने वाले तड़वी जाति के भील अपने आपको उच्च मानते हैं। वे

उनके हाथ का छुआ पानी पीना भी बुरा मानते हैं। जबकि फाल्याओं में रहने वाले तड़वी गांवों में रहने वाले तड़वी को खटिया पर बैठने का अधिकार नहीं देते।"[68]

इनके विपरीत कंजर, नट, बंजारा, सांसी आदि में उपविभाग अवश्य हैं पर इस प्रकार के नियम नहीं हैं न ही वहां छुआछूत का सिद्धांत है। यद्यपि बंजारों में गौर बंजारा व जांगड़ बंजारा होते हैं परंतु "जांगड़ जो दूसरी जाति के होते हैं या गोद लिए होते हैं ये भी बाद में गौर समाज में ग्रहण कर लिए जाते हैं।"[69]

इसी प्रकार तथाकथित सभ्य समाज की नजर में इनकी स्थिति पर भी विचार करना समीचीन होगा। भील–मीणा आदि जनजातियां किसी समय राजस्थान की शासक जनजातियां थीं इस कारण इनकी सामाजिक स्थिति निम्न नहीं हो पाई। "मीणाओं के हाथ का भोजन ब्राह्मण व बनिया नहीं करते परंतु इनको कुओं से पानी भरने का अधिकार है ये ग्राम पंचायत, स्कूल, श्मशान आदि का प्रयोग कर सकते हैं। तथा ये स्वयं अनुसूचित जातियों के हाथ का छुआ भोजन नहीं खाते।"[70]

सांसियों का जाटों, सिक्खों, राजपूतों, आदि से परंपरागत संबंध होता है परंतु इनके द्वारा छुआ गया भोजन दूसरी जातियां नहीं लेती। "सांसी सामाजिक व्यवस्था में सबसे नीचे माने जाते हैं इनसे नीचे सिर्फ डोम ही माने गए हैं। मेधवाल भी इनसे ऊँचे हैं जो इनके हाथ का छुआ नहीं खाते।"[71] इस प्रकार सामाजिक स्थिति और सामाजिक स्तर के आधार पर जनजातियों में अंतर पाया जाता है। राजस्थान की नट, बंजारा, कंजर आदि जनजातियों का सामाजिक जीवन भील–मीणा से भिन्न है। इनकी भिन्नता के बावजूद कुछ समानताएं भी हैं जिसमें मुख्यतः सामाजिक संरचना, परिवार व्यवस्था विवाह तथा गोत्र संबंध आदि हैं लेकिन फिर भी सामाजिक रीतियों व संस्कार तथा स्त्री की स्थिति के संबंध में अंतर है।

जनजातीय समाज में स्त्रियां

स्त्रियों की समाज में भूमिका महत्वपूर्ण होती है बिना स्त्री के परिवार की कल्पना संभव नहीं है क्योंकि स्त्री ही वह सूत्र है जो परिवार को जोड़ने का कार्य करती है। जनजातीय समाज में नारी की स्थिति तथाकथित सभ्य समाज से अनेक मामलों में भिन्न होती है। स्त्रियों की स्थिति भिन्न–भिन्न जनजातियों में भी भिन्न–भिन्न होती है। खस और मुण्डा जैसी जनजातियां स्त्रियों के हाथ का छुआ भी नहीं खाती वहां स्थिति खराब है जबकि घुमंतू जनजातियों की स्त्रियों की स्थिति अच्छी होती है यहां इनकी आर्थिक व सामाजिक मामलों में अहम् भूमिका होती है। जनजातियों में कन्या मूल्य, यौन स्वच्छंदता, तलाक, आर्थिक निर्भरता आदि व्यवस्था पाई जाती है। इस संबंध में तथाकथित सभ्य समाज से स्थिति बेहतर ही है। वहीं दूसरी तरफ सभ्य समाज की नजर में इन स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं होती।

"सभ्यता विकास और हैसियत से नीची और अपने समाज में अधिक मुक्त होने के कारण ये आदिवासी महिलाएं गैर आदिवासियों की नजर में उच्छृंखल मानी जाती हैं।"[72] इसके साथ ही जिन स्थानों पर परिवार मातृसत्तात्मक पाए जाते हैं वहां स्त्रियों की दशा और अधिक अच्छी होती है वहां संपत्ति का बंटवारा लड़कियों में होता है, पति शादी के बाद स्त्री के घर जाता है परंतु जहां पितृसत्तात्मक व्यवस्था पायी जाती है उदाहरणार्थ राजस्थान की जनजातियों में, वहां स्थिति भिन्न होती है। भीलों व मीणाओं में औरत को संपत्ति में हिस्सा नहीं दिया जाता केवल सामाजिक व शास्त्रीय मामलों में ही उनका योगदान होता है। उनका स्तर भी परिवार में पति के बाद ही होता है। सांसियों व कंजरों में भी यही व्यवस्था है। भील मीणा स्त्रियां दैनिक मजदूरी या नृत्यगान का कार्य नहीं करती जबकि कंजर, नट, सांसी स्त्रियां न केवल कलाबाजी करती हैं, नृत्यगान द्वारा आर्थिक जीविका चलाती हैं।

जनजातीय समाज में स्त्रियों की स्थिति इस रूप में स्वतंत्र होती है और तथाकथित सभ्य समाज से विशिष्ट कि वहां स्त्रियों को तलाक लेने व पुनर्विवाह करने का अधिकार है वहां विधवा रहकर या पति द्वारा त्यागे जाने से पीड़ित रहकर सारी उम्र गुजारने की व्यवस्था नहीं है। कंजर समाज तो इस मामले में विशिष्ट स्थिति रखता है जहां ब्राह्मण आदि की रखैल बनकर रहने वाली स्त्री को भी समाज द्वारा वापस स्वीकृत किया जाता है। जनजातीय समाज में यौन शुचिता की संकल्पना नहीं पाई जाती।

सामाजिक संरचना के बाद सामाजिक जीवन को समझने का दूसरा पक्ष सामाजिक रीतियां व व्यवहार तथा संस्कार हो सकते हैं। जनजातियों में सामाजिक संस्कार अपनी विशिष्टता लिए होते हैं। हिंदू परंपरा के समान यहां सोलह संस्कारों का विधान नहीं है लेकिन संस्कार होते अवश्य हैं। राजस्थान की जनजातियां हिंदुओं से प्रभावित हैं वे अन्य जनजातियों की बजाय न केवल संस्कारों में हिंदू परंपरा का अनुसरण करते हैं वरन उनके संस्कार भी अधिक होते हैं। जन्म, विवाह व मृत्यु संबंधी संस्कारों के संदर्भ में इनकी सामाजिक व्यवस्था पर विचार किया जा सकता है। हिंदू परंपरा में बच्चे के गर्भ में पड़ने से लेकर मृत्यु तक विविध संस्कार किए जाते हैं लेकिन जनजातियों की इनकी संख्या सीमित ही है। भील–मीणाओं के संस्कार हिंदुओं के समान ही होते हैं। पीपुल ऑफ इंडिया के अनुसार "मीणाओं में गर्भवती स्त्री का सातवां महीना पूजा जाता है। जन्म के बाद सूर्य पूजा 7, 9 या 11वें दिन होती है फिर नामकरण का प्रावधान है। जन्म में लड़की की बजाय लड़कों को महत्व दिया जाता है। कुआं पूजने से पूर्व महिला रसोई में प्रवेश नहीं कर सकती इसी प्रकार साल या सवा साल के अवसर पर झडुला व मुण्डन होता है। लड़के का जन्मोत्सव थाली बजाकर किया जाता है। पहले बच्चे के जन्म के समय स्त्रियां पीहर में रहती हैं।"[73] भीलों में भी लगभग यही परंपरा है। घुमक्कड़

जनजातियों नट, कंजर, बंजारा, सांसी आदि में भी लगभग यही व्यवस्था है। सांसी जनजाति में बच्चों के जन्म के पांचवें दिन तक स्त्री नहा नहीं सकती। छठे दिन झरने पर जाकर नहाना पड़ता है। झडुला प्रथा भी है जो दस या बारह साल पर होती है। कंजरों में भी बच्चे के जन्म पर पूजा का प्रावधान है। बंजारों में पांचवें दिन सूर्य पूजा का विधान है जिस समय हवन होता है और पांवों में गेहूं की माला पहनाते हैं।"[74] लेकिन बंजारों में हिंदू परंपरा से भिन्न एक प्रथा पाई जाती है जिसमें बालक के जन्म के अवसर पर नगाड़ा बजाया जाता है और बालिका जन्म के अवसर पर कांसी की थाली बजाते हैं।"[75]

विवाह महत्वपूर्ण सामाजिक संस्कार होता है जनजातियों में। "संस्कारों के अवसर पर वेदमंत्र नहीं पढ़े जाते। ... जात कर्म से लेकर चूड़ाकर्म तक के संस्कार कृत्य द्विज–जातियों के पुरुष वर्ग में वैदिक मंत्रों के साथ संपन्न किए जाते हैं किंतु अन्य वर्ग में मंत्रों के बिना ही संपन्न होते हैं। उच्च वर्गों में नारी वर्ग के विवाह में वैदिक मंत्रों के प्रयोग का विधान है किंतु जनजातियों और शूद्रों के संस्कारों में कहीं भी वैदिक मंत्रों का विधान नहीं।"[76] बंजारों की तरह नटों, कंजरों, सांसियों आदि में भी वैदिक मंत्रों का विधान नहीं मिलता वेद मंत्रों की जगह इन्होंने अपने गीतों को दी है। हिंदू समाज में पूजा का अधिकार जिस प्रकार ब्राह्मण को दिया गया है इनमें वह कार्य जनजाति का वयोवृद्ध व्यक्ति, भानजा या जमाई करता है।

ज्यादातर जनजातियां एकविवाही होती हैं, नागा, गोंड, बैगा, टोडा की तरह न तो इनमें बहुविवाह प्रथा पाई जाती है और न ही खस व टोड़ा की तरह बहुपतिप्रथा। जनजातियों के विवाह का ढंग अपने आप में विशिष्ट होता है। सामान्यतः भारत में अपहरण, विनिमय, सहपलायन, सेवा, बल प्रवेश, परीक्षा, परस्पर स्वीकृति आदि प्रकारों से विवाह होता है परंतु राजस्थान में मुख्यतः विनिमय विवाह, क्रय विवाह तथा परीक्षा विवाह ही पाए जाते हैं। भीलों में क्रय विवाह और परीक्षा विवाह पाया जाता है। मीणाओं में विनिमय द्वारा भी विवाह होता है। सांसियों व कंजरों में विवाह सौदेबाजी से होता है। भीलों में विवाह के संदर्भ में विशिष्टता पाई जाती है "जिसमें विवाह पूर्व संतान होना कोई असामान्य घटना नहीं मानी जाती और न ही उस स्त्री का अनादर होता है।"[77]

जनजातीय समाज में विवाह में कन्या मूल्य का चलन पाया जाता है जो उन्हें अन्य समाजों से भिन्न करता है। यह कन्या मूल्य नट, बंजारा, कंजर, सांसी, भील, मीणा सभी में पाया जाता है। सांसियों में इसे बुहार या रीत कहा जाता है। कन्या मूल्य जनजातियों का विशिष्ट लक्षण है जो लगभग सारी भारतीय जनजातियों में पाया जाता है।

स्त्री स्वतंत्रता के संदर्भ में ही जनजातियों में तलाक की प्रथा का भी चलन पाया जाता है। तथाकथित सभ्य समाज के समान यहां स्त्री सारी उम्र कष्ट सहकर जीने को बाध्य नहीं है उसे तलाक लेने का अधिकार है। इसी के साथ तलाकशुदा या विधवा विवाह का भी चलन इनमें पाया जाता है। तलाक के अधिकार को यहां सीमित भी किया गया है जिसके तहत अगर तलाक औरत द्वारा ली जाती है तो वधूमूल्य (जो उसकी शादी के समय पति द्वारा दिया गया था) वापस पहले पति या उसके परिवारवालों को दिया जाता है। यहां पुनर्वधूमूल्य या तो लड़की के घरवाले देते हैं या फिर उसका दूसरा पति। विधवा अगर देवर से विवाह कर ले तो उसे यह हर्जाना नहीं देना पड़ता। इन सबके बावजूद भी तलाक व विधवा विवाह संबंधी छूट इनकी विशिष्ट स्त्री स्वतंत्र स्थिति का परिचायक है।

जो व्यक्ति जनजातियों को हिंदू मानते हैं और उनके संस्कारों में हिंदू परंपरा व रीतियों का निर्वाह देखते हैं उन्हें इनकी विशिष्ट विवाह पद्धति द्वारा यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि इनका संपर्क हिंदू समाज से सदियों से रहा है फिर भी इनकी मूल संस्कृति अनेक अवसरों पर सामने आती है उसी में से एक है विवाह पद्धति। मीणाओं में हिंदू प्रभाव है, "बंजारों में अधिकांश परंपरा बनोरा, तोरण, फेरे समस्त हिंदुओं की तरह होते हैं पर प्रदक्षिणा दो खंभों की दी जाती है अग्नि की नहीं।"[78] भीलों में किसी मेले के अवसर पर बांस पर गुड़ बांधा जाता है लड़कियां उसके चारों ओर घेरा बना लेती हैं जो पुरुष उस गुड़ को बांस पर से उतारता है, यद्यपि उतारते समय लड़कियों द्वारा पीटा जाता है वह उस समूह में से किसी भी लड़की से विवाह कर सकता है। इस प्रकार भीलों में विवाह की पद्धति परीक्षा पर आधारित है। "कंजरों में गदेला (जिसके द्वारा कंजर घास खोदते हैं) विवाह के समय मंच पर रखा जाता है और वर उसकी शपथ लेता है कि तलाक नहीं लेगा।"[79] इस प्रकार जनजातीय समाज में विवाह संस्कार और उससे संबद्ध रीतियों की अपनी विशिष्टता है जो तथाकथित सभ्य समाज के संपर्क में आने के बावजूद भी खत्म नहीं हुई है।

जनजातियों की विशिष्ट सामाजिक परंपरा को उनके मृत्यु संस्कार के समय भी देखा जा सकता है। जनजातियों में हिंदू समाज से भिन्न मृतकों को न केवल जलाया जाता है वरन् दफनाया भी जाता है जो इनके हिंदू होने पर सवाल खड़ा करता है। उत्तर पूर्व भारत में जहां ईसाईयत का प्रभाव है वहां जनजातियां दफनाती हैं परंतु राजस्थान में अधिकांश जनजातियां मृतक को जलाती रही है। भील, मीणा, कंजर, सांसी, नट सभी में मृतक को जलाया जाता है जबकि बच्चों, कुआंरे लोगों, महामारी से मरे हुओं को दफनाया जाता है। इन जनजातियों में शोक की अवधि 12–13 दिन होती है और 9–10वें दिन पूजा होती है फिर सारे समाज को भोज दिया जाता है। विशिष्टिता इस अर्थ में है कि यहां मृत्युभोज के समय मांस, मदिरा

का सेवन किया जाता है। भीलों में मृतक की यात्रा की विशिष्टता है कि (अन्य से भिन्न) "इसमें स्त्रियां भी जाती हैं और निश्चित स्थान पर पहुंच कर पुरुषों से अलग हो जाती हैं। शव के निकट गाय, भैंस, बैल बांधते हैं फिर उन्हें वापस ले जाते हैं। इनमें मृतक पूजा का भी विधान है हरवान मृत देह को दातून कराकर मुंह धुलाता है मृतक के लिए लायी खाने की पोटली उसके समीप लाकर झुकाता है एक–एक कर सभी रिश्तेदार शव के मुंह में खाना डालने के लिए 'हरवान' को विविध चीजें देते हैं।"[80]

इस प्रकार यह विशिष्ट स्थिति इसी आदिम व्यवस्था की परिचायक है। "इनमें अगर मृतक स्त्री है तो पति मृत देह के साथ कुछ समय के लिए लेट जाता है, विधुर या विधवा की मृत्यु के समय यह संस्कार नहीं होता।"[81]

इस प्रकार जनजातियों क़ा सामाजिक जीवन अपनी विशिष्ट स्थिति का परिचायक है। हिंदू समाज और तथाकथित सभ्य समाज के निकट संपर्क के बावजूद इनके अपने संस्कार और उनकी विशिष्टता अभी भी वर्तमान है जो इन्हें न केवल तथाकथित सभ्य समाज से अलग करती है वरन् खास भी बनाती है। यह भिन्नता एक जनजाति से दूसरी जनजाति में ही नहीं है वरन् एक जनजाति के भी विविध भागों और समूहों में भी है। भौगोलिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है इनके संस्कारों पर। स्थान व परिवेश का प्रभाव, पर्यावरणीय स्थिति व पड़ौसियों से संपर्क इनकी विशिष्ट स्थिति बनाता है। यही कारण है कि मैदानों में रहने वाले भील पहाड़ी क्षेत्र में रहने वाले भीलों से भौतिक दृष्टि से ज्यादा प्रगतिशील हैं। घुमक्कड़ जनजातियों की अपनी भिन्न सामाजिक परंपरा है। सामाजिक रीतियां, सामाजिक संस्कार, सामाजिक स्थिति, सामाजिक व्यवस्था या संरचना, परिवार, नारी की स्थिति आदि समस्त क्षेत्रों में इनकी अपनी विशिष्टता है जो इन्हें तथाकथित सभ्य समाज से भिन्न ही नहीं विशिष्ट भी बनाती है।

राजस्थान का जनजातीय जीवन : धार्मिक पक्ष

"अतिमानवीय और अतिप्राकृतिक शक्तियों के अस्तित्व की मान्यता प्रायः सब जगह पायी जाती है। दिन प्रतिदिन की अचानक घटित घटनाओं का अनुभव, बीमारी से मृत्यु और मृत्यु की अव्याख्यायित परिस्थितियों ने जनजातियों को भौतिक दृश्य संसार के अलावा अन्य शक्तियों पर विश्वास करने को बाध्य किया जैसे अदृश्य आत्मा का संसार। इन शक्तियों से एक विशिष्ट प्रकार का संबंध स्वयं व उन शक्तियों को दो तरह से व्यवस्थित करके किया गया। पहला आत्मा पर नियंत्रण या शक्ति के अतिरेक द्वारा जो वशीकरण या अन्य तकनीक प्रयोग द्वारा होता है जिसमें शक्तियों को अच्छे या बुरे कार्य के लिए वशीभूत किया जाता है दूसरा पूजा या बलि द्वारा अतिमानवीय शक्ति से इच्छित कार्य को पूरा कराने हेतु। पहले को जादू कहा

जाता है और दूसरे को धर्म। जनजातियों में जादू धर्म का आंतरिक हिस्सा है। जादू की क्रियाएं शमन करने के तरीके के रूप में प्रयुक्त होती हैं।"[82] एक प्रकार जनजातियों का धार्मिक जीवन भी विशिष्ट होता है और यहां भी धर्म की मान्यता रहस्य के कारण ही उत्पन्न हुई जान पड़ती है। "भारत की अधिकांश जनजातियां करीब 90 प्रतिशत हिंदू धर्म से प्रभावित हैं या हिंदू धर्म में विश्वास करती हैं। शेष में 5 प्रतिशत ईसाई धर्म और 4 प्रतिशत जनजातियां अपना स्वयं का धर्म मानती हैं। जनजातियों के अपने धर्म की संख्या 52 है जिसमें से 26 जनजातियों के नाम पर ही हैं।"[83]

जनजातियों के धार्मिक रूप पर भौगालिक प्रभाव परिलक्षित होता है। राजस्थान की अधिकांश जनजातियां शेष भारत के समान हिंदू मान्यता से प्रभावित हैं। उत्तर पूर्व भारत की जनजातियां ईसाईयत में विश्वास करती हैं। राजस्थानी जनजातियों के विश्वास, मान्यताओं, संस्कारों, रीतियों, पूजा पद्धतियों, देवताओं सभी पर हिंदू धर्म का स्पष्ट प्रभाव है। हिंदू धर्म से समान्ता के चलते ही हट्टन को हिंदू धर्म व जनजातीय धर्म में भेद करना कठिन लगा और धूरिये तो जनजातीय धर्म को हिंदू धर्म का पिछड़ा प्रकार ही मान बैठे। हिंदुओं से इनकी समानता कई मामलों में है "हिंदू आत्मा में विश्वास करते हैं, तेरही संस्कार, श्राद्ध, पिण्डदान आदि की क्रियाएं आदिवासी मायता से भिन्न नहीं है। हिंदुओं में केवट, पीपल, तुलसी, गाय, नाग आदि की पूजा आदिवासियों की टोटमी पद्धति से मिलती है। हिंदुओं की छोटी जातियों में भी गोत्रों के नाम पदार्थों के नाम पर देखे जाते हैं। टेबू या निषेध की संख्या आदिवासियों से कम नहीं है। रजस्वला स्त्री हिंदुओं में अपवित्र मानी जाती है। अनेक वृक्षों व पशुओं को नष्ट करना हिंदुओं में निषेध है और सगोत्री विवाह करना भी हिंदुओं में अधर्म है।"[84]

इस प्रकार जनजातीय धर्म और हिंदू धर्म में समानता है और समानता गहरे स्तर तक है फिर चाहे आत्मा या ईश्वर के अस्तित्व संबंधी मान्यता हो या फिर जादू, टोना, बलि द्वारा इच्छित कार्य की सफलता संबंधी मान्यता हो। लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि अगर इतनी समानता है और कोई भेद नहीं है तो जनजातीय धर्म अलग से कहने का औचित्य क्या है? इसका उत्तर यही है कि इतनी समानताओं के बावजूद जनजातियों के धर्म की अपनी विशेषता होती है। आदिम समय में जो आदिम समूह हिंदू वर्णाश्रयी समाज के अधीन आए वे शूद्रों की कोटि में सम्मिलित किए गए उनका हिंदूकरण हुआ और यही कारण था कि भिन्न धार्मिक परंपरा के बावजूद वे हिंदू बन गए जबकि जो आदिम समूह हिंदुओं के संपर्क से दूर रहे वे आज भी अपनी धार्मिक परंपरा का यथावत पालन कर रहे हैं। जो आदिवासी हिंदू समाज के सपंर्क में आए यद्यपि उन्होंने नए धर्म की अनेक मान्यताओं को स्वीकारा परंतु अपना मूल धर्म भी पूरी तरह विस्मृत नहीं कर सके और इस संबंध में हिंदू धर्म

की विशिष्ट स्थिति में इन्हें छूट प्रदान की जैसे इनके भिन्न देवता जो हिंदू धर्म की बहुदेववादी मान्यता में आसानी से स्वीकृत हो गए। इस प्रकार अपनी मूल मान्यताओं, धारणाओं व आस्थाओं की परंपरा का निर्वहन इनके धार्मिक जीवन को विशिष्ट स्थिति प्रदान करता है, हिंदू धर्म से इनके धर्म का अंतर स्पष्ट करता है।

जनजातीय धर्म को कुछ निश्चित तत्वों के तहत समझा जा सकता है – धार्मिक मान्यताओं में ईश्वर व आत्मा संबंधी मान्यता, आस्था, विश्वास, पूर्वज पूजा व बहुदेववाद, जादू–टोना आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इसके अलावा आत्माओं के प्रकार, उनकी विशिष्ट स्थिति, उनका कार्य, उनको प्रसन्न करने के तरीके, पूजा स्थान, पद्धति व व्यक्ति आदि के संदर्भ में भी जनजातियों के धार्मिक जीवन पर दृष्टिपात किया जा सकता है।

ईश्वर और आत्मा का अस्तित्व प्रत्येक जनजाति में पाया जाता है। जनजातियों में आत्मा का अस्तित्व समस्त जगह माना जाता है। तथाकथित परिष्कृत समाज से भिन्न। "परिष्कृत समाजों में कुछ स्थान यथासंभव एक दीवार से घिरा हुआ, छत से ढका हुआ, विशेष रूप से पवित्र अंकित कर दिया जाता है किंतु जीववादी जनजातियों में सभी स्थान पवित्र हैं क्योंकि इन्हें आत्मा का आवास माना जाता है।"[85]

तात्पर्य यह है कि तथाकथित सभ्य समाज से भिन्न जनजातियां ईश्वर या आत्मा का अस्तित्व सर्वत्र मानती हैं। जानवर, पेड़–पौधे, तालाब, नदी, पत्थर, चट्टान सभी आत्माओं के निवास स्थान हैं। गांव या जंगल जहां भी जनजाति रहती है सारा पड़ोस आत्माओं से मुक्त होता है। इसी प्रकार इनके अनुसार आत्मा मनुष्यों में ही नहीं वरन् समस्त चराचर में व्याप्त होती है। इतना ही नहीं आत्मा विशिष्ट शक्ति संपन्न होती है, इसका मनुष्य पर प्रभाव होता है वे दण्ड भी देती है और सहायता भी करती है। आत्मा कोई भी रूप धारण कर कोई भी कार्य कर सकती है। इन आत्माओं की सर्वोच्च शक्ति होती है जो अदृश्य होती है जिसे बोंगा या माना कहते हैं। यह बोंगा या माना वह शक्ति है जिसका आदेश आत्माएं भी मानती हैं। बोंगा बारिश लाती है, तूफान, बाढ़ सभी पर इसका नियंत्रण होता है। हो, मुण्डा इस पर विश्वास करते हैं। यह बोंगा बुरी आत्माओं का नाश करती है, महामारी रोकती है, नदियों को धारा, सांपों को जहर देती है, बाघों को ताकत देती है। इस प्रकार अतिप्राकृतिक अलौकिक विशिष्ट जीवन प्रदायिनी शक्ति है बोंगा जिस पर विश्वास जनजातीय धर्म की अपनी विशेषता है।

जनजातीय धर्म की अपनी विशेषता है प्रकृतिवाद। समस्त प्राणियों में आत्मा का अस्तित्व मानने का ही कारण था कि सूर्य, चंद्र, पहाड़, नदी, पेड़ आदि में आत्मा मानी गई और इन्हें शक्ति संपन्न माना गया और इसी के परिणामस्वरूप प्रकृति पूजा

की शुरुआत हुई। मुण्डा, हो संथाल, भील, मीणा, कंजर, सांसी, नट, बंजारा सभी इसी कारण प्रकृति पूजा करते हैं फिर प्रकृति पूजा का दूसरा कारण यह भी है कि इन जनजातियों का जीवन आज भी प्रकृति से ही संबद्ध है। जंगल, पहाड़ आदि सभी इनकी संस्कृति का ही नहीं इनकी परंपरा, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक समस्त जीवन का अकाट्य हिस्सा है।

इसी पूजा के संदर्भ में जनजातियों में मृतक पूजा का भी विधान पाया जाता है। इनका मानना है कि मनुष्य मृत्यु के बाद अतुलित शक्ति संपन्न हो जाता है और पूर्वज पूजा उस शक्ति को कुल की रक्षा हेतु प्रयुक्त करने के लिए की जाती है। इनका यह मानना कि मृतकों की आत्माएं ही मनुष्य का भाग्य निर्धारित करती है इस पूजा को और जरूरी बना देता है.। मृतक पूजा भय के कारण भी की जाती है ताकि मृतक की आत्मा इनका अनिष्ट न करे क्योंकि आत्मा पूजा द्वारा कार्यों को सफल करती है तो उन्हें बिगाड़ भी सकती है। "भीलों की पूर्वजपूजा त्यौहारों से जुड़ी होती है। मीणाओं में ग्राम संस्थापक को पूजा जाता है, दीपावली के दूसरे दिन श्राद्ध किया जाता है। मृत्यु भोज भी तिमाही, छमाही और सालाना किया जाता है। पिण्डदान का भी चलन है। नट व कालबेलिया भी श्राद्ध में विश्वास करते हैं। गाड़ोलिया लुहार भी हिंदुओं की इस मान्यता में विश्वास करते हैं।"[86] इस प्रकार यह मान्यता लगभग समस्त जनजातियों में पाई जाती है हिंदू मान्यता में पाए जाने का यह तात्पर्य नहीं है कि ये हिंदुओं से प्रभावित है या हिंदुओं से इन्होंने इसे अंगीकार किया है। क्योंकि जो जनजातियां आज भी घने जंगलों और दुर्गम स्थानों में रहती हैं उनमें यह मान्यता पाई जाती है।

प्रकृति पूजा, पूर्वज पूजा और जीवमात्र में आत्मा का अस्तित्व तथा हिंदू संपर्क जनजातीय धर्म में एक विशेषता और जोड़ देते हैं वह है बहुदेववाद। देवताओं में प्रत्येक का अलग विभाग माना जाता है। एक देवता खेत व फसल की रक्षा करता है, दूसरा गांव की रक्षा करता है, तीसरा परिवार या वंश की चौथा संपत्ति की, इसी तरह अन्य। भीलों के देवता हिंदुओं के समान है, इनकी संख्या भी काफी अधिक है। हनुमान, राम, कृष्ण, विष्णु, काली, महादेव, गणेश आदि को प्रमुख देवता के रूप में मानते हैं। मीणा शीतला माता, विष्णु आदि की पूजा करते हैं। सांसी व कंजर, विष्णु को मानते हैं। बंजारा समाज कृष्ण व लक्ष्मी पर श्रद्धा रखते हैं। इस प्रकार हिंदू देवी–देवताओं की मान्यता इनमें पाई जाती है। कृष्ण, विष्णु और इनके विविध रूपों में पूजा भक्ति आंदोलन की वैष्णव शाखा के प्रभाव के रूप में देखी जा सकती है। इन सबके अतिरिक्त इनके अपने देवता भी होते हैं। भीलों में देवी पूजा पर विशेष बल दिया जाता है। गांव की सीमा का देवता हिमारियो होता है। माता पन्थार, राजपन्था और वीना देव इनके प्रमुख देवता हैं। "इनके देवताओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है – 1. पहले प्रकार के वे जिनकी चेष्टा से संसार की अवस्था

सुधरी तथा भीलों का सुधार हुआ – राजपन्था, मातापन्थार व वीनादेव, दूसरे वर्ग में फसलों, पानी, ग्राम, आदि के देवता इसी में कष्टकारक व लाभकारी देवता आते हैं। तीसरे वर्ग में सूर्य, चंद्र, हनुमान, धरती, हिमारियो आदि आते हैं।"[87] इस प्रकार हिंदू या निकट के अन्य धर्मों से भिन्न इनके अपने देवता भी होते हैं। मीणाओं में गोत्र की देवी के साथ जोबनेर माता, जीणमाता, शीतलामाता, खेतरपाल, पंचवीर, जुझार बाबा को भी मानते हैं। "जोधा भगत तीन सती और कासोमोरा महत्वपूर्ण हैं जन्म, विवाह व मृत्यु के समय इन तीनों की पूजा की जाती है।"[88] सांसियों में रामापीर, मसानदेवी, तेतन, टोटो, जम्मू, कुल्का, सिधबीना और मियां (सर्पो के देवता) की भी पूजा सांप के काटने पर करते हैं। कंजरों में केसरिया, वेणेश्वर आदि, बंजारों में कुलदेवी तोलजाभवानी है। इस प्रकार तथाकथित सभ्य समाज से भिन्न इनके देवता होते हैं चूंकि यह समाज ही लोक का निर्माण करता है और इसी कारण इनके देवता भी लोक देवता होते हैं जिनकी सादगी उनके स्थान, पूजा पद्धति, वेशभूषा आदि के रूप में प्रकट होती है। "उनके अपने लोकदेवता हैं, जो पृथ्वी लोक से परे किन्हीं अदृश्य स्वर्गों या बैकुण्ठ के वासी न होकर इर्दगिर्द खेतों की मेड़ों, दरख्तों के तले नदी, नालों, तालाबों के किनारे, डुँगरियों–टोकरियों टीलों, पर रहते आए हैं। ये देवता आलीशान धर्म स्थलों में साज शृंगार के साथ नहीं दिखते और न ही इन्हें छप्पन योग परोसा जाता है। ये तो इन्हीं आदिवासियों, अधमानुष, जंगली, जाहिल, गंवार लोगों जैसे हैं। इन देवताओं में अधिकांश तो आदिवासियों के पितर पुरखे ही होते हैं। दुःख दर्द व खुशी के मौकों पर अपने जैसे देवताओं को भजते पूजते आए हैं। ये आदिवासी इन देवताओं से किसी पारलौकिक अमूर्त मोक्ष की कामना नहीं करते बस रोटी, कपड़ा, झोपड़ी का जुगाड़ होता रहे इतनी मनौती मांगते हैं। बेतरतीब चबुतरों, देवलों में माथा दिए आदिवासियों के इन देवताओं का अस्तित्व माना जाता है।"[89] इस प्रकार जनजातियों के धार्मिकजीवन, देवताओं, मान्यताओं, देवस्थानों की विशिष्टता परिलक्षित होती है।

देवताओं के साथ ही आत्माओं का अस्तित्व भी इनके द्वारा स्वीकारा जाता है और आत्माओं की भूमिका के आधार पर ही उनका विभाजन किया जाता है। आदिवासी समाज में आत्माओं को चार भागों में उनकी भूमिका के आधार पर बांटा जा सकता है। प्रथम प्रकार की आत्माएं संरक्षक होती हैं जैसे भीलों के ग्राम देवता हिमारियो जो ग्राम की रक्षा करते हैं। मीणाओं में जोबनेर माता। दूसरे प्रकार की आत्माएं वे हैं जो उदार या दयावान होती है। इस संदर्भ में इनका मानना है कि ये आत्माएं सर्वत्र पाई जाती है, पेड़ पशु, पक्षी, पत्थर, झरना किसी भी रूप में। पूजा न करने पर इनकी भूमिका बदल जाती है और ये कष्ट, बीमारी, मृत्यु, बर्बादी आदि देने लगते हैं। इसी आधार पर तीसरे प्रकार की आत्माएं होती है जो बीमारी की अधिपति होती है। मृत्यु का कारण, बुखार, चेचक आदि सभी का कारण बुरी आत्माएं मानी

जाती हैं। चौथी प्रकार की आत्मा पूर्वजों की आत्मा होती है जो पथ प्रदर्शक व उदार होती है, वंश की सहायता करती हैं।

इस प्रकार आत्माओं के विशिष्ट प्रकार और उनके द्वारा कष्ट देने की संभावना सामने आई तो मनुष्य ने पूजा व बलि को आत्मा को प्रसन्न करने के साधन के रूप में अपनाया। इसी कारण उन्होंने विशिष्ट व्यक्तियों को इस पूजा के लिए नियुक्त किया, विशिष्ट पूजा पद्धति अपनाई।

वैसे तो जनजातियों में आत्मा का अस्तित्व सर्वत्र माना जाता है लेकिन पवित्र कार्यों (पूजा बलि) को करने के लिए तथा देवता, आत्मा का प्रतिनिधित्व कराने के लिए विशिष्ट स्थान निर्धारित कर दिए जाते हैं। पवित्र क्षेत्र के अंतर्गत वह सारा क्षेत्र आता है जहां तक देवता का अस्तित्व है या शक्ति क्षेत्र है और पवित्र केंद्र वह स्थान है जहां देवता की प्रतिनिधि वस्तु रखी जाती है, स्थायी की जाती है और जहां पूजा होती है।

पवित्र क्षेत्र के अंतर्गत पूरा ग्राम सम्मिलित किया जाता है क्योंकि इनकी मान्यतानुसार इनके देवता व आत्माएं सर्वत्र व्याप्त हैं। घरेलु देवता जो पूर्वज की आत्मा होती है उसे घर में स्थान दिया जाता है। जंगल देवता को जंगल के पास। ग्राम देवता ग्राम के मध्य भाग या बाहरी भाग में स्थापित किए जाते हैं उसी स्थान पर पूजा होती है। भीलों में लकड़ी की मूर्ति जिसे बिसेन कहते हैं ग्राम के बाहर रक्षक के रूप में स्थापित की जाती है जिसकी वर्ष में एक बार पूजा की जाती है। कंजरों में पूजा किसी पेड़ विशेष के नीचे की जाती है। स्थायी जनजातियों से भिन्न घुमक्कड़ जनजातियों में पवित्र स्थान बदलते रहते हैं यही कारण है कि किसी भी पेड़ के नीचे पूजा कर ली जाती है, वहां भीलों या मीणाओं जैसी स्थायी जनजातियों की तरह ग्राम नही बसाए जाते अतः ग्राम देवता की भी स्थापना नहीं की जाती।

पवित्र कार्य अर्थात् पूजा, बलि आदि का कार्य विशिष्ट व्यक्ति द्वारा किया जाता है। इसी आधार पर प्रत्येक जनजाति में पुजारी होता है। ये पुजारी भिन्न–भिन्न जनजातियों में भिन्न–भिन्न नामों से जाने जाते हैं। भीलों में बदावा, कंजरों में भोपा आदि।

इन पवित्र व्यक्तियों द्वारा बलि आदि कार्य किए जाते हैं। बलि प्रथा समस्त जनजातियों में पाई जाती है। बलि अण्डों से लेकर भैंसों तक की दी जाती है। पूजा में सिंदूर, चावल आदि के साथ शराब व मांस भी प्रयुक्त होता है। पुजारी आत्माओं का आह्वान करता है और विभिन्न मनोकामनाओं की पूर्ति हेतु बलि देता है। भीलों में गर्भरक्षा हेतु बलि दी जाती है। बंजारों में लक्ष्मी पूजा के बाद दीवाली की रात को बकरे की बलि दी जाती है। कंजर भी पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए मुर्गा, दारु,

आदि का प्रयोग करते हैं। सांसी बच्चों के बीमार पड़ने पर मसान देवी की पूजा करते हैं और सूअर की बलि चढ़ाते हैं।

जनजातीय धर्म व्यवस्था में कुछ निषेध भी माने जाते हैं जिसके तहत कुछ वृक्षों, पादपों, पशुओं आदि को मारना या काटना मना होता है। इसी प्रकार कुछ विशिष्ट कार्य करने भी मना होते हैं। इसी तरह इनकी मान्यताओं में शगुन आता है जिसके तहत ये शगुन अपशगुन पर विश्वास करते हैं। प्रत्येक जनजाति की जिस प्रकार भिन्न पूजा पद्धति, भिन्न देवता, भिन्न स्थान, भिन्न पुजारी होते हैं उसी प्रकार उनकी शगुन–अपशगुन और निषेध संबंधी मान्यताएं भी भिन्न होती हैं। टोटमी व्यवस्था के अंतर्गत मान्यता यह है कि जनजातियां स्वयं को पादप या पशुओं से संबद्ध मानती हैं एक प्रकार से वे उन्हीं से स्वयं को उत्पन्न मानती है और उनका मानना है कि वे टोटमी पशु या पादप उनके पूर्वजों व वंशजों की रक्षा व मदद करते हैं। टोटम के प्रति उनका रहस्यमय संबंध होता है वे उसके प्रति सम्मान रखते हैं, उसे नुकसान नहीं पहुंचाते और टोटमी पशु के बीमार होने पर रक्षा करते हैं और उन्हें बंदी नहीं बना सकते, उस टोटमी वृक्ष को काट नहीं सकते। मृत्यु होने पर परिवार के सदस्य की भांति संस्कार पूर्वक अंतिम संस्कार करते हैं। जनजातियों में गोत्रें टोटमी आधार पर विभक्त रहती है। प्रत्येक गोत्र का टोटम होता है। टोटम के प्रति निषेध रहता है। भील, मीणा, नट आदि पीपल, वट आदि को नहीं काटते। कंजर भी पीपल को विशेष सम्मान देते हैं वहां पीपल की झूठी कसम भी नहीं खाई जाती। बंजारों में गाय पूजा तथा ईश्वर के नाम पर सांड छोड़ जाता है जिसे मारना व बंधक बनाना पाप माना जाता है। मीणा काला हिरन नहीं खाते।

टोटम के समान ही जनजातियों में टेबू या निषेध पाया जाता है जिसके अंतर्गत किंन्हीं कार्यों को करने की मनाही होती है। टेबू की वस्तु में एक शक्ति मानी जाती है। मध्यप्रदेश के गोण्ड रजस्वला स्त्री को नहीं छूते उनके अनुसार इससे फसल नष्ट हो जाएगी। कंजरों में सास या बहू का घाघरा यदि पुरुष से छू जाए तो वह जाति बाहर हो जाता है। इसी के चलते भीलों में यह मान्यता घर कर गई है कि जुड़वा बच्चे हानिकारक होते हैं, यम का रूप होते हैं और उसे तुरंत नष्ट कर देना चाहिए। गुदना गुदाना इसी मान्यता का हिस्सा है।

शगुन इसी अंधविश्वासी आस्था का रूप है। शगुन प्रत्येक जनजाति के भिन्न–भिन्न होते हैं। गाय द्वारा रास्ता काटना शुभ और सांप या गधे द्वारा रास्ता काटना अशुभ माना जाता है। सियार का रोना अशुभ माना जाता है कंजरों में। खंजन पक्षी मीणाओं के लिए शगुन का पक्षी है। ये बकरी की जीभ का मांस शुभ शगुन मानते हैं। हाथी की चिंघाड़ अशुभ मानते हैं।

इसी प्रकार जनजातियों के धार्मिक जीवन में पवित्र स्थल या तीर्थ की भी मान्यता पाई जाती है। राजस्थान के संदर्भ में जनजातियों का पवित्र तीर्थ स्थल वेणेश्वर माना जाता है। हिंदू प्रभाव के चलते भील, मीणा, नट कंजर, सांसी आदि अस्थि विसर्जन गंगा में करते हैं और गंगा, यमुना आदि को पवित्र मानते हैं। कंजरों के लिए पुष्कर व केसरिया जी, गौतम जी पवित्र तीर्थ हैं। मीणा मथुरा व वृंदावन को तीर्थ मानते हैं। इन हिंदू तीर्थ स्थलों की मान्यता के साथ ही इन जनजातियों के अपने तीर्थ भी होते हैं भील, मीणा व कंजरों के लिए वेणेश्वर प्रसिद्ध तीर्थ स्थल हैं "कंजरों के लिए महाराष्ट्र में तोलजापुर, मीणाओं के लिए सीकर में जीणमाता, जोबनेर, सांसियों के पीर सखी सुल्तान की मजार नाघा, फलौदी, बिबरैन, बजरंगनाथ ज्वालामुखी, नौखेरा पवित्र स्थान है।"[90]

इसी प्रकार इनके धार्मिक पर्व भी हिंदू मान्यता से प्रभावित होने के बावजूद विशिष्ट भी हैं।

इस प्रकार जनजातियों का धार्मिक जीवन अपने आप में विशिष्ट होता है। उनकी धार्मिक मान्यताएं, विश्वास, आस्था, धार्मिक रीतियां, पूजा–पद्धति, पूजा स्थान, देवता आदि सभी में उनका यह वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। अन्य धर्मों के सामीप्य का प्रभाव भी इन पर दिखाई देता है और गहरे स्तर तक है लेकिन फिर भी उनका धर्म अनेक बातों में अपने मूल स्वरूप के निकट ही प्रतीत होता है। देवता, उनका स्थान और उनकी पूजा पद्धतियां, बलि, जादू, और शगुन–अपशगुन उनके मूलस्वरूप को दर्शाते हैं। जनजातियों के धार्मिक जीवन की इस विशिष्टता के साथ यह भी सत्य है कि जिस प्रकार जनजातियों का धार्मिक जीवन तथाकथित सभ्य समाज के धार्मिक जीवन से भिन्न है उसी प्रकार एक जनजाति की मान्यताएं और विश्वास दूसरी जनजाति से भिन्न होती है। यह भिन्नता एक जनजाति के विभिन्न समूहों में भी हो सकती है। इन सबके बावजूद जनजातियों के धार्मिक जीवन की कुछ विशिष्टताएं होती हैं जो उस भिन्नता में भी एकता की सूचक होती है और ये विशिष्टताएं तथाकथित सभ्य समाज से भिन्न उनका अपना आदिम स्वरूप लिए हुए होती है। इसी कारण आदिवासी धार्मिक जीवन कहा जाता है, जो तथाकथित सभ्य समाज से भिन्नता का सूचक है।

राजस्थान का जनजातीय जीवन : आर्थिक पक्ष

आदिवासी समाज भौतिक दृष्टि से सदैव पिछड़ा रहा है। प्रारंभिक काल में आर्यों के आगमन के समय और तदंतर अनेक बाहरी आक्रांताओं के आक्रमण के समय इनके पराजित होने का प्रधान कारण इनका प्रौद्योगिकी की दृष्टि से पिछड़ापन ही था। जनजातीय समाज की प्रवृत्ति संग्रहण की नहीं रही, ये भूख के अनुसार भोजन लाते थे। सभ्य समाज से संपर्क और सांस्कृतिक संघर्ष के कारण अस्तित्व की

रक्षा हेतु इन्होंने भी आर्थिक कार्यकलाप शुरु किए। बाहरी आक्रांताओं द्वारा इन्हें मूल स्थानों से भगाया गया इस कारण आर्थिक क्रियाकलाप भी उतना आसान नहीं रह गया। समय का प्रभाव और आर्थिक दबाव के चलते ये खाद्य संग्राहक से अस्थाई कृषक बने, फिर स्थायी कृषक, बाद में खेतिहर मजदूर से औद्योगिक मजदूर तक विविध स्तरों को अपनाया। आज जनजातियों का आर्थिक जीवन विविध पक्षीय है लेकिन इनकी अर्थव्यवस्था का आदिम रूप कमोबेश रूप से आज भी विद्यमान है।

जनजातियों की आर्थिक स्थिति के बारे में मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप की रिपोर्ट बताती है कि 85 प्रतिशत जनजातियां प्रशासन द्वारा निर्धारित गरीबी रेखा से निम्न स्तर का जीवन व्यतीत कर रही हैं। आदिवासियों में 9 प्रतिशत को अपनी पारंपरिक जमीन छोड़नी पड़ी। पारंपरिक जमीन छोड़ने का क्रम तो प्राचीन काल से ही चला आ रहा था उस समय इन्होंने दुर्गम स्थानों व जंगलों की शरण ली लेकिन ब्रिटिश सरकार की नीतियों द्वारा इनकी जमीन व जंगलों पर अधिकार कर लिया गया इनको वनोपज लेने से मना कर दिया गया। जंगल जो उनकी आजीविका ही नहीं संस्कृति का भी हिस्सा थे उन पर सरकारी नियंत्रण कर न केवल वनोत्पाद लेने से मना किया गया बल्कि उन्हें अपने क्षेत्रों से बेदखल किया गया। आर्थिक जीवन जनजातियों की संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा है और आर्थिक जीवन की समझ द्वारा उनकी संस्कृति को समझा जा सकता है।

"आदिवासियों की अर्थव्यवस्था में उत्पादन का ढांचा परंपरागत स्वदेशी और विशिष्ट है। यहां उत्पादन का ढांचा एक इकाई के रूप में है क्योंकि जनजाति एक इकाई है। इनमें वितरण का प्रभाव अदल–बदल या नाममात्र मुद्रा में संबंधित है। ये उत्पादक भी हैं और उपभोक्ता भी।"[91] ललिता प्रसाद विद्यार्थी द्वारा बताई गई अर्थव्यवस्था उन आदिवासियों की व्यवस्था की ओर संकेत करती है जो अभी भी दुर्गम स्थानों में रह रहे हैं। बहुत सी ऐसी जनजातियां जिनका जीवन तथाकथित सभ्य समाज से निरंत संपर्क में रहता है वहां आर्थिक व्यवस्था भिन्न प्रकार की पाई जाती है। संपर्कशील जनजातियों में बिना मुद्रा के काम नहीं चल सकता और दूसरी तरफ कबीलों में यद्यपि आर्थिक क्रियाकलाप में सहयोग की भावना रहती है पर उत्पादक को ही उपभोक्ता माना जाता है अर्थात् जो कार्य करता है उसी का हिस्सा होता है उत्पादन में, अन्य का नहीं। इसके साथ ही प्रत्येक परिवार की अपनी आर्थिक संरचना होती है। उपर्युक्त विशेषताएं घुमक्कड़ जनजातियों में पाई जाती है। घुमक्कड़ जनजातियां कबीलों में रहती हैं, तथाकथित सभ्य समाज से निकट संपर्क भी लगातार रहता है इस कारण मुद्रा का अभाव या केवल विनिमय द्वारा वितरण संभव नहीं है। इसी प्रकार आर्थिक क्रियाकलाप चाहे वह नाच–गान हो या अन्य उसमें कार्य करने वाले व्यक्ति का ही हिस्सा होता है अन्य का नहीं (चोरी करने जाने वालों में भी यही नियम था) लेकिन फिर भी सभ्य समाज से भिन्न इनमें

सहयोग की भावना के आधार पर काम किया जाता है प्रत्येक कबीला एक इकाई होता है।

तथाकथित सभ्य समाज से उनकी भिन्नता इस रूप में है ये आर्थिक व्यवसाय की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। यह पिछड़ापन साधन व तकनीक का ही नहीं आर्थिक ढांचे व प्रणाली का भी है। इनके पास साधारण तकनीक होती है जिसका प्रयोग आर्थिक क्रियाकलाप में करते हैं। भील जनजाति यद्यपि कृषि द्वारा आजीविका चलाती है लेकिन उनके औजार प्राचीन हैं।

तकनीकी दृष्टि से पिछड़ेपन के साथ आदिवासी अर्थव्यवस्था की दूसरी विशेषता जंगलों पर निर्भरता है। जनजातियों के आर्थिक ही नहीं वरन् सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में भी जंगल की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। "जंगलों से ही जड़ें, फूल, फल, सब्जी, शहद, कीड़े, मछली, कबूतर, मुर्गे, व अन्य पक्षी, बंदर, खरगोश आदि प्राप्त करते हैं। बिरहोर (बिहार) चेंचू (आंध्रा) आदि सभी जंगलों पर ही निर्भर हैं। भील भी महुआ व बीड़ी हेतु जंगलों पर आश्रित हैं।"[92] घुमक्कड़ जनजातियां, नट, कंजर, सांसी आदि जंगलों से जड़ी बूटियां एकत्र करते हैं जिसका उपयोग वे चिकित्सा में करते हैं।

जनजातियों की अर्थव्यवस्था की तीसरी विशेषता है सहयोग की भावना या एकीकृत आर्थिक प्रयास। भील, मुण्डा आदि के साथ–साथ घुमक्कड़ जनजातियों में जहां मुखिया की व्यवस्था होती है और जहां जनजाति एक बस्ती या समूह के रूप में रहते हैं वहां सहयोग की भावना द्वारा आर्थिक कार्य किए जाते हैं। मजदूरी व कार्य लिंग व आयु के आधार पर बांटे जाते हैं। भीलों में महिलाएं घर का कार्य व जंगल से लकड़ी एकत्र करती हैं, पुरुष शिकार व अन्य कार्य करते हैं।

जनजातियों में बच्चे जल्दी आत्मनिर्भर हो जाते हैं और अभिभावकों के साथ आर्थिक क्रियाओं में सहयोग करते हैं। नट, बंजारा, कालबेलिया आदि में करतब में बच्चे भी माता, पिता का साथ देते हैं। पूरा परिवार एकीकृत प्रयास करता है। बड़ी जनजातियों में शिकार इसी भावना से किया जाता है। भीलों में खेत तैयार करना, जोतना, खोदना, शहद एकत्रण पुरुष करता है स्त्रियां घर के कार्य, विवाह के कार्य करती हैं, बच्चे पशु चराने चले जाते हैं। पश्चिमी भारत के भील एक दूसरे की बुवाई और फसल कटाई में मदद करते हैं। खेती करने, पशु चराने, गृह निर्माण, छत डालने आदि सभी कार्यों में परस्पर सहयोग से कार्य किया जाता है।

जनजातियों की अर्थव्यवस्था हाशिए की अर्थव्यवस्था है जिसमें व्यक्ति अस्तित्व हेतु विविध प्रकार के कार्य करता है उनका अपना कोई निश्चित व्यवसाय नही होता न ही आर्थिक तंत्र। जनजातियां और खास तौर पर घुमक्कड जनजातियां

एक ही समय में जीविका हेतु भिन्न–भिन्न कार्य करती हैं। "तथ्य यह है कि एक जनजाति सभी तरह के धंधे अपनाती है जीवन निर्वाह हेतु। शिकार से लेकर शहद एकत्रण तक, कबाड़ एकत्रण के साथ शिकार तथा स्थानांतरण कृषि के साथ पशुपालन। इस प्रकार निम्न संस्कृति में आर्थिक जीवन निर्वाह के लिए मिश्रित स्थिति पाई जाती है।"[93]

भारतीय जनजातियों के आर्थिक स्तर पर चर्चा की जाए तो एक बात स्पष्ट होती है कि भारत में भिन्न–भिन्न जनजातियों का आर्थिक स्तर भिन्न–भिन्न है। यहां खाद्य संग्राहक से लेकर नौकरीपेशा तक जनजातियां पाई जाती हैं। कुछ जनजातियां कृषि द्वारा जीविका चलाती हैं, भील, मीणा, डामोर, कोली, ठाकुर आदि इसी श्रेणी में आते हैं इनके तरीके आदिम व पिछड़े हैं। बहुत सी जनजातियां हस्तकला द्वारा ही अपनी आजीविका चलाती हैं ये झोपड़ी, टोकरी, औजार आदि बनाती हैं। गाडोलिया लुहार लोहे के औजार बनाते हैं। कंजर "चटाई, टोकरी व खजूर के पंखे बनाते हैं। खिलौने व मूंज घास व पलाश से रस्सियां बनाते हैं, चमड़ा तैयार करते हैं। ढोल बनाते हैं, पत्तियों की थालियां, सींख की चटाई, झोपड़ी की छत, ताड़ से ताड़ी आदि बनाते हैं, इसी तरह पत्थर तराशकर चक्की बनाते हैं और घोड़े की पूंछ के बाल से ब्रश भी बनाते हैं।"[94]

जनजातियों के आर्थिक क्रियाकलापों या आय के साधनों में लोककला भी आती है। कुछ जनजातियां नाच–गाकर या करतब दिखाकर आजीविका चलाती हैं। नट, सपेरा, ओझा, भाट, मदारी, कालबेलिया आदि इसी तरह की जनजातियां हैं। कंजर स्त्रियां और बंजारे भी नाच–गाकर, वाद्य यंत्र बजाकर अपनी आजीविका चलाते हैं।

जनजातियों के अर्थोपायों में खेतिहर और अखेतिहर मजदूरी भी प्रमुख है। बहुत संख्या में जनजातियों के लोग जो परंपरागत रूप से कृषक और कलाकार वर्ग में आते थे ने आर्थिक व्यवस्था को सुधारने हेतु कर्मचारी या मजदूर का आर्थिक जीवन अपनाया ताकि कुछ दैनिक वेतन मिल जाए। ये कृषि और अकृषि दोनों क्षेत्रों में मजदूरी करते हैं कंजर दैनिक मजदूरी हेतु मकान निर्माण कार्य में जाते हैं। सांसी जानवर पालते हैं और मरने पर हड्डियां एकत्र करते हैं, ये शराब भी बनाते हैं, पुरुष जूते भी बनाते हैं। कुछ सांसियों में अवैध दारु बनाना और व्यभिचार करना भी आय का साधन है। कुछ सांसी साईकिल ठीक करते हैं।"[95] इसके अतिरिक्त जनजातियों में वर्तमान में आय का साधन नौकरी व व्यापार भी हो गया है कुछ खास जनजातियां जैसे मीणा आदि नौकरीपेशा हो गई हैं इसी तरह बंजारा जनजाति शुरू से ही व्यापारी रही हैं।

इस प्रकार जनजातियों की आय के विविध साधन हैं और जनजातियां भिन्न–भिन्न आर्थिक स्तर पर जीवन यापन कर रही हैं। प्रत्येक जनजाति का अपना खास आर्थिक प्रकार है, प्रत्येक की आजीविका के अपने तरीके हैं जो उनके वातावरणिक कारकों पर निर्भर है। इसके साथ यह भी सत्य है कि कोई जनजाति किसी खास व्यवसाय या आर्थिक धंधे में ही लिप्त हो यह भी जरूरी नहीं अर्थात् आय का साधन कोई एक नहीं है। भील शहद एकत्रण करते हैं, कृषि करते हैं, पशुपालन आदि भी करते हैं। कंजर, सांसी, नट, बंजारा आदि वाद्ययंत्र बजाकर, नाचगाकर आजीविका चलाते हैं। कंजर टोकरी बनाने से लेकर जूती गांठने व शराब बनाने तक का कार्य करते हैं। सांसी मांगकर भी आजीविका चलाते हैं। कंजर, बंजारा, नट आदि जंगलों से जड़ी–बूटी एकत्र कर चिकित्सा द्वारा भी आजीविका चलाते हैं।

इस प्रकार जनजातियों का आर्थिक जीवन अपने आप में विशिष्ट है। जो जनजातियां जगलों तक सीमित रह गई उनकी अर्थव्यवस्था खाद्य संग्रहण और शिकार तक ही सीमित रह गई जबकि तथाकथित सभ्य समाज के संपर्क और वर्णाश्रयी समाज में शामिल की गई जनजातियों की अर्थव्यवस्था सेवा और मनोरजंन जनित कार्यों तक रही। आजाद भारत में बहुत सी जनजातियों का आर्थिक स्तर सुधरा और वे नौकरीपेशा हो गई। इस प्रकार जनजातियों की अर्थव्यवस्था के विविध स्तर पाए जाते हैं।

इसी संदर्भ में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जनजातियों की अर्थव्यवस्था को किसी निश्चित प्रकार में नहीं बांटा जा सकता। एक ही समय में एक जनजाति द्वारा भिन्न–भिन्न कार्यों द्वारा आजीविका चलाई जाती है और समस्त जनजातियां किसी एक वर्ग में भी सम्मिलित नहीं की जा सकती। फिर भी इनकी अर्थव्यवस्था के कुछ खास तत्व जैसे सहयोग भावना, एकलप्रयास, जंगल पर निर्भरता, किसी खास आय के साधन का अभाव, तकनीक अभाव आदि तत्व इनकी अर्थव्यवस्था को तथाकथित सभ्य समाज की अर्थव्यवस्था से भिन्न और विशिष्ट बनाते हैं। इस प्रकार जनजातियों का आर्थिक जीवन भी अपने आप में विशिष्ट होता है और इस विशिष्टता पर भौगोलिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह भिन्नता और विशिष्टता एक जनजाति से दूसरी जनजाति में ही नहीं बल्कि एक जनजाति के विभिन्न समूहों में भी होती है।

राजस्थान का जनजातीय जीवन : राजनीतिक पक्ष

राजनीतिक जीवन का संबंध प्रत्येक जनजाति में नियम व्यवस्था बनाए रखने, उसके सदस्यों में सामंजस्य रखने, नियंत्रण करने व पारस्परिक संबंधों को सुचारु रूप से चलाने से है। जनजातियों में नियंत्रण की यह व्यवस्था मुखिया, पंचायत

आदि के माध्यम से की जाती है। जो गोत्र, समूह, ग्राम और क्षेत्रीय स्तर पर होते हैं। भिन्न–भिन्न जनजातियों की राजनीतिक व्यवस्था भिन्न–भिन्न है इसी के साथ जनजातियों की राजनीतिक व्यवस्था तथाकथित सभ्य समाज से भी भिन्न है। "भारत की जनजातियां अपनी भिन्न औद्योगिक दशाओं, परिस्थितिकीय परिवेशों के कारण अपनी भिन्न राजनीतिक व्यवस्था को प्रदर्शित करती हैं।.... भारत की जनजातियां अब एक अखण्ड जनसमूह नहीं हैं बल्कि विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों के अंतर्गत रहने वाले विविध सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समूहों का संग्रह है। इस आश्चर्यजनक विविधता के फलस्वरूप इन जनजातियों ने राजनीतिक संगठनों का एक विस्तृत क्षेत्र विकसित कर लिया है।"[96] जनजातियों की क्षेत्रीय सीमा होती है। जनजातियों का संगठन रक्त संबंध तथा वैयक्तिक संबंधों पर आधारित होता है उनके यहां राजनीतिक व घरेलू मामलों में अंतर कर पाना भी कठिन होता है। "जनजातियों का राजनीतिक संगठन विविध प्रकार का होता है। व्यक्तियों, बुजुर्गों, परिवारों, एक गोत्र समूह, एक गांव, एक जनजातीय क्षेत्र का संयुक्त या एकल किया हुआ संगठन होता है। जनजाति की राजनीतिक विशेषता उसके राजनीतिक संगठन के आधार पर देखी जा सकती है। मोटे तौर पर तीन राजनीतिक संगठन होते हैं – 1. गोत्र या वंश आधारित, 2. ग्राम आधारित राजनीतिक संगठन, 3. क्षेत्र के ग्रामीणों का समूह।"[97] इसी तरह जनजातियों का राजनीतिक संगठन परंपरागत व आधुनिक दोनों तरह का होता है। परंपरागत आधार पर राजनीतिक संगठन में पांच स्तर या तत्व हैं, 1. वृद्धों की परिषद, 2. ग्राम मुखिया, 3. ग्राम पंचायत, 4. परगना पंचायत, 5. जनजातीय मुखिया। इस प्रकार राजनीतिक संगठन गोत्र, ग्राम व क्षेत्रीय स्तर पर होता है। गोत्र या समूह स्तर पर वृद्धों की अस्थाई परिषद् होती है जिसकी बैठक समय पड़ने पर की जाती है अन्यथा नहीं। इसका दायित्व विभिन्न सामाजिक मामलों को सुलझाना है।

प्रत्येक जनजातीय समूह किसी न किसी मुखिया के अधीन होता है। यह बाहरी व्यक्तियों से व्यवहार के समय जनजाति का प्रमुख वक्ता होता है। इसका पद वंशानुगत होता और सामान्यतः ग्राम के सबसे बड़े गोत्र समूह से संबंधित होता है। यह ग्रामीण जनजातीय समूह के परंपरागत मूल्यों को संरक्षित रखता है। इस प्रकार ग्राम स्तर के इस राजनीतिक संगठन में मुखिया की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। "यह अपने सहयोगियों से मिलकर कार्य करता है जो भिन्न–भिन्न जनजातियों में भिन्न–भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। छोटी जनजातियों में ग्राम के धार्मिक, राजनीतिक व सामाजिक कार्य एक ही व्यक्ति द्वारा किए जाते हैं किंतु बड़ी जनजातियां संथाल, मुण्डा, भील आदि में अलग व्यक्ति होता है प्रत्येक कार्य के लिए।"[98]

भीलों में मुखिया को बसाऊ कहते हैं जो वंशानुगत होता है। भीलों के अतिरिक्त लोग भी उनके पास सहायता के लिए जाते हैं। भीलों का मानना है कि ईश्वर भी उससे सहायता व सलाह मांगने आता है। बंजारों में भी मुखिया होता है। प्रमुख रूप से ताण्डों के स्तर पर। तांडा सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक इकाई होता है समस्त मामलों में। मुखिया (नायक) तांडा के लोगों पर नियंत्रण रखता है। तांडे में 6 से 20 परिवार होते हैं जो रक्त संबंधी होते हैं, चरित्र, नियंत्रण व नेतृत्व की क्षमता के आधार पर वह समूह द्वारा चुना जाता है।

मुखिया की व्यवस्था भील, मीणा, कंजर, सांसी, नट, बंजारा समस्त जनजातियों में पाई जाती है। भील, मीणा आदि में वह ग्राम स्तर पर होता है जबकि घुमक्कड़ जनजातियों में वह समूह स्तर पर होता है क्योंकि जनजातियां स्थायी नहीं रहती अतः ग्राम का सवाल ही नहीं उठता दूसरी ओर इनका संगठन भी भील, मीणाओं से भिन्न होता है। जहां भीलों व मीणाओं जैसी बड़ी जनजातियों में ग्रामों में विभिन्न गोत्र समूह रहते हैं वहीं नट, कंजर आदि में घुमक्कड़ कबीला एक ही गोत्र का होता है इसी कारण यहां ग्राम स्तर पर मुखिया होता है जो किसी बड़ी गोत्र का होता है जबकि घुमक्कड़ों में गोत्र स्तर पर (या समूह स्तर पर)। कंजरों में वृद्धज्ञानी को मुखिया बनाया जाता है "मीणाओं में ग्राम स्तर पर पंच होता है जो सामाजिक मामले व झगड़े निपटाता है।"[99]

मुखिया के साथ–साथ जनजातियों में पंचायत की भी व्यवस्था होती है। यह एक शक्तिशाली व प्रभावी संस्था होती है इसके निर्णय समस्त सदस्यों द्वारा स्वीकार होते हैं। पंचायत विभिन्न प्रकार के सामाजिक व़ नैतिक मामलों में निर्णय देती है। पंचायत तलाक के मामलों में, तलाक के बाद वधू मूल्य वापस दिलाने, विवाह का खर्च दिलाने, कन्या मूल्य निर्धारित करने, लूट के हिस्से की बांट आदि मामलों में निणर्य देती हैं। पंचायत दण्ड देती है साथ ही व्यवस्था भी करती है। सांसियों में जब तक पति जेल से न आए तब तक स्त्री पर किसी अन्य पति का अधिकार रखना स्त्री को वापस पहले पति के पास भेजना, काम संबंधी मामलों में पंचायत निर्णय देती है। विभिन्न सामाजिक कार्यों, जन्म, शादी, छठी, मुण्डन, मृत्यु आदि में व्यय करने और परंपरा का निर्वहन करवाने का दायित्व भी पंचायत का ही होता है। "अगर कोई व्यक्ति व्यय नहीं कर पा रहा है तो पंचायत उसके लिए उधार की व्यवस्था करती है, उस पर परंपरा निर्वाह के लिए दबाव डालती है।"[100] पंचायत अतिथि सत्कार से इंकार, व्यभिचर, चोरी, जादू–टोना, ग्राम में शादी आदि मामलों में दण्ड का विधान करती है। दण्ड आर्थिक जुर्माने के रूप में भी हो सकता है और दोषी को जाति बाहर भी किया जा सकता है। पंचायत द्वारा दोष सिद्धि परीक्षा भी करवायी जाती है। किसी देवता या पवित्र वस्तु की सौगंध दिलाकर सच्चाई सामने लाने का प्रयत्न किया जाता है। सांसियों में गर्म लोहे की प्लेट या तवा हाथ में

रखकर परीक्षा की जाती है। पंचायत अधिकांश मामलों में दण्ड आर्थिक रूप में ही देती है। "मीणाओं में छोटे–छोटे मामलों में माफी दे दी जाती है अन्यथा दण्ड अर्थ के रूप में होता है। बंजारों की पंचायत नसाब कहलाती है। कंजरों में पंचायत का भी उपर्युक्त दायित्व है। सांसियों में इसे न्यात पंचायत कहा जाता है। यह पीड़ित पक्ष द्वारा बुलायी जाती है पर दोनों पक्षों को उसका खर्च उठाना पड़ता है।"[101]

जनजातियों में ग्राम स्तर से ऊपर क्षेत्रीय या परगना स्तर पर भी पंचायत होती है जो मुखिया के अधीन होती है। कुछ जनजातियों में गांवों का समूह एकत्र होता है जिसमें 200 या अधिक ग्राम होते हैं परगना पंचायत अपीलीय न्यायालय के समान होता है।

मीणाओं में ग्राम स्तर पर पंच होता है और पंचों का मुखिया पटेल होता है। सांसियों में जाति परिषद् ग्राम व क्षेत्रीय दोनों स्तरों पर होती है। भीलों में भी क्षेत्रीय परिषद होती है। "पश्चिम भारत में ग्राम संगठन के अलावा भीलों का वृहद क्षेत्रीय संगठन होता हो जो 10 से 12 ग्राम का होता है यह देशमुख द्वारा नेतृत्व किया जाता है। यह प्रदेश का वक्ता होता है। ... इसी प्रकार मारवाड़ के बंजारों में ग्राम मुखिया से ऊपर क्षेत्रीय परिषद होती है यह न्यात कहलाती है जो विभिन्न ताण्डों के मुखियाओं की परिषद होती है जो किसी क्षेत्रीय समूह या पट्टी के होते हैं। न्यात बंजारों के लिए अंतिम अपीलीय न्यायालय होता है जो ताण्डों के मुखियाओं के निर्णय से संतुष्ट नहीं होता उसके लिए। ये अन्तर्ताण्डा और अंतर्पट्टी के मामलों में निर्णय देते हैं।"[102]

इसी प्रकार जनजातियों में एक अधिपति भी पाया जाता है वह समस्त जनजातियों में नहीं पाया जाता और दूसरी तरफ जनजातियों के क्षेत्रीय विस्तार के चलते इसका अस्तित्व भी कम हो गया है।

उपर्युक्त परंपरागत राजनीतिक संगठन के साथ वर्तमान में नया राजनीतिक संगठन सक्रिय हो रहा है। पश्चिमी भारत में संवैधानिक ग्राम पंचायत के चलते जनजातीय पंचायत की शक्ति में कमी आई है। लेकिन जनजातीय पंचायत दैनिक मामलों में अभी भी निर्णय देती है। राजस्थान में नया राजनीतिक संगठन विशेष रूप से सामने आया है क्योंकि यहां की जनजातियां तथाकथित सभ्य समाज के निरंतर संपर्क में रहती है। साथ ही शिक्षा और आधुनिक चेतना के कारण वर्तमान में सामाजिक व धार्मिक कार्य पंचायत द्वारा किए जाते हैं लेकिन बड़े विवाद न्यायालयों में सुलझाए जाते हैं खासतौर से मीणाओं में। इस प्रकार जनजातीय राजनीतिक संगठन की शक्तियों में कमी आई है उनका प्रभाव केवल सलाहकारी और समझौतापरक ही रह गया है।

इस प्रकार जनजातियों का राजनीतिक संगठन वंश, गोत्र व ग्राम के साथ क्षेत्रीय व जनजातीय स्तर पर होता है। प्रत्येक जनजाति रक्त संबंधों पर आधारित समुदाय होता है जिसमें आपसी मामलों व विवादों को सुलझाने और परंपरा के समुचित निर्वहन के लिए समय–समय पर राजनीतिक संगठन की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। यहां गोत्र, ग्राम, क्षेत्रीय व जनजातीय स्तर पर इन संगठनों की व्यवस्था होती है।

जनजातियों का राजनीतिक जीवन इस कारण विशिष्ट होता है कि इनके यहां पद वंशानुगत होता है उसका निर्णय बाध्यकारी होता है। इसके साथ ही इनके राजनीतिक जीवन की विशेषता ईश्वर में आस्था भी है उसी के कारण पंचायत अपने निर्णय या दोष की परीक्षा सौगंध दिलाकर करती है। इनका मानना है कि ईश्वर दण्ड देता है। यहां सजा आर्थिक दण्ड के रूप में भी हो सकती है और जातिबहिष्कृत रूप में भी। पंचायत का निर्णय सभी द्वारा स्वीकृत होता है। वर्तमान में जनजातियों के इस राजनीतिक स्वरूप में परिवर्तन आ रहा है और यह परिवर्तन राजस्थान में खासतौर पर परिलक्षित होता है जहां तथाकथित सभ्य समाज से संपर्क और शिक्षा के कारण नया संवैधानिक राजनीतिक तंत्र सक्रिय हो रहा है इसी कारण आपसी छोटे–मोटे विवादों के अलावा झगड़े विधिक न्यायालय में ले जाए जाते हैं। जनजातीय पंचायत का निर्णय परामर्श तक ही सीमित है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि समस्त जनजातियों में इस प्रकार का बदलाव आया है आज भी प्रारंभिक रूप से मामला जाति पंचायत द्वारा ही सुलझाने की चेष्टा की जाती है अगर समझौता नहीं होता तो न्यायालय की शरण ली जाती है। इस प्रकार जनजातियों का राजनीतिक जीवन भी विशिष्ट है।

इस प्रकार राजस्थान के जनजातीय जीवन की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक मान्यताओं व संगठन का अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि राजस्थान की जनजातियों का तथाकथित सभ्य समाज से सदैव संपर्क रहा है और यह संपर्क इनकी संस्कृति में विचलन का कारण भी बना है परंतु इसके बावजूद भी इन जनजातियों की अपनी मूल संस्कृति है जो अभी तक वर्तमान है सामाजिक मामलों में गोत्र, वंश, देवस्थान, पूजा पद्धति, मान्यता, विश्वास, शगुन, टेबू, टोटम हो, आर्थिक मामलों में अनिश्चित आर्थिक व्यवसाय व अर्थव्यवस्था हो या राजनीतिक रूप से परंपरागत राजनीतिक संगठन के रूप में। प्रत्येक जनजाति के जीवन पर वहां की भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव परिलक्षित होता है यही कारण है कि एक ही जनजाति की विविध शाखाओं में सांस्कृतिक रूप से भेद पाया जाता है। जनजातियों का जीवन और उनकी संस्कृति तथाकथित सभ्य समाज से संपर्क के बावजूद भी विभिन्न रूपों में अपना मूल स्वरूप बरकरार रख सकी है।

जंगल में रहने वाली आदिम जनजातियों से भिन्न राजस्थान की घुमक्कड़ जनजातियां संक्रमणकालीन दौर से गुजरी हैं। कंजर, नट, बंजारा, सांसी आदि सभ्य समाज के हाशिए पर बसी जनजातियां हैं जिनकी अपनी भिन्न संस्कृति है, भिन्न सामाजिक, आर्थिक धार्मिक मान्यता व राजनीतिक व्यवस्था है। जहां आपसी मामले मिल बैठकर निपटा लिए जाते हैं ईश्वर को प्रमाण मान लिया जाता है। जंगल की आदिम जनजातियों से भिन्न इनका जीवन संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहा है जिसके परिणामस्वरूप न तो ये परंपरागत स्वरूप स्थिर रख पाए और न ही तथाकथित सभ्य समाज ने ही इन्हें स्वीकारा फलतः इनकी स्थिति त्रिशंकु के समान हो गई। संपर्क का परिणाम इनकी संस्कृति, भाषा सभी पर पड़ा जंगल में रहने वाली जनजातियों ने अपनी भाषा, संस्कृति, मान्यताएं सुरक्षित रखी है जबकि इन घुमक्कड़ जनजातियों में से अधिकांश अपनी भाषा भूल चुकी है। जीविका के लिए तथाकथित सभ्य समाज पर निर्भर थे मनोरंजन और कलाबाजी इनके जीवन का अनिवार्य अंग बन गया। इसी कारण एक समय इनके व्यवसाय की अनिश्चितता और घुमक्कड़ वृति के कारण इन्हें ब्रिटिश सरकार ने अपराधी जनजातियों में शामिल किया। इनकी सुबह से शाम दो वक्त की रोटी की चिंता में गुजर जाती है इनके पास संग्रहण के लिए भी कुछ नहीं रहता। आजाद भारत में भी इन घुमक्कड़ जनजातियों की स्थिति पराश्रित ही बनी हुई है।

संदर्भ

1 ममता चौधरीः ट्राइब्स ऑफ एन्शिएंट इण्डिया, पृ.6

2 राजीवलोचन शर्माः जनजातीय जीवन व संस्कृति, पृ.31

3 मजूमदार और भार्गव – क्रिमिनल ट्राइब्स, पृ.v

4 एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.167

5 नदीम हसनैन – जनजातीय भारत, पृ.6

6 ममता चौधरीः ट्राइब्स ऑफ एन्शिएंट इण्डिया, पृ.2

7 रत्नाकर भेंगटा – मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप इंटरनेषनल रिपोर्ट – भारत के आदिवासी, पृ.13, भूमिका से।

8 दस्तक पत्रिका, पृ.3, जनवरी–मार्च, 2004 (राघव आलोक का आलेख)

9 ललिता प्रसाद विद्यार्थी, बिनय कुमार राय : ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.168

10 खलील अब्बास सिद्दिकी – भारत के आदिवासी, पृ.47–48

11 वही, पृ.5 (अनुवादक की ओर से)

12 प्रो. मैनेजर पाण्डेय का लेख, बूधन, अप्रैल, 2004, पृ.55

13 वही।

[14] दस्तक : जनवरी–मार्च, 2004, पृ.4 (हरिराम मीणा का लेख)

[15] ललिता प्रसाद विद्यार्थी व बिनय कुमार रायः ट्राइबल कल्चर ऑफ इंडिया, पृ.122

[16] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.281

[17] ममता चौधरीः ट्राइब्स ऑफ एन्शिएंट इण्डिया, पृ.1

[18] रत्नाकर भेंगटा, मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप रिपोर्ट, पृ.17

[19] नदीम हसनैन, जनजातीय भारत, पृ.187

[20] वही, पृ.239

[21] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.240

[22] रत्नाकर भेंगटा : मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप इण्टरनेशनल रिपोर्ट, पृ.20

[23] ललिता प्रसाद विद्यार्थी तथा बिनय कुमार राय : ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.26

[24] दस्तक, जनवरी–मार्च, पृ.135 (हरिराम मीणा का लेख)

[25] रसेल : ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया, पृ.222

[26] कल के लिए पत्रिका – अप्रैल–सितंबर 2004, पृ.97 (हरिराम मीणा का लेख)

[27] रसेल : ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया, पृ.234

[28] ललिता प्रसाद विद्यार्थी तथा बिनय कुमार राय : ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.27

[29] वही।

[30] ललिता प्रसाद विद्यार्थी तथा बिनय कुमार राय : ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.29

[31] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.2

[32] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.3

[33] ललिता प्रसाद विद्यार्थी तथा बिनय कुमार राय : ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.30

[34] संतोष कुमारी जैन : आदिवासी भील मीणा, पृ.24–25

[35] ललिता प्रसाद विद्यार्थी तथा बिनय कुमार राय : ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.32–33

[36] ललिता प्रसाद विद्यार्थी तथा बिनय कुमार राय : ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.32

[37] ललिता प्रसाद विद्यार्थी तथा बिनय कुमार राय : ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.34

[38] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.4

[39] मजूमदार : क्रिमिनल ट्राइब्स, पृ.2

[40] बूधन, अंक–3, दिसंबर 2001, पृ.3 (अनिल कुमार पाण्डेय का लेख)

[41] वही, पृ.3

[42] बूधन, अंक–3, दिसंबर 2001, पृ.3 (अनिल कुमार पाण्डेय का लेख)

[43] बूधन, अंक–3, अप्रैल–जून 2001, पृ.3 (अनिल कुमार पाण्डेय का लेख)

[44] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.247

[45] बूधन, अंक–3, दिसंबर 2001, पृ.3 (अनिल कुमार पाण्डेय का लेख)

[46] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.248

[47] वही

[48] बूधन, अंक–2, अप्रैल–जून 2001, पृ.2

[49] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.162

[50] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.205

[51] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.206

[52] बूधन, दिसंबर 2001, पृ.4 (अनिल कुमार पाण्डेय का लेख)

[53] बूधन, अप्रैल–जून 2001, पृ.46 (ए.के.शरण का लेख)

[54] बूधन, दिसंबर 2001, पृ.1 (अनिल कुमार पाण्डेय का लेख)

[55] बूधन, दिसंबर 2001, पृ.2 (अनिल कुमार पाण्डेय का लेख)

[56] बूधन, दिसंबर 2001, पृ.5 (अनिल कुमार पाण्डेय का लेख)

[57] बूधन, दिसंबर 2001, पृ.21 (रतन कात्यायनी का लेख)

[58] दस्तक, जनवरी–मार्च, 2004, पृ.136–137

[59] खलील अब्बास सिद्दिकी – भारत के आदिवासी, पृ.47–48

[60] खलील अब्बास सिद्दिकी – भारत के आदिवासी, पृ.6

[61] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.168

[62] के. एस. सिंह, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृ.131

[63] वही, पृ.866

[64] रसेल : ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया, पृ.338

[65] वही

[66] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.189

[67] राजीव लोचन शर्मा : जनजातीय जीवन और संस्कृति, पृ.178

[68] एम.एल. वर्मा : भीलों की सामाजिक व्यवस्था, पृ. 30

[69] यशवंत जाधव : बंजारा जाति समाज और संस्कृति, पृ.9

[70] के. एस. सिंह, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृ.650–655

[71] वही, पृ.866

[72] रत्नाकर भेंगटा : मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप इण्टरनेशनल रिपोर्ट, पृ.75

[73] के. एस. सिंह, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृ.499

[74] दस्तक जनवरी–मार्च, 2003, पृ.46 (घनश्याम का लेख)

[75] यशवंत जाधव : बंजारा जाति और संस्कृति, पृ.22

[76] वही, पृ.19

[77] राजीवलोचन शर्मा: जनजातीय जीवन व संस्कृति, पृ.206

[78] दस्तक जनवरी–मार्च, 2003, पृ.47 (घनश्याम का लेख)

[79] रसेल : ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया, पृ.339

[80] खलील अब्बास सिद्दिकी – भारत के आदिवासी, पृ.97

[81] खलील अब्बास सिद्दिकी – भारत के आदिवासी, पृ.96

[82] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.386

[83] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.387

[84] राजीवलोचन शर्मा: जनजातीय जीवन व संस्कृति, पृ.132

[85] नदीम हसनैन : जनजातीय भारत, पृ.47

[86] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.248

[87] खलील अब्बास सिद्दिकी – भारत के आदिवासी, पृ.98

[88] मजूमदार और भार्गव – क्रिमिनल ट्राइब्स, पृ.75

[89] दस्तक पत्रिका, जनवरी–मार्च 2004, पृ.135 (हरिराम मीणा का लेख)

[90] डी एम मजूमदार, क्रिमिनल ट्राइब्स, पृ.75

[91] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.95

[92] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.99

[93] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.96

[94] रसेल : ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया, पृ.340–341

[95] के. एस. सिंह, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृ.868

[96] नदीम हसनैन – जनजातीय भारत, पृ.43

[97] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.196

[98] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.197

[99] के. एस. सिंह, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृ.649

[100] डी.एन. मजूमदार : क्रिमिनल ट्राइब्स, पृ.114–115

[101] के. एस. सिंह, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृ.500–649–868

[102] एल.पी. विद्यार्थी तथा बी.के. राय – ट्राइबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ.221

अध्याय द्वितीय

नटों का जीवन और कब तक पुकारुं

क. रांगेय राघव और जनजातीय चेतना

ख. नटों का जीवन और कब तक पुकारुं

नटों के जीवन पर सर्वप्रथम बलि उपन्यास लिखा गया। यह उपन्यास मराठी भाषा में 1950 ई. में श्रीमती विभावरी शिरुरकर द्वारा लिखा गया था। हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम नटों के जीवन को कथा का आधार बनाने का श्रेय रांगेय राघव को दिया जाता है। रांगेय राघव पहले ऐसे रचनाकार थे जिन्होंने नटों के जीवन को उसकी समग्रता के साथ हिंदी भाषा में चित्रित किया। आधुनिक काल के महाकाव्य की आधुनिकता अर्थात् सामान्य और अनछुए पात्रों का चित्रण, उनको कथानायक बनाना इस उपन्यास के विषय चयन के मूल में रहा। इन्होंने अपने साहित्य में वैसे तो आर्येतर संस्कृति पर बहुत कुछ लिखा है परंतु कथा साहित्य में मुख्यतः 'कब तक पुकारुं' (नटों के जीवन पर) 'धरती मेरा घर' (लोटपीटों के जीवन पर) लिखा। 'कब तक पुकारुं' 1957 में प्रकाशित हुआ और 'धरती मेरा घर' 1961 में।

इन अनछुए पात्रों को कथा का आधार बनाने के पीछे उनकी मान्यता थी कि भारतीय संस्कृति केवल आर्यों की ही संस्कृति नहीं है इसमें बहुत कुछ आर्येत्तर भी हैं। उनका मानना था कि बाहरी आक्रांताओं और यहां के मूल निवासियों दोनों का इस संस्कृति के विकास व निर्माण में योगदान है और प्रत्येक संस्कृति की अपनी महत्ता है। लोहपीटों और नटों को कथा का आधार बनाने के पीछे मान्यता यह भी रही है कि लेखक जानता है कि ये जातियां सदैव शोषण का शिकार रही हैं, शोषण जो आज तक व्याप्त है, शोषण जो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व दैहिक अर्थात् विविधपक्षीय है। उसी शोषण को दिखाना इनका लक्ष्य रहा है। उपन्यासकार का लक्ष्य रहा है संघर्षरत मनुष्य की पहचान कराना। वे लिखते हैं – "मेरे सामने इतिहास है, मनुष्य है, मनुष्य की पीड़ा है और है वह मनुष्य की चेतना जो निरंतर संघर्ष कर रही है और इससे बढ़कर अभी तक कोई सत्य मेरे सामने नहीं आया है।"[1] लेखक शोषण और उससे संघर्षरत मनुष्य का चित्रण करना ही लक्ष्य मानता है। जिसके मूल में है मार्क्सवादी जीवन दर्शन जो पीड़ित को स्वीकारता है। उनकी एक कविता द्वारा उनकी मान्यता स्पष्ट होती है – "हो कितनी अनजान राह यह भूल न जाना/ ओ मेरे जीवन के यात्री चलते जाना/ हर बंजर के लिए मेघ को चलो बुलाते/ हर पीड़ित के लिए चलो तुम हृदय सलाते।"[2]

यही कारण है कि वे शोषितों के साथ खड़े हैं, उन्हें कथा का आधार बनाते हैं। 'कब तक पुकारुं' के लिए वे स्वयं लिखते हैं – "क्यों नहीं इन अभिशप्त आत्माओं के विषय में किसी ने आज तक अपनी वेदना उड़ेल दी।"[3]

वे गाड़िया लोहारों की जिंदगी पर आधारित 'धरती मेरा घर' लिखते हैं उसमें भी दृष्टि मूलतः मानवतावादी ही है। लेखक रक्त की शुद्धता या उच्चता के सिद्धांत को खण्डित करते हुए लिखता है – "इस युद्ध (द्वितीय विश्वयुद्ध) के प्रारंभ में

हिटलर ने यहूदियों की हत्याएं करवायी थीं और जर्मनी को श्रेष्ठ रक्त वाले आर्यों का देश बताया था। पर वह एक अवैज्ञानिक बात सिद्ध हो चुकी है। मैं जब देखता हूं तब आश्चर्य होता है कि इस भारत में सदा से ही आत्मा की समानता का राग अलापा गया है फिर भी हम सब ही अपने व्यवहार में बंधे हुए हैं। हम जाने क्यों जो कुछ कहते हैं उस पर अमल नहीं करते।"[4] लेखक मानता है कि रक्त की शुद्धता के विचार पर आधारित आर्य वास्तव में श्रेष्ठ नहीं थे और साथ ही भारतीय संस्कृति आर्य संस्कृति ही नहीं है उसमें बहुत कुछ आर्येतर भी है। उनकी अनार्य या आर्येतर समर्थन की विचारधारा को उनकी कविताओं के माध्यम से समझा जा सकता है। इसी कारण द्रविड़ संस्कृति के प्रति आत्मगौरव का भाव है। राजेंद्र यादव इसके पीछे रक्त की शुद्धता का सिद्धांत मानते हैं और इस विचारधारा के प्रति आश्चर्य करते हुए कहते हैं – "रक्त अर्थात् रेस, मार्क्सवाद और रक्त की शुद्धता का सिद्धांत। बात अजब लगे किंतु रांगेय राघव ने रचनाओं और व्यक्तियों के धरातल पर ही चुनौती स्वीकार नहीं की, उन्होंने उत्तर व दक्षिण आर्य और द्रविड़ के धरातल पर भी इस चुनौती को लिया है।"[5] 'मुर्दो का टीला' लिखने का कारण भी राजेंद्र यादव यही मानते हैं। उनके अनुसार उनके संपूर्ण साहित्य में यही दृष्टि है। "उत्तर पर दक्षिण की विजय के ज्योति स्तंभ खोजने की उनकी तड़प ने ही शंकराचार्य, रामानुजाचार्य इत्यादि के जीवन पर आधारित उपन्यास, नाटक लिखने को प्रेरित किया और यही क्रम 'कब तक पुकारुं' के अनार्य नटों तक चला आया है।"[6] 'मूर्दो का टीला' में इन्होंने दर्शाया है कि आर्यों के आगमन के समय द्रविड़ों ने सभ्यता का विकास कर लिया था। द्रविड़ नगर, घर, प्रासाद, स्नानागर, सड़कें आदि बनाकर रहते थे जबकि आर्य लोग खानाबदोशों की तरह लूटमार करने की ऐतिहासिक अवस्था में जी रहे थे। इस प्रकार सांस्कृतिक और सभ्यता के विकास की दृष्टि से ये आर्यों से ज्यादा द्रविड़ों को विकसित मानते हैं।उनकी यह दृष्टि मनु के आर्यावर्त को ही श्रेष्ठ नहीं मानती। वे विन्ध्याचल से हिंद महासागर तक के द्रविड़ प्रदेश को जिसे मनु ने अपवित्र भूमि कहा था उसे पवित्र व पुण्यभूमि मानते हैं। वे उसकी वंदना करते प्रतीत होते हैं – "अहो आदिम भूमि, सागर मेखलामय वंदना हो/... आज मेरी धमनियों में बज उठा है/ उस द्रविड़ का तप्त लोहू/ जो लड़ा था/ वर्णदम्भी जातिदम्भी आर्यो से।"[7] राजेंद्र यादव का यह मानना उचित नहीं है कि ये रक्त की शुद्धता के सिद्धांत से प्रभावित थे, वास्तव में राघव जी आर्यों के वर्ण, जाति व रक्त की शुद्धता के सिद्धांत के विरोध में यह दर्शाते हैं कि आर्येतर लोग भी श्रेष्ठ हैं, सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न हैं, उनकी भूमि भी पवित्र है।

उनके जनजातीय जीवन पर आधारित उपन्यासों के मूल में द्रविड़ संस्कृति के प्रति आत्मगौरव का भाव प्रतीत होता है और लक्ष्य प्रतीत होता है उनके शोषण की कथा कहना।

लेखक की दृष्टि यथार्थवादी रही है। आर्यतर संस्कृति के संदर्भ में उनका विचार है – "इस देश का इतिहास आर्यों से पहले प्रारंभ होता है। इस दृष्टि के सामने आते ही पर्दा आंखों के सामने से फट जाता है।.. तब यह ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति में बहुत कुछ आर्येतर भी हैं और उसने भारतीय संस्कृति का अधिकांश निर्मित किया है।"[8]

इसके साथ ही लेखक समस्त संस्कृतियों की समान स्थिति और साथ रहने के विचार का प्रतिपादन करते हुए दर्शाता है कि भारत में भिन्न–भिन्न संस्कृतियां सदैव रही हैं और इसी संबंध में लेखक की दृष्टि सहअस्तित्व की भावना की परिचायक है वे किसी एक संस्कृति का अन्य समस्त संस्कृतियों पर आरोपण उचित नहीं मानते। "एक ही जीवन में कितने–कितने स्तर हैं। एक ही संस्कृति में कितनी छायाएं हैं। एक ही हवा के कितने झोंके हैं। सचमुच, कैसा विचित्र है यह भारत जो इतने भेदों के रहते हुए भी एक कहलाता है।"[9] सांस्कृतिक समानता की भावना उसकी रचना के मूल में है इसी कारण यथार्थ चित्रण करते हैं उनकी दृष्टि पर नैतिकता का आवरण नहीं है, वे श्लील–अश्लील का विचार नहीं करते जो जिस संस्कृति का तत्व है उसे उसी रूप में चित्रित करते हैं।

आर्येतर संस्कृति का वैभव 'मूर्दो का टीला' में चित्रित करते हैं तो 'धरती मेरा घर' और 'कब तक पुकारुं' की पृष्ठभूमि राजस्थान की जनजातियों पर आधारित है। प्रमुखतः नट व गाड़िया लोहारों का चित्रण है परंतु कंजर, मैना आदि का भी स्थान–स्थान पर वर्णन मिलता है। वे गाड़िया लोहारों के भ्रमणशील जीवन का चित्रण करते हैं – "गाड़ियां खडी थी। चौकोर पीतल की कीलें जड़ी थीं, काली काली सी। बैल बैठे जुगाली कर रहे थे।"[10] गाड़िया लोहारों की बस्ती का चित्रण किया गया है, उसी प्रकार इनकी वेशभूषा – "एक पुरुष बैठा था उसके सिर के बाल कतरे हुए थे। कैंची से कटे होने के कारण कहीं स्याही ज्यादा थी कहीं कम और दोनों कानों के ऊपर जुल्फें लटक रही थी। ... पास में एक स्त्री रोटी पका रही थी। हाथों में चूड़े कोहनियों के ऊपर चूड़े, मैले घाघरे, मैली ओढ़नियों में वह माथे तक ढकी हुई थी।"[11] इतना ही नहीं लेखक उनकी ऐतिहासिक स्थिति व मान्यताओं का भी चित्रण करता है कि "जब तक हम अपना राज वापस न जीत लेंगे तब तक शांति से न बैठेंगे।"[12] वे न तो कुएं से रस्सी से पानी खींचते दिखाए गए हैं, न लोहे

में छेद करते और न घर बनाकर रहते, इस प्रकार लेखक ने उनकी मान्यताओं, वेषभूषा, रहन–सहन, ऐतिहासिक स्थिति का समग्र चित्रण किया है।

'कब तक पुकारुं' में कंजरों का वर्णन मिलता है और 'धरती मेरा घर' में मैना (मीणा) का वर्णन मिलता है। "इनकी स्त्रियां बालों को सिर पर उल्टे जूड़े के रूप में बांधे थी मुझे लगा जैसे हड़प्पा मोहनजोदड़ों की पुरानी सज्जा थी।"[13] लेखक इस जनजाति की स्थिति को एक समग्र पंक्ति में चित्रित कर देता है – "मजबूरी, गरीबी, पैदा होने पर उसका प्रयोग न जानना ऐसी ही कितनी बातें हैं जो इनके जीवन में समा गई हैं।"[14]

यद्यपि लेखक ने नटों, गाड़िया लोहारों, कंजरों आदि के शोषण, उनके संघर्ष, उनकी पीड़ा का चित्रण किया है लेकिन समग्रता में चित्रण करने के उद्देश्य से वह खुशी के क्षणों को भी नहीं भुला पाया है। इसका प्रधान कारण रहा है कि लेखक का चित्रण यथार्थवादी है लेखक ने वैर ग्राम में रहकर अपने आसपास के वातावरण को देखा ही नहीं जीया है। उसने वहां की जनजातियों का जीवन निकट से देखा है। इसी कारण जश्न, त्यौहार आदि खुशी के क्षणों को लेखक समग्रतावादी चित्रण के चलते विस्मृत नहीं कर पाया और उसने उनके इन क्षणों का भी उपन्यासों में चित्रण किया है।

लेखक की दृष्टि यद्यपि संघर्षशील मानव का चित्रण करती है फिर भी वे उस संघर्ष का अंत मुक्ति के रूप में देखते हैं। वे भविष्य की सुनहरी कामना करते हैं। मेधावी में उन्होंने लिखा – "एक दिन मानव का श्रम श्वास/मिटा देगा यह पाप महान/ विश्व होगा केवल सुख स्थान / एक घर सी होगी यह भूमि/ और भौतिक के दुखों से दूर / बनाएंगे मानव वह पंथ/ जहां शोषण का ना रहे नाम/"[15] रांगेय राघव को विश्वास था कि एक दिन ये शोषित भी स्वतंत्र होंगे इनको भी समानता का अधिकार मिलेगा। इनके भविष्य को लेकर वे स्वर्णिम कल्पना करते हैं। 'कब तक पुकारुं' के सुखराम के माध्यम से शोषण की घुटन से मुक्ति का आशावादी स्वर व्यक्त करते हैं। 'धरती मेरा घर' में भी यही स्वर है "आकाश को खुला रहने दो। धरती को मत बांधो। तुमने जो बीच में दीवारें खड़ी कर दी हैं उन्हें गिरा दो, क्योंकि वे तुम्हीं ने बनायी हैं। आज मैं निर्मल और स्वतंत्र हूं क्योंकि आकाश मेरी छत है और धरती मेरा घर।"[16]

'कब तक पुकारुं' नटों की पीड़ा व उनके जीवन का चित्रण करने वाला पहला उपन्यास था। बाद में इसी से प्रेरणा पाकर 'शैलूष' लिखा गया लेकिन 'कब तक पुकारुं' जैसा चित्रण और दृष्टि का वैशिष्ट्य उसमें नहीं है। शोषण का चित्रण,

संघर्ष की कथा और मुक्ति की कामना 'कब तक पुकारुं' के मूल में है। नटों के जीवन को समग्रता में चित्रित करता है यह उपन्यास। 'मूर्दों का टीला' आर्येतर संस्कृति का वैभव चित्रित करता है, 'धरती मेरा घर' गाड़िया लोहारों का शोषणपूर्ण जीवन चित्रण करता है। इन्होंने घुमक्कड़ों का कथा का आधार बनाया जिसके मूल में सांस्कृतिक आत्मगौरव का भाव भी था और संघर्षरत मनुष्य की पीड़ा के प्रति मानवीय दृष्टिकोण भी था। डा. कमलेश्वर लिखते हैं – "डॉ. राघव का विचार था कि आदमी के नवीनतम संस्करणों की प्रामाणिकता व वरीयता की घोषणा करते समय उनके मूल संस्करण की उपेक्षा नहीं की जा सकती और वह मूल संस्करण आदिम जनजातियों, बंजारों, व किसी हद तक देहातों में देखा जा सकता है। डॉ. राघव का विशेष ध्यान भारत की प्रागैतिहासिक संस्कृति पर रहा है इसीलिए उन्होंने प्राचीन भारतीय परंपरा की आदिम गुफाओं में झांका।"[17]

इस प्रकार आर्येतर संस्कृति की श्रेष्ठता का बोध, आर्यों की वर्णदम्भी जातिदम्भी सभ्यता के विरुद्ध सांस्कृतिक विजय की भावना, शोषण का चित्रण, संघर्ष की कथा और मानवतावादी दृष्टि के परिणाम स्वरूप पीड़ित की कथा कहना और उनकी मुक्ति की इच्छा ही इन उपन्यासों के मूल हैं, इनका लक्ष्य भी यही है और इनका वर्ण्य भी यही।

नटों का जीवन और 'कब तक पुकारुं'

'कब तक पुकारुं' हिंदी भाषा में नट जनजाति के जीवन पर लिखित पहला उपन्यास है। राजस्थान और ब्रज प्रदेश के सीमांत पर बसा हुआ वैर नामक ग्राम और उसका परिवेश तथा वहां के नट इस कथा के उपजीव्य हैं।

नट जयपुर, अजमेर, अलवर, भरतपुर, जोधपुर, भीलवाड़ा, सवाई माधोपुर, तथा उदयपुर में फैले हैं ये मारवाड़ी व हिंदी दोनों जानते हैं। लेखक स्वयं लिखता है कि "वैसे तो यह जाति संपूर्ण राजस्थान में पाई जाती है परंतु इस अंचल में पाई जाने वाली करनट जनजाति अपनी विशिष्टता रखती है।"[18] यह विशिष्टता इस अर्थ में है कि "करनट खानाबदोश होते हैं पर उनमें बाकी नटों से कला करतब नहीं चलते। नटों की औरतें घूंघट भी खींचती हैं और खोलकर भी नाचती हैं। दस–दस घड़े सिर पर रख लेती हैं और फिर कमर हिलाती हैं। इनके मर्द बांस पर चढ़कर तरह–तरह के खेल दिखाते हैं, करनटों में ये खेल नहीं चलते। करनट और बाकी नट भी डेरों में रहते हैं पर इस गांव में कुछ और बात है। यहां करनट भी खेल दिखाते हैं।"[19] वास्तव में करनट नटों से भिन्न नहीं होते वरन् यह नटों की एक श्रेणी या शाखा होती है। आर.वी. रसेल लिखते हैं "करनट या करनाटक नटों की

एक श्रेणी है जो करनाटिक से उत्पन्न मानी जाती है। मि. क्रूक के अनुसार वे समस्त उच्च जातियों की जूठन खाते हैं।"[20] इस प्रकार इस अंचल की नट जनजाति विशिष्ट है।

नट या करनट जनजाति एक ऐसी जनजाति है जो सदियों से शोषण का शिकार रही है। आर्यों के आगमन और विभिन्न विदेशी आक्रांताओं से लेकर ब्रिटिश सरकार की नीतियों का प्रतिकूल प्रभाव इन पर देखा जा सकता है। ये अंग्रेजी सरकार के अपराधी जनजाति अधिनियम के अंतर्गत अपराधी माने गए थे फलतः इनके स्वच्छंद विचरण पर तो रोक लगी ही साथ ही कुछ खास क्षेत्रों में जाने पर भी मनाही कर दी गई। सुधार के नाम पर कांटेदार बाड़ों में इनको रखा गया जहां दिन में कई बार हाजरी देनी पड़ती थी, एक कैदी का सा जीवन बिताना पड़ता था। ये पुलिस के शोषण का सदैव शिकार रहते थे पुलिस जब चाहे इनको पकड़कर जेल में बंद कर देती थी। नट इसी कारण पुलिस से भागते फिरते थे। इनकी स्त्रियों पर अत्याचार किया जाता था। उपन्यास इसी स्थिति का चित्रण करता है। स्वतंत्रता पूर्व के पुलिस अत्याचारों और शोषण का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है यह उपन्यास।

नट जनजाति समाज के धूरे पर बसी जनजाति है। आर्यों की शक्ति से पराजित या विचलित होकर दुर्गम स्थानों में पलायन करने वाली जनजातियों की आदिम संस्कृति अपने मूल रूप में रही जबकि जो जनजातियां दुर्गम स्थानों में नहीं गई उन्हें वर्णाश्रयी व्यवस्था में स्वीकार किया गया सेवा और मनोरंजन के लिए। इस वर्ग में पराजितों, दासों, जातिच्युतों, शापितों को शामिल किया गया। इस संपर्क का परिणाम इनकी मूल संस्कृति के लिए घातक सिद्ध हुआ। तथाकथित सभ्य समाज ने इन्हें कभी नहीं स्वीकारा और ये इस समाज की व्यवस्था, मान्यता को अंगीकार करने के क्रम में अपनी परंपरा व संस्कृति को भूलते गए। फलतः इनकी स्थिति त्रिशंकु के समान हो गई यही कारण है कि आज की इन जनजातियों को अतीत के मूल अवशेष नहीं माना जा सकता क्योंकि संपर्क जनित सांस्कृतिक विलयन के कारण मूलस्वरूप बदल गया है।

'कब तक पुकारुं' नटों की इसी शोषण जनित पीड़ा और उपेक्षित सामाजिक स्थिति का चित्रण करता है जहां तथाकथित सभ्य समाज की संस्कृति के प्रति आग्रह, उनकी मान्यताओं, उनके रहन–सहन आदि को स्वीकार करने या नकल करने के रूप में दिखाया गया है। इनकी इसी सोच के कारण मिश्रित संस्कृति का निर्माण हुआ जहां कुछ तत्व मूल संस्कृति के हैं जबकि कुछ तत्व बाहरी संपर्क का परिणाम हैं। यद्यपि इनकी मूल संस्कृति का लोप हुआ है फिर भी ये "अपनी सांस्कृतिक

समग्रता, भाषाओं, संस्थाओं, विश्वासों व प्रथाओं के आधार पर समाज के शेष भागों से अलग दिखाई पड़ते हैं।"[21] यह भिन्नता ही इनकी विशिष्ट पहचान है जो न केवल तथाकथित सभ्य समाज से वरन अन्य जनजातियों से भी है। इनकी भिन्न संस्कृति विभिन्न पहलुओं के तहत प्रकट होती है जिसमें भिन्न सामाजिक जीवन व मान्यताएं (विवाह, तलाक, नातेदारी), भिन्न धार्मिक जीवन (लोकदेवता, विश्वास, जादू) भिन्न आर्थिक जीवन (जरायमपेशा, चोरी, औषधचिकित्सा), भिन्न राजनीतिक व्यवस्था व भिन्न बोली आदि हैं।

जनजातीय संस्कृति की चर्चा करते समय कुछ सवाल विचारणीय हैं कि कुछ विद्वान इन आदिम जनजातियों को हीन संस्कृति या असभ्य करार देते हैं उसका क्या कारण है? और यह विचार कितना उचित है? शंभू सिंह 'कब तक पुकारुं' के बारे में लिखते हैं – "करनट समाज, असभ्यता और प्रकृति का अंचल तीनों सहचर रूप में चित्रित है।"[22]

जब किसी को असभ्य कहा जाता है तो पहला सवाल यही उठता है कि असभ्यता या सभ्यता के प्रतिमान क्या हैं? किन तत्वों के कारण किसी को सभ्य कहा जाता है? जब कहा जाता है कि प्रत्येक समाज और जनजाति की अपनी संस्कृति होती है जो दूसरों से भिन्न होती है तब उस भिन्न संस्कृति को दूसरी संस्कृति के प्रतिमानों पर क्यों आंका जाता है? यह लगभग उसी प्रकार का विचार है जिस तरह कबीर को ब्राह्मणवादी दर्शन के अंतर्गत आंका जाता है और उनके दर्शन की भिन्नता या विशिष्टता को इसी कारण खारिज कर दिया जाता है कि वह प्राचीन दर्शन के समान नहीं है। जनजातियों को तकनीकी या भौतिक दृष्टि से पिछड़ी अवश्य कहा जा सकता है सांस्कृतिक दृष्टि या सभ्यता की दृष्टि से नहीं।

'कब तक पुकारुं' में नटों के जीवन का चित्रण समग्रता में किया गया है इनके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक जीवन व मान्यताओं का चित्रण यथार्थवादी दृष्टिकोण से किया गया है। उनकी लोकसंस्कृति के प्रत्येक पहलू का चित्रण किया है लेखक ने। शोषण के साथ उनकी खुशी का भी वर्णन कर समग्रतावादी चित्रण किया है। इसी कारण कहा गया है कि 'कब तक पुकारुं' सदियों से पीड़ित इस करनट जनजाति के शोषण से पीड़ित मन की दमघोंटू पुकार है (शंभू सिंह)। इस चित्रण में उनका देखा हुआ यथार्थ सामने आता है। "वैर के परिवेश का यथार्थ चित्रण किया है उन्होंने। वहां की बोली–बानी, रीति रिवाज, अंधविश्वास, मान्यताएं, जस की तस उनकी कृतियों में व्यंजित हुई हैं।"[23]

'कब तक पुकारुं' वैर की नट जनजाति के जीवन का चित्रण करता है "उन्होंने एक ऐसे समुदाय के जीवन को उठाया है जिसका चित्रण आज तक किसी साहित्यकार ने नहीं किया था। नट जनजाति के सांस्कृतिक ,नैतिक, पारिवारिक व सामाजिक जीवन का सर्वांगीण चित्रण लेखक ने अत्यंत कुशलता से किया है।"[24] यह चित्रण किसी एक दिन की उपज नहीं है ना ही घर में बैठकर लिखा गया है। डा. बंशीधर लिखते हैं – "यहां एक जनजाति के मध्यकालीन संस्कारों, विश्वासों, मान्यताओं व आधुनिक समाज की पारस्परिक टकराहटों से फूटने वाली चिनगारियों के जो यथार्थ चित्र उभारे गए हैं वे कथाकार के इस जाति संबंधी गहरे अनुभव की पहचान करा जाते हैं।"[25]

इस प्रकार इस अध्याय में नटों के वास्तविक जीवन और 'कब तक पुकारुं' में अभिव्यक्त उनके जीवन का अध्ययन कर यह जांचा जाएगा कि रांगेय राघव का चित्रण यथार्थपरक है या कल्पना प्रवण? इस संदर्भ में लेखक के नैतिकता संबंधी दृष्टिकोण की चर्चा भी की जाएगी। नटों के सामाजिक जीवन, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन व मान्यताओं की चर्चा की जाएगी।

'कब तक पुकारुं' नटों के जीवन के विविध पहलुओं को उजागर करता है। नटों के **सामाजिक जीवन** का अध्ययन इसी संदर्भ में करना उचित होगा। नटों के सामाजिक जीवन को उनकी सामाजिक स्थिति, सामाजिक संस्कार व रीतियां, सामाजिक संरचना, नारी की स्थिति, शोषण आदि के संदर्भ में समझा जा सकता है। इस संदर्भ में तथाकथित सभ्य समाज से ही नहीं वरन् अन्य जनजातियों से भिन्न व विशिष्ट स्थिति का भी अध्ययन करना उचित होगा।

आर्यों के आगमन से ही इनका शोषण का इतिहास प्रारंभ होता है। नट जनजाति उन जनजातियों में से एक है जिन्होंने पलायन नहीं स्वीकारा। यद्यपि इसकी इन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ी जिसके तहत इनकी हीन सामाजिक स्थिति हुई। इनका उपयोग सेवा व मनोरंजन के कार्यों के लिए किया। शोषण की पीड़ा सदैव वर्तमान रही, आर्थिक स्थिति कभी सुधर नहीं पायी प्रत्येक स्थिति के लिए सभ्य समाज उत्तरदायी था और उस पर निर्भरता भी इसका एक कारण रहा। जनजातियों को मानवेतर माना गया. अर्थात् इनके लिए प्रचलित शब्दों को बर्बरता, क्रूरता, असभ्यता का पर्याय घोषित कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार के अधीन अपराधी जनजाति अधिनियिम में सम्मिलित किए जाने के पीछे भी इस तथाकथित सभ्य समाज की भूमिका रही। तथाकथित उच्च जातियों ने स्वयं शोषण तो किया ही साथ ही पुलिस द्वारा भी इनका शोषण करवाया। अपराधी जनजाति अधिनियम द्वारा एक ऐसा तमगा लगा दिया जिससे इनकी सामाजिक स्थिति हीन से हीनतर हुई और

उसी अधिनियम की आड़ में अनेक समाजों व पुलिस को मनमाना व्यवहार करने की छूट मिल गयी। इसी शोषण व पीड़ा की कथा कहता है यह उपन्यास।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कभी कहा था 'भारत की प्रत्येक जाति अपने से नीची कोई जाति ढूंढ लेती है।' वर्णाश्रयी व्यवस्था के चतुर्थ सोपान पर स्थित जातियों ने भी ऐसा किया और श्रेणीबद्ध हो गई। यही कारण है कि कंजर, सांसी, नट आदि जनजातियां तथाकथित निम्न जातियों द्वारा भी नीच समझी गई। 'कब तक पुकारुं' में गुर्जर व चमार नटों को अपने से नीच समझते दिखाए गए हैं। यद्यपि नट अपना संबंध राजपूतों से जोड़ते हैं पर राजपूत उन्हें अपना नहीं मानते। "इनका राजपूतों से संरक्षक–संरक्षित का संबंध है लेकिन सहभोजी संबंध नहीं होता। ब्राह्मण, बनिया व माली उनसे पका भोजन नहीं लेते। नट हरिजन, धोबी, चमार, धनका आदि से पानी नहीं लेते जो उनसे श्रेणीबद्धता में निम्न है।"[26]

'कब तक पुकारुं' इसी सामाजिक श्रेणीकरण और इनकी सामाजिक स्थिति का परिचायक है जहां ठाकुर–ब्राह्मण नटों को नीच मानते हैं। न केवल ठाकुर वरन् गुर्जर, चमार भी इन्हें नीच मानते हैं। धूपो चमारिन द्वारा सुखराम को भाई कहे जाने पर समाज उसका उपहास व निंदा करता है। चमार नटों को हिकारत की दृष्टि से देखते हैं।

धूपो कहती है – "नटनी की धौंस मैं सहूंगी? मुझे ढेढ कहेगी।"[27] धूपो द्वारा सुखराम को भाई कहने पर चमारिनों ने कहा – "तो ये करनट हैं। एक ने हिकारत से कहा।"[28] इसी प्रकार प्यारी की इज्जत के बहाने चमारिनें नटों की हीन स्थिति का जिक्र करती हैं वे कहती हैं – "अरे नटनी की इज्जत की भली चलाई। रंडी की इज्जत क्या है? ... तभी तो ये लोग नीच हैं।"[29] बात केवल इतनी ही नहीं है कि लोग इन्हें नीच–समझकर रोटी बेटी का संबंध नहीं रखते वरन् चक्खन गुर्जर जैसे लोग तो इनके द्वार पर बैठना भी अपमान समझते हैं। "चक्खन बैठ गया। परंतु इसमें उसे घोर अपमान लग रहा था। गांव वाले सुनेंगे तो कहेंगे कि नट के द्वार पर बैठा रहा है। इतना भी दबदबा नहीं रहा कि नट हुकम पर काम करे।"[30] जैसे नट इनके गुलाम हो, और इनकी आज्ञा मानना जिनका परम कर्तव्य हो। वर्णाश्रयी व्यवस्था का अंग नट समाज भी हो गया इसी को चित्रित करता है लेखक। इसी कारण ये जातिगत हीनता व छुआछूत सहकर भी स्वयं ज़ातिवाद को बुरा नहीं मानते और मेहतरों से छुआछूत करते हैं। चंदन मेहतर का हुक्का सुखराम नहीं पीता। इसी प्रकार स्वयं को नीच मानकर जाति व्यवस्था को ये स्वीकृति भी देते हैं। उनके अनुसार ऊंची जात में जन्म लेना भाग्य की बात है – कजरी कहती है – "हमने नटनी के पेट से जन्म लिया है ऊंची जात में जन्म लेना भाग्य की बात है।"[31]

सुखराम नट भी इस स्थिति से परिचित है पर वह स्वयं को ठाकुर मानता है और नटों को नीच। वह कहता है – "ये सब कमीने हैं, चोर हैं ये सब वहां नहीं रहेंगे।"[32] सुखराम नट समाज की नारी की स्थिति का चित्रण करते हुए तथा उसके लिए भगवान को दोषी मानते हुए कहता है – "प्यारी तू है क्या आखिर? नटनी ही न और सो भी करनटनी। हरजाई अपने मरद के रहते दूसरे के घर रखैल बनकर बैठी है। सो तेरी नाक कहां? भगवान ने हमें नीच बनाया है, सो हम भोग रहे हैं।"[33]

सवाल यह उठता है कि अगर ये नट स्वयं की हीन स्थिति से परिचित हैं तो फिर ये स्वयं को मेहतर आदि से उच्च मानकर उस जाति व्यवस्था को क्यों स्वीकार करते हैं और क्यों उसे बढ़ावा देते हैं? लेखक स्वयं इस स्थिति से परिचित है लेकिन यहां लेखक ने वास्तविक स्थिति का चित्रण किया है क्यों कि केवल नट ही नहीं न जाने कितनी जातियां हैं जो स्वयं को उच्च मानने का दम भरती हैं जबकि उन्हें कोई उच्च नहीं मानता और इसी प्रकार अस्पृश्य कही जाने वाली जातियां भी अपने से हीन जातियां ढूंढ लेती हैं और स्वयं को उच्च मानती हैं। लेखक ने भारतीय समाज की सही नस को पकड़ा है। भारत की इन जातियों में जातिगत अहम् का भाव निम्न सामाजिक स्थिति के ज्ञान के साथ–साथ पाया जाता है। इसके साथ ही दूसरा कारण यह भी है कि ये अपनी इस स्थिति का कारण ईश्वर को मानते हैं इसी कारण यथास्थितिवादी रहते हैं जबकि जन्म के आधार पर स्वयं को नीच समझना उतना ही बुरा है जितना उच्च समझना।

नटों की इसी निम्न सामाजिक स्थिति का ही परिणाम है कि तथाकथित उच्च जातियों द्वारा इन पर अत्याचार किया जाता है और इस शोषण के पीछे किसी प्रकार का डर भी नहीं होता। नीलू नट द्वारा नरेश को मारने पर सारे ठाकुर मिलकर नटों की बस्ती पर चढ़ाई कर देते हैं। नट पिटते रहते हैं पर कोई सामना नहीं करता, चंदा को भी पीटा जाता है और पीट–पीट कर बेहोश कर दिया जाता है। उसका दोष इतना ही होता है कि वह जातिव्यवस्था को तिलांजलि देकर नट होते हुए ठाकुर से प्रेम कर बैठती है। बांके व चक्खन जैसे लोग भी इसी तरह जातिगत अहम् के चलते शोषण करते हैं। निरोती ब्राह्मण व हरनाम ठाकुर, जमींदार साहब, रूस्तम आदि इसी तरह के पात्र हैं जो नट आदि जातियों को सार्वजनिक संपत्ति समझते हैं और उनका शोषण और उन पर अत्याचार करना अपना पैतृक अधिकार समझते हैं।

अत्याचार करने वाली दूसरी शक्ति पुलिस है। 'कब तक पुकारुं' अप्रत्यक्ष रूप से अपराधी जनजाति अधिनियम के प्रावधानों की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार नट अपराधी जनजाति थे। गुलाम भारत में नटों की स्थिति का ऐतिहासिक

दस्तावेज है यह उपन्यास। नटों पर पुलिस अत्याचार उसी अधिनियम का एक हिस्सा है। पुलिस जब चाहे नटों को पकड़ कर ले जाती थी, उनकी औरतों पर अत्याचार किए जाते थे, उन्हें हाजिरी देने के लिए मजबूर किया जाता था। सौनो कहती है – "हम नट हैं। दुनिया में हमारी कोई इज्जत नहीं। हमें जब चाहे पुलिस वाले पकड़ लेते हैं। राजा के अहलकार हमारी औरतों को पकड़कर ले जाते हैं। हम चोर समझे जाते हैं।"[34] अपराधी जनजाति होने के कारण बिना अपराध के ही इनको चोर मान लिया जाता था फलतः ये पुलिस से भागते फिरते थे। सुखराम कहता है – "हम इतना ही जानते थे कि सिपाही में बड़ी ताकत होती है। गांव के लोग उससे डरते हैं। वह बड़ी जातों में उठता बैठता है। वह जिधर जाता है उधर ही नट दौड़कर छिप जाते हैं। हम तो यही देखते आ रहे हैं जब चाहे जिस नटनी, कंजरिया को पकड़ ले जाता है। हम सब उससे डरते थे क्योंकि वह थाने में पकड़ ले जाता था वहां हमें चोर कह देता था। फिर हम बेंतों से पिटते थे। कभी कभी गुड़ के पानी के छींटे दिए जाते थे जिससे चींटे लग जाते थे और देही सूज जाती थी। फिर उसकी बात ही सच मानी जाती थी। हमें हमेशा गाली दी जाती थी। ज्यादा किसी ने सिर उठाया तो वह जेल की हवा खाता था। चक्की पीसते–पीसते धज्जियां उड़ जाती थीं।"[35] पुलिस अत्याचार व नटों के शोषण का चित्रण उस समय भी देखने को मिलता है जब सुखराम को कातिल सिद्ध कर जेल में बंद कर दिया जाता है। इससे पूर्व भी उसे पुलिसवाले पकड़कर ले जाते हैं और सुखराम की कील लगे जूतों से पिटाई की जाती है।

पुलिस द्वारा अत्याचार का कारण और शोषण का स्वरूप इनकी नारी को प्राप्त करना भी होता था। प्यारी पर सिपाही का मन आ जाता है सुखराम उसे वहां जाने से रोकता है तो प्यारी अपनी विवशता प्रकट करती है – "अगर नहीं जाऊंगी तो वह कोड़े मार–मारकर तेरी और मेरे बाप की चमड़ी उधेड़ देगा – फिर भी पकड़वा मंगाएगा मुझे। अब ईनाम भी देगा, तब ठोकरे और देगा ऊपर से।"[36] इनकी नारी की देह प्राप्ति के लिए वे इन्हें बंदी बना लेते थे क्योंकि वे जानते हैं कि इनकी स्त्रियां इन्हें छुड़ाने के लिए आएंगी, तब वे उनके शरीर से सौदा करेंगे। यह कार्य पुलिस के साथ जमींदार भी करते हैं। सुखराम जमींदार के पास पुलिस की शिकायत लेकर जाता है तो दरबार साहब उस पर चोरी का आरोप लगाकर जेल में बंद कर देता है, पिटाई करवाता है और प्यारी की देह के बदले उसे छोड़ता है। सुखराम की व्यथा कुण्ठा का रूप ले लेती है वह चमारिनों से कहता है – "नट की छोरी पर जवानी आती है और गंदे आदमी उसे तुरंत बेइज्जत करते हैं फिर भी वह रंडी की तरह जिए जाती है। मर क्यों नहीं जाती। हम सब मर क्यों नहीं जाते।"[37] इस प्रकार यह व्यथा उसकी विवशता को संकेतित करती है। इसी प्रकार के पुलिस

अत्याचार के प्रसंग उपन्यास में स्थान–स्थान पर दिखाई देते हैं। रूस्तम खां का घर जला देने पर इन पर जुल्म किए जाते हैं इनकी स्त्रियों को उठा ले जाते हैं, इन्हें जेल में बंद कर देते हैं, इनके गुप्तांगों में मिर्च भर दी जाती है।

लेखक चंदा व नरेश की कथा के माध्यम से बताता है कि यह सामाजिक स्थिति परतंत्रता के काल की ही नहीं थी बल्कि आजादी के बाद भी स्थिति में खास परिवर्तन नहीं आया। लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि समाज की जड़ों में बस चुकी जातिभेद की भावना कानून बना देने मात्र से नहीं मिट सकती। चंदा नटनी थी और नरेश ठाकुर। ठाकुरी अभिमान ही कारण बनता है उनके प्रेम को न स्वीकार किए जाने का। 1950 के समानता का अधिकार और 1954 का विशेष विवाह अधिनियम विभिन्न जाति व धर्म के लोगों को आपस में विवाह की अनुमति देता है लेकिन स्थिति आज भी नहीं सुधरी है।

शोषण अत्याचार से पीड़ित सुखराम का मन पुकार उठता है। वह भगवान से प्रार्थना करता है। वह स्थिति में बदलाव न आने से फिर दुखी होता है। वह बार–बार सवाल उठाता है, विवश होता है, व्यथित होता है – "हम जरायमपेशा हैं, हमारी कोई इज्जत नहीं। कोई आसरा नहीं, कोई हमारा मददगार नहीं है। अगर है तो भगवान होगा – मगर भगवान आदमी के बीच बोलता नहीं।.. हमारे पास जमीन नहीं, कुछ नहीं। आसमान के नीचे सोते हैं। धरती हमारी माता है। हम घास की तरह पैदा होते हैं, रौंदे जाते हैं। हमारी औरतों को पुलिस के सिपाही दूब की तरह चर जाते हैं।"[38].. "हम सबसे गए बीते, कुत्तों से भी बदत्तर है। हम नट क्यों हैं, कजरी।"[39] इस शोषण से पीड़ित उनका मन भविष्य की कामना करता है जहां वे चाहते हैं कि पुलिस ना हो। सुखराम सोचता है – "दुनिया में पुलिस क्यों रखी जाती है? वह दुनिया कितनी अच्छी होगी जिसमें पुलिस नहीं होगी।"[40] इस प्रकार पुलिस द्वारा किया गया अत्याचार उनके अवचेतन तक में बस गया है इसी कारण वे जो स्वप्न देखते हैं उसमें पुलिस को अपने से दूर ही रखना चाहते हैं। वेदना और विवशता का ऐसा यथार्थ चित्रण अत्यत्र दुर्लभ है। यह जनजाति एक वस्तु मात्र मान ली गई है और इनकी स्त्रियां पुलिस व उच्च जातियों की यौन पिपासा को शांत करने का साधन मात्र। पुलिस की नजर में ये मानव न रहकर पशु हो गए जो शोषण करने या पीटे जाने पर भी नहीं बोलता। जिस किसी का वश चलता वह इनका शोषण करता यही कारण है कि इस जनजाति के लोग (सुखराम) स्वयं को उच्च जाति का सिद्ध करना चाहता है ताकि उनका जातिगत शोषण न हो।

जनजातियों की सामाजिक स्थिति या वर्णव्यवस्था में इनके स्थान के साथ ही इनके सामाजिक जीवन का अध्ययन नारी की स्थिति के संदर्भ में भी हो सकता है।

नारी की इनके समाज में स्थिति और तथाकथित सभ्य समाज व नट नारी इन्हीं मुद्दों को दृष्टिगत रखकर अध्ययन किया जा सकता है।

नट समाज में नारी की स्थिति अन्य समाजों से ज्यादा स्वतंत्र भी होती है और भिन्न भी। स्वतंत्र इस अर्थ में होती है इनको आर्थिक मामलों, सामाजिक मामलों में बराबर का अधिकार दिया जाता है, यहां स्त्री पति का दबाव सहकर जिंदगी बिताने को बाध्य नहीं है। ये पति का दाब नहीं सहती। नट समाज में नारी की इस स्वतंत्र स्थिति का मूल कारण आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता है। यही कारण है कि पति के बराबर उनका अधिकार है। कजरी अपनी जनजाति की नारी की विशिष्ट स्थिति को बताती है – "अरे औरत में ही समवाई होती है। एक एक के साथ कितनी नहीं जनम गंवा देती। हम तो नटनी हैं यह मन की बात है। वैसे देख ले आन बिरादरी में बाप कसाई के हाथ दे देता है तो बोटी–बोटी कट जाए पर चूं तक नहीं करती और मरद औरत को देखके मालिक बन जाता है। लुगाई को पांव की जूती समझता है।"[41] जबकि तथाकथित उच्च जातियों में स्त्री की मुक्ति पति सेवा पर ही निर्भर है वहां पति कितना भी दुराचारी या अयोग्य क्यों न हो स्त्री के लिए पतिव्रत धर्म ही सबसे बड़ा धर्म होता है। यहां स्त्रियों को जन्म से ही अपवित्र माना जाता रहा है परंतु जनजातियां इस पतिव्रत धर्म और जन्मतः अपवित्र की शास्त्रोक्त मान्यता को चुनौती देती प्रतीत होती हैं। उनकी मान्यता भिन्न है, उनकी परंपरा भिन्न है। नट समाज की स्त्रियां न तो पति का दाब सहती हैं और न ही पांव की जूती बनकर रहना उन्हें स्वीकार है वे बराबर का अधिकार रखती हैं।

नट समाज की स्त्रियां तथाकथित सभ्य समाज की स्त्रियों के समान पतियों से बिना दोष के ही पिटती नहीं रहती, वहां स्त्री पति को गाली देती हैं, उसे हरामी व निपूता तक कहती है। इतना ही नहीं 'कब तक पुकारुं' में अनेक अवसरों पर प्यारी, कजरी व सौनो पति को मारती भी हैं। रानी भी राजा को गाली देती है। नारी समानता का एक पक्ष स्त्री–पुरुष का साथ बैठकर मद्यपान करना भी है जो अन्य समाजों में नहीं मिलता। जनजातीय समाज में स्त्री स्वतंत्रता और पुरुष से उसकी समानता तलाक व पुनर्विवाह के मामले में भी सामने आती है वहां पुरुष के समान स्त्री भी तलाक लेने में पहल कर सकती है वह तथाकथित सभ्य समाज की स्त्रियों की तरह आजीवन पीड़ा सहने को बाध्य नहीं है। इसके साथ ही उसे पुनर्विवाह का भी अधिकार है। तथाकथित सभ्य समाज में विधवा स्त्री का जीवन नरक के समान हो जाता है वहां उसे तिलतिल मरने के लिए छोड़ दिया जाता है उसका सामाजिक बहिष्कार होता है उसे बलात साध्वी की जिंदगी व्यतीत करनी पड़ती है नटों में ऐसा नहीं है यहां त्याग का पुनर्विवाह का अधिकार स्त्री को भी है। कजरी सूसन से कहती है – "सरकार मैं नटनी हूं मैं छोड़ सकती हूं।... छोटी जातों

में औरत फिर नया मरद कर लेती हैं, बड़ी जातों में नहीं होता।"[42] कजरी अपनी जाति की इस स्थिति को तथाकथित उच्च समाज से श्रेष्ठ मानती है और श्रेष्ठ है भी। कजरी कहती है – "पहले हम में भी कई कई रखी जाती थी। अब कोई नहीं रहती सरकार। मन भाए की बात और है। इधर किसी पर मन आ गया तो हम अपने पहले से नाता तोड़ लेती है। ... पर हुजूर बड़ी जातों में ऐसा नहीं है। वहां तो एक–एक के कई औरत होती है। बेचारी बहुत सी तो मरद का मुंह भी नहीं देख पाती, वैसे ही उमर निकल जाती है और किसी से नाता जोड़ ले तो अधरम हो जाता है। बड़ी सांसत है सरकार। बड़ी जात का होना भी पूरी आफत ही समझो।"[43] यहां स्त्री पति का दाब नहीं सहती उसकी गुलाम बनकर नहीं रहती। प्यारी सुखराम से कहती है – "मैं भंगिन चमारिन नहीं हूं जो मरद की गुलाम बनकर रहूं। मैं तो देखूंगी। पर मेरा मन तेरा है जिस दिन तुझसे हट जाएगा मैं तुझे छोड़कर चली जाऊंगी।"[44] प्यारी का सुखराम को छोड़कर रूस्तम खां की रखैल बनना, कजरी का पहले पति कुर्री को छोड़कर सुखराम से विवाह करना आदि इसी स्वतंत्र स्थिति के उदाहरण हैं।

वहां स्त्री की इस स्वतंत्रता में उसके जातीय संस्कारों का महत्वपूर्ण योगदान है। यहां इस समाज में स्त्री की स्वतंत्रता काम संबंधी मामलों में भी है। यहां स्त्री परपुरुष से काम संबंध पति के होते हुए भी रख सकती है। यहां पति पत्नी को इस आधार पर तलाक नहीं दे सकता क्योंकि यह इनका जातीय संस्कार है। इसके साथ ही इनके काम संबंधों के अनेक सामाजिक व आर्थिक कारण भी हैं जो इन्हें ऐसा करने की छूट देते हैं या कहें विवश करते हैं।

नट समाज में नारी की स्थिति को काम संबंधों और नैतिकता संबंधी बहस के संदर्भ में देखा जा सकता है। जहां नैतिकता संबंधी दृष्टिकोण तथाकथित सभ्य समाज का दृष्टिकोण है। प्रत्येक संस्कृति, जनजाति या जातीय समाज के अपने नियम–कायदे होते हैं। एक जाति के संस्कार या नियम दूसरे के लिए गलत या हेय हो सकते हैं उसी प्रकार श्रेय भी। इन्हीं मामलों में काम संबंध और नैतिकता संबंधी मामला है। तथाकथित सभ्य समाज नैतिकतावादी नियमों पर आधारित समाज है यहां स्त्रियों से नैतिक रूप से चरित्रवान होने की न केवल अपेक्षा की जाती है वरन् उन्हें इनकी शिक्षा भी दी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नटादि जनजातियों की स्त्रियां अनैतिक या चरित्रहीन होती है वहां नैतिकता या चरित्रवान होने का आधार भिन्न है वहां पति से इतर पुरुष से संबंध रखना नैतिकता का मानदण्ड नहीं है। सभ्य समाज के नैतिकता संबंधी मानदंडों में यह प्रमुख मानदंड है। तथाकथित सभ्य समाज पति से इतर काम संबंधों, चाहे वह बलात ही क्यों न किया गया हो पर दण्ड

का विधान करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है जहां अनेक स्त्रियों को इसी कारण दण्ड सहना पड़ा, पत्थर बनना पड़ा।

नट समाज में स्त्रियों को काम संबंधों की छूट प्राप्त है! इसी संस्कार के चलते वहां पति पत्नी को इस आधार पर तलाक नहीं दे सकता। करनट समाज में यौन संबंध नैतिक मानदंड नहीं है वहां यह आम कार्य है तभी तो प्यारी की मां सौनो कहती है – "अरी! ये तो औरत का काम है। उसे बताने की जरूरत ही क्या है।... औरत का काम औरत का काम है। उसमें भला बुरा क्या! कौन नहीं करती?"[45] प्यारी स्वयं सुखराम से कहती है – "इत्ती सी बात के लिए मुझे मरना नहीं आता। औरत को तो औरत का काम करना पड़ता है। इसमें ऐसी बात ही क्या है।"[46]

काम संबंधों में यह छूट दूसरे समाजों के लिए लोभ का कारण भी बनती है। नट स्त्रियों का जातीय संस्कार यद्यपि इस चीज की छूट देता है परंतु फिर भी आर्थिक विवशता और पुलिस अत्याचार के चलते ये यह कार्य करने हेतु विवश भी होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर कोई स्त्री इस प्रकार के संबंध न रखना चाहे तो उसे परिस्थितिवश ऐसा करना पड़ता है। परतंत्र भारत में नट स्त्री की स्थिति का चित्रण 'कब तक पुकारुं' करता है जहां प्यारी स्वेच्छा से कंजरों से संबंध रखती है पर पुलिस के पास नहीं जाना चाहती इस पर सौनो अपनी विवशता बताती है – "नहीं तो मार के खाल उधेड़ देगा दरोगा। तेरे बाप और कसम दोनों को जेल भेज देगा। फिर कमेरा न रहेगा तो क्या करेगी? पेट के लिए तो करना ही पड़ता है।"[47] प्यारी इसी विवशता को सुखराम को बताती है – "वह कोड़े मार–मार कर तेरी और मेरे बाप की चमड़ी उधेड़ देगा। फिर भी पकड़वा मंगवाएगा मुझे। अब ईनाम भी देगा तब ठोकर और देगा ऊपर से।"[48]

इस प्रकार काम संबंध जहां एक ओर जाति का संस्कार है वहीं विवशता भी है। जहां जातिगत संस्कार इनके ऐच्छिक संबंधों का आधार बनता है वहीं आर्थिक स्थिति व पुलिस से जीवन रक्षा हेतु किया गया यौन व्यवहार इनकी विवशता है। नट समाज में काम संबंधों का खुलापन अन्य समाज़ों के लोगों को आकर्षित करता है और वे इसे सहज प्राप्य मानकर इनके पुरुषों को बंदी बना लेते हैं ताकि उन स्त्रियों की देह का सौदा उस पुरुष की जान से किया जा सके। दरबार साहब इसी तरह करता है वह मदद की गुहार करने गए सुखराम को जेल में बंद कर देता है और कहता है कि तेरे घर से कोई आएगी तो तुझे छोड़ देंगे। विवश होकर प्यारी को जाना पड़ता है और उसके यौन व्यवहार के बदले में सुखराम को छोड़ा जाता है। इस प्रकार यहां काम संबंध जीवन रक्षा का उपाय बनकर आता है। इनके समाज में इस बात का कोई असर नहीं पड़ता। इसीला व प्यारी की मां सौनो पर इस बात

कोई असर नहीं पड़ता कि प्यारी दरबार साहब से काम संबंध करके आई है या कंजरों के साथ रहती है। इसका कारण यही है कि यह उनका जातीय संस्कार है और उनके लिए नई बात नहीं है।

इसी प्रकार काम संबंधों के पीछे दूसरा कारण आर्थिक स्थिति भी है। रामा की पत्नी अपने बच्चे के इलाज के लिए इसे व्यवसाय के रूप में करती है। कजरी जिसका पति कुर्री दारु पीकर पड़ा रहता है तब मजबूरन उसे देह व्यापार करके घर खर्च चलाना पड़ता है। सुखराम की मां बेला आर्थिक कारणों के चलते काम संबंध बनाती है।

काम संबंधों का कारण जीवन रक्षा भी है। सुखराम की मां बेला अपने पति से कहती है "मैंने तेरे लिए अपने को मिटा दिया। दरोगा हरनाम मुझे अपनी रखैल बनाकर सारे आराम देने को कहता था, पर तेरे लिए मैंने उसे ठुकरा दिया। जब दरोगा करीम खां ने तुझे गिरफ्तार कर लिया था तो मैंने जोबन का सौदा करके तुझे छुड़ाया था। जब अकाल पड़ा था तब तेरे और तेरे बच्चे के लिए गांव में जाकर परायों के संग रातें काटकर कमाकर लाती थी ताकि तुझे बचा सकूं।"[49] इसी प्रकार पुलिस अत्याचार से रक्षा और बदला लेने का भी आधार बनता है यह। प्यारी सुखराम से कहती है – "अगर तुझे महलों में नहीं ले जा सकती तो अपने को बेचकर तुझे हुकूमत दूंगी। फिर पुलिस वाले तुझे डरा न सकेंगे। मुझे भी किसी की जूठन नहीं खानी पड़ेगी जो हम तुम ब्याह में बटोरते हैं।"[50] इसी प्रकार पुलिस से रक्षा के लिए वे रखैल बनना भी स्वीकार करती है। प्यारी कहती है – "तब मैं दो एक ठाकुर को पिटवाऊंगी, जिन्होंने मुझसे मतलब निकाल कर दुअन्नी की जगह इकन्नी दी थी। निरोती बामन के घर में आग लगा दूंगी चुपचाप। हरामजादा मुझे छिनाल कहता था, सो भी काम साधकर गुड़ की भेली देने को मुकर गया था। हुकूमत करूंगी मैं सबका सिर कुचलूंगी।"[51] इस प्रकार आर्थिक कारण, जीवन रक्षा और पुलिस के अत्याचारों से बचने तथा बदला लेने (जिसके मूल में सामाजिक प्रतिष्ठा का भाव है) की भावना के कारण ये काम संबंध भी बनाती हैं और रखैल बनना भी स्वीकार कर लेती हैं। इसके साथ इनका जातीय संस्कार भी इन्हें इसकी छूट देता है जहां रखैल बनने के बाद भी पति द्वारा पत्नी को वापस स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार काम संबंधों के पीछे कारण सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक है। रामा की पत्नी का देह व्यापार, कजरी का देह व्यापार, सौनो व बेला का देह व्यापार आदि का कारण मूलतः आर्थिक है। प्यारी का काम संबंध ऐच्छिक है और साथ ही जीवन रक्षा और पुलिस शोषण से सुरक्षा के कारण हैं। प्यारी का कंजरों से संबंध, इसीला का सुखराम की मां से संबंध, मंगू का रामा की पत्नी से संबंध, राजा की पत्नी का किसी और के साथ भाग जाना इनके पीछे मूल कारण

सांस्कृतिक है। इनकी संस्कृति में काम संबंध हेय नहीं है और इसी मान्यता या छूट का उपयोग वे अथोपार्जन, जीवनरक्षा आदि के लिए कर लेते हैं।

नैतिकता संबंधी प्रतिमानों पर इन संबंधों को कसना उचित नहीं है। नटों के बारे में लेखक स्वयं लिखता है – "नट कई तरह के होते हैं इनमें करनट जरायमपेशा कहलाते हैं। इनकी कोई नैतिकता नहीं होती। मर्द औरत को वेश्या बनाकर उनके द्वारा धन कमाते हैं। ...डोमनियों की तरह इनकी स्त्रियां नाचती हैं। ... ऊंची जातों के लोग अक्सर डोमनियों के साथ नाजायज ताल्लुक रखते हैं पर डोमनियां पति को मालूम नहीं होने देती। करनटों में यह छूट है। यहां कोई बुराई सेक्स के आधार पर नहीं मानी जाती है। यह सारा खानाबदोश समाज घोर उत्पीड़ित है, शोषित है। न इनके सामाजिक नियम शाश्वत हैं न हमारी नैतिकता के बंधन ही शाश्वत हैं।"[52] इस प्रकार लेखक नटों के जीवन की वास्तविक स्थिति को चित्रित करता है उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी है उन्होंने नैतिकता का आवरण ओढ़कर उपन्यास नहीं लिखा है। लेकिन शम्भू सिंह का दृष्टिकोण नैतिकतावादी है इसी कारण वे लिखते हैं – "करनट समाज में सेक्स का खुला व्यापार चलता है और नारी व पुरुष के शारीरिक संबंध सामाजिक व नैतिक दायरे से परे हटकर होते हैं। सुखराम की मां बेला अपने पति के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार है परंतु वह भी दूसरे आदमियों के बीच बैठकर मस्ती से शराब पीती है।... प्यारी अपनी मां से कहती है कि उसे नया कर लेना चाहिए, सुखराम पर नजर नहीं डालनी चाहिए।... यह संपूर्ण करनट समाज यौन मान्यताओं, यौन वर्जनाओं, नैतिक धारणाओं के परिप्रेक्ष्य की अवहेलना करते दिखाई देते हैं।"[53] शम्भू सिंह तथाकथित सभ्य समाज की मान्यताओं पर इनकी मान्यताओं का मूल्यांकन करते हैं उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति व अपनी विचारधारा होती है जिसके तहत वे नियम–कायदे बनाते हैं। एक समाज के लिए बनाया नियम दूसरे के लिए हेय हो सकता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरा समाज पतित है या अनैतिक है। दक्षिण भारत की जनजातियों में पाया जाने वाला मामा–भानजी विवाह इसी प्रकार मुस्लिम समाज की विवाह व्यवस्था उपर्युक्त मान्यतानुसार अनैतिक ही सिद्ध होगी जबकि ऐसा नहीं है, प्रत्येक समाज के अपने नियम हैं अपनी मान्यताएं हैं। नटों के समान ही यह खुलापन कंजरों व सांसियों में भी पाया जाता हैं सास–जमाई संबंध दक्षिण भारत की मातृसत्तात्मक जनजातियों में भी पाया जाता है जहां संपत्ति के बंटवारे को रोकने हेतु ससुर की मृत्यु के बाद सास जवाई से विवाह कर लेती है। शशिभूषण सिंहल रांगेय के रचनात्मक दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए लिखते हैं – "इस विशद उपन्यास में करनट समाज की यौन मान्यताओं को

विशेष रूप से चित्रित किया गया है। इस विचित्र किंतु वास्तविक स्थिति को प्रस्तुत करके उसमें कौशलपूर्वक मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा की है।"[54]

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' तथाकथित सभ्य समाज में नारी की हीन सामाजिक स्थिति, उसके यौन शोषण का चित्रण करता है। इसी के साथ नट समाज में नारी की स्वतंत्र स्थिति, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्थिति का भी चित्रण करता है जहां यौन व्यवहार संस्कृति का ही हिस्सा है। अपने समाज में इनकी स्थिति पति के बराबर होती है और पति की सहगामिनी की होती है। इसी संदर्भ में 'कब तक पुकारुं' नट नारी की पवित्रता संबंधी अवधारणा को चित्रित करता है।

यौन संबंधों और प्रेम के द्वन्द्व को यहां लेखक ने चित्रित किया है लेखक नट नारी की सहगामिनी और परस्पर सहायक की स्थिति को प्रेम के आलोक में देखता है। जहां बेला अपने पति व बच्चों की जीवन रक्षा के लिए अपना शरीर दांव पर लगाती है जहां इसी प्रेम के चलते प्यारी रूस्तम खां रखैल बनना स्वीकार करती है ताकि सुखराम पर अत्याचार ना हो। नट नारी का पवित्रता संबंधी दृष्टिकोण अन्य समाजों से भिन्न है। यहां पवित्रता शरीर आधारित नहीं है वह आत्मा आधारित है। जिस हृदय में प्रेम है वही पवित्र है। यही कारण है कि अनेक पुरुषों से देह संबंध बनाने के बावजूद भी पति उन्हें स्वीकार करते हैं, वे पति को स्वीकार करती हैं, उनकी होकर रहना चाहती हैं, संबंधों का स्थायित्व प्रेम के आधार पर ही मानती हैं। "नारी की सदैव गंदी की जाने वाली देह के बावजूद जो करनट उसको प्यार करते हैं वे ही उच्च वर्गीय नैतिक बंधनों से परे जाकर अनुभव कर सकते हैं कि प्यार का मूल्यवान अनुभव क्या होता है। यही अनुभव सुखराम के बाप को बेला से संबद्ध रखता है, सौनो को इसीला के साथ बांधे रखता है।"[55] बेला सुखराम के पिता से कहती है – "कितने नट मुझे चाहते थे लेकिन मैंने तेरा ही हाथ पकड़ा। क्या मैं जानती थी कि तू मुझसे नफरत करता रहेगा।... मैंने तेरे लिए अपने आप को मिटा दिया।... अकाल पड़ा था तब तेरे और तेरे बच्चों के लिए मैं गांव जाकर पराए मर्दों के साथ रातें काटकर कमाकर लाती थी ताकि तुझे बचा सकूं।"[56] इस प्रकार प्रेम ही वह तत्व है जिसके चलते वह ऐंसा करती है। यह प्रेम संभोग से भिन्न वस्तु है। प्यारी कहती है – "नाता जोड़ना और बात है मन की होकर रहना और बात।"[57] ये शरीर से ज्यादा मन के संबंधों पर बल देती है। "तुम मेरे हो मैं तुम्हारी। बस यही बात मेरे दिल की है बाकी बातें दुनियादारी की हैं।"[58] दूसरे पुरुषों के साथ संबंध देह तक सीमित थे और उनका कारण भिन्न था – "मैंने एक किया है वह तू है। बाकी पैसे कमाने के लिए थे। उनको मैंने दिल नहीं दिया।"[59] यही कारण है कि ये स्त्री को देह से ज्यादा मानते हैं। लेखक लिखता है – "उस देह को जिसे अनेक पुरुषों ने गंदा किया है उसे प्रकृति की आवश्यकता, समाज की विषमता समझकर

यह समाज सहता चला आ रहा है।"[60] इस प्रकार परस्पर बलिहार जाने वाली भावना के कारण ही यह संबंध श्रेष्ठ हो गया है जहां स्त्री भोग्या नहीं रह गई है वह उससे बढ़कर हो गई है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय उनकी इसी विशिष्ट स्थिति की व्याख्या करते हैं – "नीच मानी जाने वाली जातियों में संबंधों में अधिक स्वतंत्रता होती है। वहां आधुनिक समाज की तरह सेक्स के आधार पर पवित्रता नहीं मानी जाती वहां पवित्रता का आधार प्रेम माना जाता है। संपत्ति हीनता के कारण नीची जातियों में संबंध का आधार संपत्ति या उत्तराधिकार नहीं बल्कि प्रेम होता है।"[61] प्रेम ही वह माध्यम है जो इस समाज को जोड़े रखता है जिसके आधार पर रिश्तों की प्रगाढ़ता होती है। इसी के कारण बेला त्याग करती है, प्यारी सुखराम को पुलिस के अत्याचारों से बचाने हेतु रखैल बनना स्वीकार करती है। इसी प्रेम के कारण स्त्रियां पर पुरुषों से देह संबंध स्थापित करने के बाद भी पति की सहधर्मिणी, सहगामिनी बनती हैं। सुखराम–कजरी व सुखराम–प्यारी का प्रेम इसी प्रकार का प्रेम है जहां स्त्री सहयोगी बनकर आती है। सुखराम कजरी व प्यारी को पीटता है तो उनके पांव भी दबाता है, वे भी सुखराम के साथ–साथ दुःख झेलती हैं। इस प्रकार प्रेम ही वह आधार है जिसके चलते ये इतने बड़े कष्ट सहन करती है और दुत्कारे जाने पर बघेरों का आहार बनना स्वीकार करती हैं। इस प्रकार देह व्यापार के साथ ही नट समाज की स्त्रियों की पवित्रता संबंधी अवधारणा को लेखक ने चित्रित किया है जहां पवित्रता का आधार देह की बजाय मन है। "कर्नटों की लाचार और घृणित जीवन की शिकार नारियों की जीवनियों में छिपी हुई ऊंचाइयों का अनुसंधान इस उपन्यास को प्रभावी बनाता है।"[62]

इस प्रकार नट समाज में नारी की स्थिति सहधर्मिणी और सहयोगिनी की है। तथाकथित सभ्य समाज से इनकी स्थिति भिन्न भी है और विशिष्ट भी। यहां शरीर की पवित्रता से ज्यादा मन की पवित्रता पर बल दिया जाता है। नट नारी संबंधों का आधार मन को मानती है देह को नहीं। इसी स्थिति का चित्रण करता है यह उपन्यास।

नटों के सामाजिक जीवन का अध्ययन उनकी सामाजिक स्थिति, उनके समाज और तथाकथित सभ्य समाज में नारी की स्थिति के बाद सामाजिक संरचना के संदर्भ में किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से नटों की सामाजिक संरचना 'कब तक पुकारुं' में उसी रूप में चित्रित की गई है जैसी वास्तविक है। भारत के अन्य समाजों की तरह परिवार यहां भी सबसे छोटी इकाई है। परिवार जीवन की प्राथमिक पाठशाला होती है जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न सामाजिक मूल्य व दायित्व सीखता है। परिवार माता–पिता व उनकी संतान से निर्मित होता है। भारत की भिन्न–भिन्न जनजातियों में पारिवारिक व्यवस्था भी भिन्न–भिन्न पाई जाती है। दक्षिण तथा उ.

पूर्वी भारत की जनजातियों में परिवार मातृसत्तात्मक पाए जाते हैं जबकि शेष भारत में पितृसत्तात्मक। पारिवारिक व्यवस्था की सबसे अनूठी व्यवस्था केरल की नायर जनजाति में पाई जाती है यहां पति पत्नी के गर्भधारण के बाद उसे छोड़कर चला जाता है। वहां मातृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न पारिवारिक व्यवस्थाएं पाई जाती हैं। "जनजातियों के सामाजिक संगठन में पारिवारिक रचना और उत्तराधिकार की व्यवस्था में अंतर पाया जाता है।"[63] मध्य और पश्चिम भारत में नियंत्रण का अधिकार पिता का होता है यहां पितृसत्तात्मक व्यवस्था पाई जाती है। संपत्ति व कर्ज का बंटवारा पुत्रों में ही होता है, उत्तराधिकार भी पुत्रों को ही दिया जाता है। नटों में भी इसी प्रकार की पारिवारिक व्यवस्था पाई जाती है। "यहां संयुक्त और एकल दोनों प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। घर का सबसे बड़ा लड़का मुखिया होता है। ... संपत्ति परिवार में पुरुष विरासत में जाती है और पुरुषों का आधिपत्य ही नियम है। पुत्रों में संपत्ति का बंटवारा होता है।"[64] 'कब तक पुकारुं' इसी व्यवस्था की ओर संकेत करता है। जहां कजरी–प्यारी पिता का घर (शादी के बाद) छोड़कर पति के साथ रहने जाती है। चंदा भी नीलू के घर जाती है। संपत्ति के नाम पर इनके पास कुछ भी संग्रहित नहीं रहता फिर भी हुनर पिता से पुत्र को ही विरासत में जाता है।

यहां परिवार एक सहयोगी संस्था के रूप में होता है। स्त्रियां ही नहीं बच्चे भी कार्यों में सहयोग करते हैं। "परिवारों में संबंध मदद और सामाजिक मामलों में एक दूसरे की सेवा द्वारा रहते हैं। परंपरागत धंधे में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भागीदारी होती है। घरेलू कार्य व बच्चों को संभालना उनका कार्य होता है।... स्त्रियां पारिवारिक मामलों, बजट बनाने, खर्च, लड़कों–लड़कियों की शादी आदि में सहयोग करती हैं। ये परिवार की आय में भी सहयोग करती हैं।"[65] नट जनजाति के लोग तमाशे दिखाते हैं जिसमें भी सहयोग की भावना कार्य करती है। आर्थिक क्रियाओं में स्त्री व बच्चों की भागीदारी तमाशे के संदर्भ में 'कब तक पुकारुं' में भी देखने को मिलती है। "प्यारी मेरे साथ जाती। बस्ती का एक लड़का रामलाल हमारे साथ जाता और इसीला खेल में आवाजें लगाता। ... इसीला पैसे इकट्ठे करके गिनने लगता और छिपाकर रखता। प्यारी रोटी बनाती। सौनो दिनभर एकांत में ही रहती यानी हमारे साथ नहीं रहती। वह भीख मांगकर लाया करती थी। वह सिरकी के खिलौने बनाती और बच्चों को बजा–बजाकर दिखाती और नाज के बदले उन्हें बेच आती। दो चार करतब प्यारी भी जानती थी वह लहंगा फिरा के नाचती।"[66]

इस प्रकार आर्थिक क्रियाकलापों में सहयोग की भावना से कार्य किया जाता था। यद्यपि नट पैसे व औरतों के लिए लड़ते हैं फिर भी सहयोग की भावना उनमें पाई जाती है जो किसी एक पर कष्ट पड़ने पर सब लोगों द्वारा उसकी मदद के

रूप में सामने आती है। सुखराम मंगू की पत्नी की मदद करता है। कजरी सुखराम व प्यारी की मदद राजा के लोग करते हैं। सुखराम की बांके द्वारा पिटाई किए जाने पर सेवा सुश्रुषा मंगू व उसकी पत्नी ही करते हैं। यह कबीलाई संस्कृति है जहां पूरा कबीला परस्पर सहयोग की भावना से एक परिवार की तरह रहता है। इस स्थिति का लेखक ने यथार्थवादी चित्रण किया है।

सामाजिक संरचना के उपविभागों के अंतर्गत नट समाज गोत्रों में बंटा होता है। पीपुल ऑफ इंडिया के अनुसार – "नटों के तीन बड़े खण्ड माला, बीदू व छद्दी है। माला और बीदू में बहुत सी गोत्रें हैं जबकि छद्दी एक गोत्री खण्ड है। ये तीनों खण्ड एक दूसरे से अपनी लड़की का विवाह करते हैं। गोत्र राजपूत संरक्षकों के नाम पर है। सामुदायिक स्तर पर अंतर्विवाही होते हैं और गोत्र स्तर पर बहिर्विवाही।"[67] "सदा विचरण करते हैं उनका एक परिवार डेरा कहलाता है। दो या तीन परिवार जब एकत्र हो जाते हैं तो वह टोला कहलाता है। राजस्थान में इनके टिरनबाज और कैटबाज आदि प्रसिद्ध टोले हैं।"[68] इसी प्रकार रसेल भी इनकी गोत्रों का जिक्र करते हैं। इस तरह का गोत्रीय विभाजन 'कब तक पुकारुं' में भी मिलता है जहां "डांग के पूरब में गुजराती नट हैं, उनके आगे पहलवान नट है, हम उनके आगे करनटों में जा छिपेंगे।"[69] करनट नटों की एक शाखा है रसेल के अनुसार। 'कब तक पुकारुं' के नट विवाह अपनी जनजाति में ही करते हैं लेकिन गोत्र या टोला भिन्न होता है। कजरी सुखराम से अलग कबीले की है। इस प्रकार यद्यपि नटों की सामाजिक संरचना का उपन्यास में जिक्र मिलता है।

नटों के सामाजिक जीवन को समझने के लिए सबसे महत्वपूर्ण है सामाजिक संस्कार। किसी भी समाज के जीवन का आधार होते हैं संस्कार। तथाकथित सभ्य समाज में जन्म से मृत्युपर्यंत 16 संस्कार किए जाते हैं। संस्कारों की संख्या व स्वरूप प्रत्येक जनजाति में भिन्न होते हैं। आदिम जनजातियों के संस्कार भी आदिम ही होते हैं जहां सोलह संस्कार नहीं होते न इनकी आवश्यकता ही समझी जाती है। जन्म संबंधी संस्कार का चित्रण 'कब तक पुकारुं' में नहीं मिलता। इनके संस्कार की विशिष्टता है कि "नटों का कोई पुरोहित या गुरु नहीं होता वह अपने संस्कार स्वयं संपन्न करते हैं। विवाह के अवसर पर दो बांस गाढ़ कर उस पर तोरण लटका देते हैं। वर व कन्या उसी के फेरे फिरते हैं। इन लोगों में गठजोड़ना व हथलेवे की प्रथा होती है लेकिन आग की ज्योति खड़ी नहीं की जाती। उत्तर पश्चिम प्रांतों में नट अपनी कन्याएं बटरूप बंजारों के साथ बिना उनकी कन्या बदले में लिए ही विवाह कर देते हैं। नटों में नाता प्रथा भी प्रचलित है और नाता संस्कार के अवसर पर विधवा के मृतक पति के संबंधियों को कुछ रूपया भी देना पड़ता है किंतु यदि कोई भाई मृतक की पत्नी से नाता जोड़ ले तो उसे कुछ नहीं देना पड़ता।"[70]

'कब तक पुकारुं' विवाह संस्कार का चित्रण करता है नटों में कन्यामूल्य का चलन पाया जाता है। इसी प्रकार नटों में तलाक की व्यवस्था भी पाई जाती है। स्त्री एक पति को छोड़कर दूसरा कर सकती है इसे नाता प्रथा कहते हैं इसमें पहले पति को कुछ रूपया देना पड़ता है। कजरी कुर्री को छोड़कर सुखराम से नाता करती है इसके लिए वह कुर्री को कुछ रूपये भी देती है। तलाकशुदा पक्ष दूसरा विवाह कर सकता है यह भी इस घटना द्वारा सिद्ध होता है। पति की मृत्यु के बाद दूसरा करने या नाता जोड़ने के संदर्भ में प्यारी की मां सौनो इसीला के मरने के बाद एक 22 साल के पुरुष के घर बैठ जाती है। इसके साथ ही नटों में यदि पत्नी दूसरा कर ले और झगड़ा रूपया (पहले पति को दिया जाने वाला रूपया) न दे तो पति मुकद्दमा (जो जातिपरिषद् में होता है) करके पत्नी को वापस ला सकता है। सौनो कहती है – "जब मैंने चिढ़कर बीच में दूसरा कर लिया था और आन गांव जा बसी थी तब क्यों मुकद्दमा करके मुझे वापस ले आए थे।"[71]

जनजातियों में बहुधा एक विवाह पाया जाता है परंतु अधिक की भी कोई सीमा नहीं है। विवाह भरण पोषण की क्षमता पर निर्भर करता है। नटों में 'कब तक पुकारुं' में अधिकांश एक विवाह के ही उदाहरण हैं केवल राजा व सुखराम के ही एक से अधिक पत्नियां हैं। तथाकथित सभ्य समाज से भिन्न इनमें कन्या मूल्य, तलाक की दोनों पक्षों को स्वतंत्रता, पुरोहित का अभाव, नाताप्रथा, झगड़ा मूल्य आदि विशेषताएं या विशेष लक्षण पाए जाते हैं। तलाक के संदर्भ में भी इनकी विशिष्ट स्थिति है यहां तलाक व्यभिचर के आधार पर नहीं दिया जा सकता बांझपन या आर्थिक कारण हो सकते हैं पर व्यभिचर इसका आधार नहीं हो सकता। "नटों में पति सामान्य व्यभिचर के आधार पर स्त्री को तलाक नहीं दे सकता।"[72] 'कब तक पुकारुं' इस स्थिति का यथार्थ चित्रण करता है जहां पति को पता है कि उसकी पत्नी देह व्यापार द्वारा कमाकर लाती है, रखैल बनती है पर उसे जातीय संस्कारों के कारण स्वीकार करता है।

मृत्यु संबंधी संस्कार का चित्रण 'कब तक पुकारुं' में मिलता है। "नटों में दाह संस्कार होता है। स्त्रियों को अंतिम यात्रा में सम्मिलित होने की अनुमति है। मृत देह को चिता पर उत्तर में सिर और दक्षिण में पैर करके लिटाया जाता है। तीसरे दिन अस्थियां और भस्म एकत्र की जांती हैं। गंगा में उसे बहा दिया जाता है। 12 दिन तक शोक रहता है और 12वें दिन मृत्यु के कार्य किये जाते हैं।"[73]

नटों के मृत्यु संस्कार पर हिंदुओं के प्रभाव से भी लेखक अवगत है इसी कारण शवयात्रा में 'राम नाम सत है सत्य बोलो गत है।' का उच्चारण करते दिखाया है। दाह संस्कार और उसके बाद की कपाल क्रिया का भी लेखक चित्रण

करता है – "जा रे कपाल किरिया कर दे। ... एक आगे बढ़ा उसने थोड़ा घी एक लंबे करछुल में रखकर सिर को छू दिया। तड़ाक की हल्की आवाज सी गरजती लपटों में खो गई।"[74] कपाल क्रिया ही नहीं उससे जुड़ी मान्यता का भी लेखक चित्रण करता है वह नटों द्वारा कहलवाता है 'बिन्दरावन पहुंच गई वह तो।'[75] इसी प्रकार शमशान वैराग्य की स्थिति भी लेखक चित्रित करता है।

इस प्रकार नटों का सामाजिक जीवन अपनी समग्रता में 'कब तक पुकारुं' में चित्रित है। लेखक ने न केवल इनकी सामाजिक स्थिति का चित्रण किया वरन् सामाजिक रीतियों, संस्कार व संरचना का भी यथार्थ चित्रण किया है। सामाजिक स्थिति के अंतर्गत तथाकथित सभ्य समाज में इनकी हीन स्थिति और तद्जनित शोषण व अत्याचार का यथावत चित्रण किया है। सामाजिक वर्णव्यवस्था में स्वयं को एक स्थान पर फिट करती इस जनजाति की वर्ण संबंधी मान्यता का भी चित्रण किया है। नारी की स्थिति का भी लेखक चित्रण करता है जहां नारी तथाकथित सभ्य समाज की नारियों से ज्यादा स्वतंत्र है। जहां नारी पुरुष की सहगामिनी, सहभागिनी बनकर आती है दासी नहीं। स्वतंत्र स्थिति तलाक, पुनर्विवाह आदि अनेक मामलों में प्रकट होती है। नारी की विशिष्ट स्थिति इस संदर्भ में भी है कि नट नारी शरीर से ज्यादा महत्व मन को देती प्रतीत होती है यहां यौन संबंध अनैतिक नहीं माना जाता इनकी सामाजिक मान्यता भिन्न है। सामाजिक संस्कारों के अंतर्गत विवाह व मृत्यु आदि संस्कारों पर हिंदू प्रभाव और उससे भिन्न स्थिति स्पष्ट परिलक्षित होती है। भिन्नता पुरोहित का स्थान वृद्धजन या भानजों को देने और मंत्रों का स्थान गीतों को देने के संदर्भ में स्पष्ट होती है। लेखक ने इनकी सामाजिक मान्यताओं और विधि निषेधों का यथावत चित्रण किया है। सामाजिक संरचना के अंतर्गत पारिवारिक व्यवस्था, गोत्र संगठन, विवाह व्यवस्था, सहयोग वृत्ति आदि का चित्रण मिलता है। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि नटों के सामाजिक जीवन का चित्रण लेखक ने यथार्थवादी दृष्टि से किया है उनका दृष्टिकोण नैतिकतावादी नहीं है और साथ ही ऐसा चित्रण अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है। स्वाभाविक है ऐसा चित्रण मात्र कल्पना नहीं हो सकता, इसमें लेखक का गहरा जीवनानुभव भी है।

नटों का आर्थिक जीवन और 'कब तक पुकारुं'

भारतीय जनजातियों में आर्थिक स्तर की भिन्नता परिलक्षित होती है। जहां एक तरफ नौकरीपेशा जनजातियां हैं वहीं दूसरी तरफ खाद्य संग्राहक अर्थव्यवस्था वाली जनजातियां भी हैं। राजस्थान की घुमक्कड़ जनजातियां – नट, कंजर, सांसी आदि का जीवन स्तर निम्न ही पाया जाता है। मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप की रिपोर्ट के

अनुसार 85 प्रतिशत आदिवासी प्रशासनिक रूप से निर्धारित गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं। नट इसी प्रकार की जनजाति है। इनका दिन उदरपूर्ति हेतु व्यवस्था करने में ही बीत जाता है, इनके पास संग्रहण के लिए कुछ नहीं रहता।

"हिंदी के जनजातिमूलक आंचलिक उपन्यास साहित्य में चित्रित समाज की अर्थव्यवस्था के नियामक तत्वों के अतिरिक्त जनजातियों के आय के साधन, साधनों की स्थिति, उनका आर्थिक स्तर व आर्थिक विकास के नए चरण समाविष्ट किए जा सकते हैं।"[76] जनजातियों के आर्थिक स्तर की अगर बात की जाए तो इनकी निर्धनता स्पष्ट होती है। अधिकांश जनजातियां गरीब है, विपन्न हैं। उनके पास जीविका के पर्याप्त साधनों का अभाव है। गरीबी उनकी सबसे बड़ी दुश्मन है इसी कारण उन्हें मन के न चाहने पर भी अनेक कार्य करने पड़ते हैं। 'कब तक पुकारुं' में सुखराम कहता है – "कजरी यह दुनिया बड़ी जालिम है। मैं इतने दिन में एक बात समझा हूं कि गरीब की सबसे बड़ी मुसीबत है। तू तन क्यों बेचती है, जानती है? कजरी कहती है – न बेचूं तो जिऊँ कैसे?"[77] स्पष्टतः गरीबी और तद्जनित विवशता इनके जीवन का सार बन गया है।

अपनी हीन आर्थिक स्थिति का चित्रण करते हुए सुखराम कहता है – "हमारे पास जमीन नहीं है, कुछ नहीं है। आसमान के नीचे रहते हैं। धरती हमारी माता है। हम घास की तरह पैदा होते हैं। रौंदे जाते हैं।"[78] अन्य जनजातियों के पास जमीन होती है, भील–मीणा आदि जनजातियां कृषि को अपना आधार बना चुकी हैं लेकिन घुमक्कड़ जनजातियों के पास न जमीन रहती है न कुछ और। उनके जीवन की पूंजी उनका डेरा ही होता है। उनकी अभावों से भरी जिंदगी का चित्रण लेखक करता है – "वे आग जलाकर चारों ओर बैठकर हाथ और शरीर तापते हैं। फिर भी काम नहीं चलता तो पौरुष और स्त्रीत्व द्वारा एक दूसरे को तप्त करने का यत्न करते हैं।"[79] यह कार्य शायद किसी को अनैतिक लगे या कल्पना लेकिन वास्तविक स्थिति है ये। आर्थिक विपन्नता आदमी को मजबूर कर देती है, आदमी न चाहते हुए भी बहुत से ऐसे कार्य कर जाता है जो अनैतिक या अनुचित लगे और शायद सामान्य अवस्था में वह स्वयं भी ना करे।

इसी आर्थिक विपन्नता के चलते ही ये जनजातियां किसी समय चोरी भी कर लेती थी और सेंधमारी भी। 'कब तक पुकारुं' इस स्थिति का यथार्थ चित्रण करता है। इसीला बोहरे के घर चोरी करके लाता और दूसरे साहूकार को बेच देता है। इसी प्रकार "सुखराम चंदन मेहतर को पचास रूपए देने के लिए बोहरे के घर सेंध मारता है।"[80] आर्थिक विपन्नता चोरी तक ही सीमित नहीं रहती इसी के चलते इनकी स्त्रियां यौन व्यवहार (देह व्यापार) करती हैं। 'कब तक पुकारुं' में विभिन्न अवसरों

पर काम संबंधों के पीछे कारण आर्थिक प्रमुख रहा है। सुखराम की मां बेला अपने पति व बच्चे को अकाल से बचाने के लिए देह व्यापार करती है। प्यारी रूस्तम खां की रखैल जिन कारणों से बनती है उसमें आर्थिक कारण भी एक है। सुखराम से कहती है कि 'अब हमें जूठन हीं खानी पड़ेगी जो हम शादी–ब्याह में बटोरते हैं।' रामा की बहू अपने बच्चे के इलाज के लिए देह व्यापार करती है और अठन्नी लाकर रामा की हथेली में रख देती है यह कहते हुए कि 'एक ही मिल सका।' गरीबी मानवता की सीमा लांघने पर भी मजबूर कर देती है। रामा की बहू कहती है – "क्या है, सूहर मर जाए तो भला।"[81] अर्थाभाव ही इस कथन के मूल में है जहां एक मां पुत्र की मृत्यु की कामना करती है। वास्तव में यह खीझ है क्योंकि जब मनुष्य कुछ कर नहीं पाता, व्यवस्था नहीं बदल पाता तो खीझ उत्पन्न होती है। यह देह व्यापार एक दो परिवार नहीं करते वरन् संपूर्ण जनजाति इस अर्थाभाव के चलते ऐसा करने को विवश हो गई है। सुखराम बताता है – "मेरे पास कुछ और करनट आ बसे थे। हम सब घुलमिल गए थे। ये लोग सिर्फ चोरी करते थे। और आरतें पराए मर्दों को फंसाती थी।"[82] प्यारी सोचती है – "नटों में मरद पुलिस की बाट जोहते हैं और औरतें भूखे बच्चों के लिए पराए मरदों की।"[83] इस प्रकार विपन्नता इनको ऐसा करने पर मजबूर करती है। इसी स्थिति को बदलने के विचार से ही नट स्त्रियां रखैल बनना स्वीकार करती हैं। प्यारी के रखैल बनने के पीछे मूल मंतव्य यही रहता है।

नटों के आर्थिक स्तर निम्न हैं यहां इसका कारण व परिणाम व्यवसाय की अनिश्चितता है। नटों का कोई स्थायी व्यवसाय नहीं होता। आजीविका के लिए ये लोग कोई भी कार्य कर लेते हैं। भीख मांगने से लेकर चोरी तक। नट कलाबाज भी होते हैं। 'पीपुल ऑफ इंडिया' इनकी आर्थिक स्थिति का व्यवसाय का चित्रण करती है इसके अनुसार "नट भूमिहीन मजदूर हैं। परंपरागत रूप से वे व्यावसायिक कलाबाज, नाचनेवाले व गानेवाले हैं। पहले राजाओं के राज में उन्हें अपनी कला द्वारा प्रसन्न करते थे। शहरी क्षेत्रों में वे श्रम के आधार पर रहते हैं। उनकी स्त्रियां व बच्चे भी दैनिक मजदूरी करते हैं। कुछ अभी भी परंपरागत कलाबाजी का कार्य करते हैं। इनकी महिलाओं के एक भाग ने देह व्यापार का धंधा अपना लिया है।"[84]

इसी प्रकार व्यावसायिक अनिश्चितता और हाथ में आए कार्य को कर लेना फिर चाहे मजदूरी हो, कलाबाजी हो, भीख मांगना हो या अन्य कोई, यही इनकी अर्थव्यवस्था का आधार बन चुका है या कहें आय का साधन है। आय के इन्हीं साधनों का चित्रण लेखक ने 'कब तक पुकारुं' में किया है जहां सुखराम शहद बेचता है, वह और इसीला इलाज भी करते हैं, प्यारी व कजरी सूप बेचती है, सौनो

रूई कातती है, खिलौने बनाकर बेचती है। इसी प्रकार सुखराम व इसीला चोरी करते हैं, सौनो भीख मांगती है आदि।

खेत में मजदूरी करना ये चाहते हैं पर इन पर कोई विश्वास नहीं करता। नटों का राजा कहता है – "हम भी खेतों में मजूरी करके पेट पाल सकते थे पर हम जात के नट हैं। कोई हमारा भरोसा नहीं कर सकता।"[85] शायद इसके पीछे कारण अपराधी जनजाति अधिनियम था। कजरी नटों के अतिरिक्त कार्यों को सूसन को बताती है – "खेल करते हैं इधर–उधर, शिकार कर लेते हैं। शहद बेचते हैं, औरतें खेल करती हैं... रस्सी पर चलना बांस पर लटक जाना।"[86]

इस व्यवसाय की अनिश्चितंता के बावजूद परंपरागत कार्य है जिन्हें नट करते हैं उनमें से एक है जंगली जड़ी बूटियों से इलाज करना। रसेल लिखते हैं – "ये प्रायः सर्जरी करते हैं और छोटे रास्तों में इलाज करते हैं और तंत्र मंत्र से, अंधविश्वास से स्वतंत्र नहीं है।"[87] 'कब तक पुकारुं' इसी स्थिति का चित्रण करता है। आदिवासी समाज की अर्थव्यवस्था ही नहीं उनकी संपूर्ण संस्कृति पर जंगल का प्रभाव परिलक्षित होता है। शिकार, खाद्य संग्रहण, शहद एकत्रण, वनोपज ग्रहण करना व इलाज के लिए जड़ी बूटी जंगल पर ही निर्भर है। इलाज का कार्य सुखराम भी जानता है और उसका पिता भी जानता था, इसीला भी जानता है। सुखराम रूस्तम खां, प्यारी आदि का इलाज इन्हीं जड़ी बूटियों से ही करता है। यह ज्ञान इनकी पुलिस से भी रक्षा करता है। इसीला कहता है – "तुम्हें जंगल की जड़ी बूटी की पहचान करा दूं।... यह एक ऐसी जानकारी है कि पुलिस वाले भी काम पड़ते रहने से, जुल्म नहीं कर पाते।"[88]

इलाज के साथ–साथ ये जनजातियां अपना पारंपरिक व्यवसाय अर्थात् कलाबाजी, खेल तमाशा, जादू आदि भी अपनाए हुए हैं। विद्यार्थी बताते हैं – "यह जनजाति गाकर और नाचकर कलाबाजी, जादू, सर्प नचाकर आजीविका चलाती है। ये लोक कलाकार हैं।"[89] 'कब तक पुकारुं' में नट इस व्यवसाय को भी करते चित्रित हैं। सुखराम कहता है – "मैंने खेल दिखाना शुरु किया। खेल खूब जमा और कजरी के नाच ने समा ही बांध दिया। जब वह कमर हिलाने लगी तो देखने वालों के मुंह से आहें निकलने लगीं।"[90] यह कार्य पूरा परिवार करता है। सुखराम बताता है – "इसीला खेल में आवाजें लगाता। हम लोग गांव–गांव घूमते, तरह–तरह के खेल दिखाते।... दो चार करतब प्यारी भी जानती थी, वह लहंगा फिरा के नाचती थी, दोनों हाथों से घूंघट आगे खींच लेती और मटक मटक कर चलती। लोग उसे देखकर खुश होते।"[91] तमाशे के साथ भीख मांगना भी इनकी जीविका का आधार बनता है। ये ठाकुरों आदि से अनाज–वस्त्र आदि मांग लाते थे। डाकुओं और

जमींदार साहब से अनाज मांगना 'कब तक पुकारुं' में चित्रित है। इसके लिए वे पीछे भी पड़ जाते थे सुखराम बताता है – "सौनो मांग लाया करती थी। वह पीछे पड़ जाया करती थी और आदमी को कुछ न कुछ देना ही पड़ता।"[92]

इस प्रकार नटों की आर्थिक स्थिति निम्न है जिसका कारण किसी निश्चित व्यवसाय का अभाव भी है और आम लोगों का अविश्वास भी। जिसके चलते इनको लोग काम नहीं देना चाहते। फलतः इनको ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जिनको ये नहीं करना चाहते। व्यवसाय की अनिश्चितता के कारण ये जो कार्य मिलता कर लेते हैं, शहद बेचना, जंगल से जड़ी बूटी एकत्र कर इलाज करना, तमाशे दिखाना, कलाबाजी करना, मजदूरी करना और भीख मांगना, चोरी करना। इसी आर्थिक स्थिति के चलते स्त्रियां देह व्यापार करने को विवश होती हैं। इनकी आर्थिक स्थिति ऐसी है कि इनका राजा भी भूखा ही है। यहां इनके पास न जमीन है न जायदाद। सुखराम इसी कारण कहता है कि अहमदाबाद जाकर मजदूरी कर लेंगे। लोग इन पर भरोसा नहीं करते और प्रतिकूल परिस्थितियां इनकी अर्थव्यवस्था को निम्न से निम्नतर करती जाती हैं इसी कारण चोरी भी कर लेते हैं। 'कब तक पुकारुं' इसी अर्थव्यवस्था का चित्रण करता है जहां इनके आर्थिक स्तर अर्थाभाव, गरीबी से अभिशप्त जिंदगी, व्यवसाय की अनिश्चितता और तद्जनित कार्य, चोरी, भीख मांगना, तमाशा दिखाना, औरतों द्वारा देह व्यापार करना सबका यथार्थ चित्रण मिलता है।

आर्थिक व सामाजिक स्थिति परस्पर संबद्ध होती है। निम्न सामाजिक स्थिति के चलते लोग इन्हें मजदूर नहीं रखना चाहते। गरीब किसान भी होता है पर उसकी इज्जत होती है। इनकी सामाजिक स्थिति इतनी इज्जत भी नहीं होने देती सुखराम कहता है – "किसान होता है? गरीब है, भूखा है, पर उसे भी बोहरा उधार देता है। उसकी भी इज्जत है। हम सब से गए बीते, कुत्ते से भी बदतर है।"[93] इसी तरह आर्थिक स्थिति सामाजिक स्थिति को निर्धारित करती है वहीं सुखराम जिसे अछूत समझा जाता है जो जिंदगी से सदैव व्यथित रहता है वह सूसन के यहां काम करके अर्दली की वर्दी में आता है तो सभी उसकी कुशलक्षेम पूछने लगते हैं – "जमींदार साहब चौंके। जिन्होंने उसे एक दिन थाने में बंद करवा दिया था, आज वे कुशलक्षेम पूछने लगे। सुखराम ने फर्क देखा, खुद इंसान की पूछ नहीं ओहदे की कद्र होती है।"[94]

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' नटों के आर्थिक जीवन का यथार्थ चित्रण करता है। यहां उनके आर्थिक स्तर, आय के साधनों की स्थिति आदि का चित्रण मिलता है। इनके आय के साधन अनिश्चित हैं जिसके मूल में है इनकी निम्न आर्थिक स्थिति। ये खाद्य संग्रहण, शिकार, नाच गाकर, तमाशा दिखाकर, इलाज आदि करके

अपनी आजीविका चलाते हैं। इन सभी से भी पेट भरना संभव नहीं होता यही कारण है कि ये चोरी करते हैं, भीख मांगते हैं और इनकी स्त्रियां देह व्यापार करती हैं। इनकी यह आर्थिक स्थिति भी इनके शोषण का कारण बनती है। इनको लूटा जाता है, इनकी स्त्रियों की देह का शोषण किया जाता है। समाज इन पर भरोसा नहीं करता इस प्रकार इनकी आर्थिक स्थिति निम्न है उसका भी प्रभाव है इनकी सामाजिक स्थिति पर। परंतु फिर भी ये शराब पीते हैं, नशा करते हैं क्योंकि ये परिस्थिति से हार मान चुके हैं ये जानते हैं कि व्यवस्था को इतनी आसानी से नहीं बदला जा सकता। इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' नटों के आर्थिक जीवन का यथार्थ चित्रण करता है।

नटों का धार्मिक जीवन और 'कब तक पुकारुं'

जनजातीय समाज की अन्य विशिष्टताओं के समान इनका धार्मिक जीवन भी विशिष्ट होता है। भारत की 90 प्रतिशत जनजातियां हिंदू धर्म से प्रभावित हैं। राजस्थान की अधिकांश जनजातियां हिंदू धर्म से इस तरह प्रभावित हैं कि हिंदू धर्म और इनमें भेद करना कठिन है। इतनी अभिन्नता के बावजूद इनकी अपनी विशिष्टता है जो देवता, धार्मिक पूजा पद्धति, मान्यताएं, शगुन आदि संदर्भ में सामने आती है तथा जो इन्हें आदिवासी सिद्ध करती है। इस प्रकार "हिंदू व ईसाई धर्म व संस्कृति के संदर्भ में आदिवासियों के संक्रमण व संविलयन की इस उलझन के बावजूद आदिवासी समाज अपनी मूलभूत मान्यताओं, आस्थाओं, धारणाओं की परंपरा का निर्वहन करता चला आ रहा है।"[95] इनके धार्मिक जीवन को देवता, पूजा व बलि, मान्यताएं, विशिष्ट पुजारी व पूजा पद्धति के संदर्भ में देखा जा सकता है। 'कब तक पुकारुं' इसी संदर्भ में नटों के धार्मिक जीवन का चित्रण करता है।

नटों पर हिंदू धर्म का प्रभाव इस रूप में माना जा सकता है कि "नट हिंदू धर्म मानते हैं। कुछ के लिए शिव और कुछ के लिए राम बड़े देवता हैं। ये लक्ष्मी, गणेश आदि को पूजते हैं। जादूलामुखी इनकी प्रमुख देवी है। होली, रक्षा बंधन, दीवाली व नवरात्रि इनके प्रमुख त्यौंहार हैं। ये गोगा (स्थानीय देवता) की पूजा करते हैं जन्माष्टमी के दिन व्रत रखते हैं।"[96] इसके बावजूद इनके अपने विशेष देवी–देवता भी होते हैं जो इनकी भिन्नता दर्शाते हैं। "ये दो वीर या आत्माओं की पूजा करते हैं। हलैला पीर व शेख सद्धू। जिनको वे भादों व वैशाख के महीने में बलि देते हैं।"[97]

'कब तक पुकारुं' में नटों द्वारा हनुमान, शिव, ठाकुर जी आदि की मान्यता का जिक्र मिलता है। नट इनको संकट का निवारक मानकर मनौती करते हैं। नट न

केवल देवताओं वरन् आत्माओं को भी रक्षक के रूप में स्वीकार करते हैं। सुखराम कहता है – "पुरखों! मैं पापी हूं, अभागा हूं मैं तुम्हारी जोग नहीं हूं... पर तुमने मेरी रक्षा की है, तुमने मुझे बचाया है।"[98] सुखराम के इस कथन के पीछे यह मान्यता कार्य करती है कि आत्मा रक्षा करती है और व्यक्ति को बुरे कार्यों से बचाती है। यह कार्य देवता भी करते हैं। सुखराम कहता है – "मैया! तूने पाप से बचा लिया।"[99]

इनकी धार्मिक मान्यता के अनुसार अगर आत्मा अप्रसन्न हो जाए तो संरक्षक से कष्टकारी भी हो सकती है। इसी संकट या कष्ट की सूचना स्वप्न आदि से भी मिलती है। ये मानते हैं कि – "सुपना कोई वैसे ही नहीं देखता जब देवता नाराज होते हैं तभी ऐसे सुपने दीख पड़ते हैं।"[100]

देवताओं की अप्रसन्नता को प्रसन्नता में बदलने के लिए 'बलि' का भी प्रावधान होता है। इस हेतु 'बोल' बोली जाती है, मनौतियां की जाती हैं। प्यारी द्वारा बुरा स्वप्न देखने पर अनिष्ट से भयाक्रांत होकर सुखराम 'बोल' या 'मनावनी' मानता है। – "मैं हनुमान जी पर दीपक चढ़ाऊंगा, महादेव जी पर बेलपत्तर चढ़ाऊंगा। पीर के मजार पर दीप चढ़ाऊंगा। ईदगाह की चींटियों को बूरा डालूंगा। तू कहेगी तो पंडित को सीधा भी दे आऊंगा। भगवान कसम! ठाकुर जी के मंदिर में जाकर परार्थना करूंगा।"[101] प्रार्थना या मनौती कष्टों से उबारने के लिए भी की जाती है। प्यारी के बीमार होने पर सुखराम प्रार्थना करता है – "हे महादेव! प्यारी को अच्छा कर दे! उसे बचा ले।"[102] मनौती कष्ट से बचाने या अनिष्ट से रक्षा हेतु ही नहीं की जाती इसका प्रयोग मनोकामना सिद्धि के लिए भी किया जाता है। कजरी जब खजाने का नाम लेती है तो सुखराम सोचता है कि क्या पता ईश्वर ने ही उसे ऐसा सोचाया हो। फिर वह खजाना प्राप्ति के लिए मनौती करता है – "मैंने हनुमान जी के सौनो का हार बोल दिया। कैलाबारी मैया के लिए नगों की छतरी बोल दी। घाटे वाले भैंरो को सवा मनचून की मनौती की।"[103] मनोकामना पूर्ण होना भी ईश्वर का कृत्य मानते हैं।

आत्मा को या देवता को अपने पक्ष में कर मनचाहा कार्य करवाने के लिए विशिष्ट पूजा की जाती है और उसे करने वाला व्यक्ति भी विशिष्ट होता है। चंदन मेहतर उसी तरह का व्यक्ति है। यद्यपि वह नट नहीं है पर नटों की मान्यता तो है इस पद्धति व व्यक्ति में जो उनकी धार्मिक मान्यता का ही एक रूप है। इस विशिष्ट कार्य को जादू भी कहते हैं। इसीला भी जादू जानता था, पर वह सिद्धि प्राप्त नहीं था, प्यारी कहती है – "अरे उसे पूरी सिद्धि मिली ही कहां थी? वह तो थोड़ा बहुत जानता था। सिद्धि मिलना क्या कोई खेल होता है? गांव में इस वक्त एक सयाना

है।"[104] यह सयाना सिद्धि प्राप्त व्यक्ति चंदन मेहतर है। यह चंदन नटों की मनोकामना पूर्ण करने के लिए आत्माओं को प्रसन्न करता है।

इसके कार्यकलाप भी विशिष्ट होते हैं। सुखराम दरोगा पर शक्ति चलवाने, उसको जादू से मरवाने के लिए चंदन के पास जाता है जो मद्यपान करके मरघट जगाता है, चामड़ पर दीपक जलाकर मुर्गा बांधता है देवी की मूर्ति के समक्ष उस मुर्गे की बलि देता है। वह मरघट पर औरतें ले जाता है उन्हें नग्न कर, शराब पिलाकर [illegible] नचाता है, फंसाता है और सिद्धि हेतु उनका प्रयोग करता है।"[105]

इनकी पूजा पद्धति के आधारक मंत्र भी विशिष्ट होते हैं – "जै भवानी की। टं टं टं टं टं कबीर, हत, ज्ञान बुद्धि जै, टं टं टं टं टं...।"[106]

इसी प्रकार नटों की धार्मिक जीवन संबंधी मान्यताओं में ही भूत प्रेत, चुड़ैल आदि बुरी आत्माएं आती हैं। नट भूत, प्रेत, जिन्नों आदि पर विश्वास करते हैं। कजरी कहती है – "मेरा बाप कहता था यहां जिन्न आते हैं, पून्यो के पून्यो।... कहते हैं इस बावड़ी में एक गुजरी सास से तंग आकर डूब मरी थी। वह यहीं रहती थी।"[107] इस प्रकार मृत्यु के बाद के जीवन संबंधी विश्वास को भी लेखक चित्रित करता है। ये आत्माएं कोई भी रूप ले सकती हैं। वह बावड़ी में मरने वाली औरत बिल्ली बनकर आती है इसी प्रकार राजा रात को हुक्का पीने किले में आता है आदि मान्यताएं भी इसी का अंश है।

इनके साथ ही पाप–पुण्य, जन्म–मरण, भाग्य, पुनर्जन्म संबंधी मान्यताओं का भी जिक्र मिलता है। ये ऊंची जात में जन्म लेना भाग्य की बात मानते हैं। इनके अनुसार "व्यक्ति को पाप पुण्य का फल मिलता है। एक जनम में जो इच्छा अधूरी रह जाती है वह दूसरे जनम में पूरी करने को आता है।"[108] इसी प्रकार सूसन, चंदा आदि को ठुकरानी का पुनर्जन्म मानना और ठुकरानी की अतृप्त आँत्मा आदि भी उनकी आदिम धार्मिक मान्यताओं का ही रूप है जिसका लेखक ने यथावत चित्रण किया है।

भभूत की राख और मंत्रों द्वारा इलाज भी इसी मान्यता में से एक है। रामा का नाती बीमार होता है तो एक स्त्री सयाने के झाड़े द्वारा, ताबीज द्वारा इलाज करवाने तथा खिरनी वाले बाबा की धूनी की राख मलने की सलाह देती है। सांप के काटे का इलाज भी मंत्रों द्वारा संभव होते दिखाकर लेखक इनके धार्मिक विश्वासों का चित्रण करता है।

इस प्रकार नटों के धार्मिक जीवन का चित्रण लेखक यथार्थ रूप में करता है। नटों के धार्मिक जीवन पर हिंदुओं का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है और इसी का कारण है कि लोग इन्हें हिंदू मान लेते हैं या हिंदू धर्म और जनजातीय धर्म को एक मान लेते हैं। यह समानता या प्रभाव देवताओं – राम, लक्ष्मण, कृष्ण, ठाकुर जी, हनुमान जी, महादेव आदि के साथ बहुदेववादी मान्यता के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार कर्मफल, नियतिवाद, पुनर्जन्म, आत्मा–परमात्मा संबंधी मान्यता पर भी हिंदू प्रभाव है। इसके साथ ही मरकर बैकुण्ठ जाना, रावण, हिरनाकुस, व्याध–अजामिल आदि संबंधी लोककथाओं और मान्यताओं का जिक्र भी लेखक ने इनकी धार्मिक मान्यताओं को चित्रित करने हेतु किया । शायद इसी समानता का प्रभाव था कि धूर्ये ने जनजातीय धर्म को हिंदू धर्म का अविकसित रूप माना, लेकिन वास्तविक स्थिति भिन्न है। यद्यपि हिंदू धर्म का प्रभाव है और उससे समानता भी है परंतु फिर भी इनकी मान्यताएं, इनकी आस्थाएं, इनके देवता भिन्न हैं। इन्हीं के रूप में इनकी आदिम संस्कृति जीवित है आदिम धर्म जीवित है। कैलादेवी, जाइलामुखी, शेख सद्धू, हलैला पीर आदि इसी आदिम धर्म का अंश है जो हिंदू धर्म में नहीं है।

लाल साहब सिंह नटों के धार्मिक जीवन व मान्यता संबंधी चित्रण के बारे में लिखते हैं – "लेखक का उद्देश्य कभी भी यह दिखाना नहीं रहा कि ये रीतिरिवाज सही है या गलत। उसका ध्येय तो आंचलिक उपन्यास लिखना था अंचल विशेष में प्रचलित रीतिरिवाजों का दिग्दर्शन और उस परिवेश में जीने वाले नटों का चित्रण ही अभीष्ट है।"[109]

इस प्रकार लेखक अपने अभीष्ट में सफल रहा है। उसने यथार्थवादी दृष्टिकोण से नटों के धार्मिक जीवन का चित्रण किया है।

नटों का राजनीतिक जीवन और कब तक पुकारुं

'कब तक पुकारुं' नटों के जीवन की राजनीतिक व्यवस्था का भी चित्रण करता है। नटों में जाति पंचायत होती है और उसका मुखिया भी होता है। इस पंचायत का कार्य परंपरा का निर्वहन करवाना और संस्कृति को बनाए रखना होता है। "स्थानीय स्तर पर नटों की अपनी जाति परिषद होती है जिसे समाज कहते हैं। जाति परिषद का प्रमुख पटेल या मुखिया होता है। इसका कार्य समाज के लोगों को नियंत्रित करना, सामाजिक नियमानुसार तलाक के मामले सुलझाना होता है। सामाजिक नियमों का उल्लंघन और समाज के निर्णयों को सम्मान न देना दण्ड योग्य है। यहां विधिक पंचायक भी है पर नट वहां नहीं जाते।"[110] वैसे तो जनजातियों में ग्राम स्तर, क्षेत्रीय स्तर, और जनजातीय स्तर पर राजनीतिक संगठन

पाया जाता है। परंतु नटों में ग्राम की कोई व्यवस्था नहीं होती कबीला ही सब कुछ होता है जिसमें कुछ परिवार होते हैं। यह गोत्र आधारित संगठन होता है। जिसका मुखिया भी होता है। इसी प्रकार नटों में जनजातीय स्तर पर भी एक प्रमुख होता है। 'कब तक पुकारुं' में राजा कहा गया है। राजा जिसकी आज्ञा का पालन सभी करते हैं। वह सुखराम को वजीर बनाता है। राजा समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है। समाज उसका आदर करता है। कजरी कहती है – "हमारे गांव में एक वेर राजा आया था। इस करनट राजा की अमलदारी वहां तक है जहां तक करनट हैं चाहे कहीं हो।"[111]

यह सम्मानित व्यक्ति होता है इसी कारण पहली मुलाकात में ही सुखराम उसके चरण छूता है। राजा के जेल से मुक्त होने पर नट समाज जश्न मनाता है। उसके द्वारा सुखराम को वजीर बनाना सभी लोग स्वीकारते हैं।

विमलशंकर नागर सरकार को भी जनजातीय राजनीतिक जीवन का अंग मानते हैं उनके अनुसार – "हिंदी के जनजातिमूलक उपन्यासों में भारतीय जनजातीय समाज की स्वतंत्रता पूर्व की और स्वातंत्र्योत्तर समाज की राजनीति व्यवस्था का निर्माण करने वाली प्रमुखतः दो संस्थाएं थीं 1. जाति पंचायत और 2. सरकार। जाति पंचायत जाति संबंधी पारस्परिक झगड़े आदि तय करती थी और सरकार के नाम पर सरकारी व्यवस्था को सुरक्षा प्रदान करने वाली पुलिस जनजातीय समाज का शोषण करती थी।"[112] इस प्रकार नटों का राजनीतिक जीवन सरकार और जाति पंचायत द्वारा निर्धारित होता है।

जाति पंचायत की भूमिका नट समाज में महत्वपूर्ण होती है। नियम बनाना, सदस्यों में सामंजस्य और सामूहिकता की भावना बनाए रखना, सदस्यों पर नियंत्रण रखना, पारस्परिक झगड़े निपटाना इसी का कार्य होता है। पंचायत के निर्णय का उल्लंघन दण्ड का कारण बनता है। कन्या मूल्य निर्धारित करना, तलाक संबंधी मामले सुलझाना, झगड़ा रूपया वापस दिलाना, धन और पत्नी के स्वामित्व संबंधी झगड़े सुलझाना भी इसी का कार्य है। 'कब तक पुकारुं' में भी इसका जिक्र मिलता है इसीला से सौनो कहती है "जब मैंने बीच में चिढ़कर दूसरा कर लिया था और आन गांव जा बसी थी तब क्यों मुकद्दमा करके मुझे ले आए थे।"[113] यह मुकद्दमा जाति पंचायत में ही किया जा सकता है और वही निर्णय देती है। तलाक की व्यवस्था कजरी व कुर्री प्रसंग में सामने आती है। इस तरह दण्ड की व्यवस्था करना, वधू मूल्य वापस दिलाना और दण्ड के रूपयों का भोज में प्रयोग करना भी इस राजनीतिक व्यवस्था का ही अंग है जो जाति पंचायत द्वारा किया जाता है और 'कब तक पुकारुं' में चित्रित किया गया है।

नटों के राजनीतिक जीवन और 'कब तक पुकारुं' में उसके चित्रण के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक जीवन के समान लेखक ने राजनीतिक जीवन का चित्रण नहीं किया। लेखक ने राजनीतिक व्यवस्था का आंशिक चित्रण किया है इससे नटों के राजनीतिक जीवन के बारे में जानकारी नहीं मिलती। इस प्रकार लेखक जिस मनोयोग से नटों के जीवन के अन्य पक्षों का चित्रण करता है वैसा राजनीतिक जीवन का चित्रण नहीं कर पाता।

नटों का लोक जीवन और 'कब तक पुकारुं'

नट जनजाति के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन की तरह और भी अनेक तत्व हैं जो इनकी भिन्न संस्कृति को प्रदर्शित करते हैं। नटों की इस भिन्न संस्कृति के अन्य परिचायक तत्व उनकी वेशभूषा, उनकी बोली–बानी, उनके लोकगीत, नृत्य, वाद्य, उनका आहार (खाद्य), कहावतें आदि हैं। ये सारे तत्व लोक जीवन के अंतर्गत समाहित किए जा सकते हैं क्योंकि इन सबका संबंध लोक से होता है और ये उनकी लोक संस्कृति को उजागर करने वाले तत्व हैं।

'कब तक पुकारुं' नटों के रहन–सहन, बस्ती, वेशभूषा, कहावतों, आहार, लोकगीत, नृत्य, बोली–बानी सभी का चित्रण करता है। नटों की औरतें घाघरा व फारिया पहनती हैं जिसकी चर्चा लेखक ने भिन्न–भिन्न स्थानों पर की है। "चंदा एक ऊंचा घाघरा व फारिया पहने थी। फारिया उसके कंधों के नीचे पड़ी थी।"[114]

वेशभूषा किसी समाज की स्थिति की भी परिचायक होती है। वेशभूषा व भोजन से आर्थिक स्थिति का भी ज्ञान होता है। 'कब तक पुकारुं' में सौनो ठाकुरों से घाघरा मांग लाती है। दूसरी तरफ कजरी व प्यारी के बीच घाघरा ईर्ष्या का कारण भी बनता है कजरी कमाकर कुछ वस्त्र खरीद लेती है और सोचती है कि प्यारी को चिढ़ाऊंगी और इसी प्रकार प्यारी के वस्त्रों को देखकर वह हतप्रभ रह जाती है। इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है इनको ये सहज उपलब्ध नहीं है इसी कारण इनके यहां अच्छे वस्त्र को देखकर स्त्रियां हतप्रभ होती हैं और वह ईर्ष्या का कारण भी बनता है।

पुरुषों की वेशभूषा भी विशिष्ट होती है। लेखक सुखराम का चित्रण करते हुए बताता है "सुखराम गले में माला पहनता, सिर पर साफा बांधे रहता और हाथों में कांच के कड़े पहनता।"[115] इसी प्रकार सुखराम स्वयं बताता है – "मेरे बालों में तेल पड़ा रहता, मेरा कुर्ता महीन काले रंग का होता मूछों पर ताव देता और धोती बांधता।.. मेरे हाथ में कड़ा पड़ा था, पतला लोहे का। गले में दो–तीन ताबीज पहनता।"[116] इस प्रकार इनकी वेशभूषा इनकी भिन्न स्थिति का चित्रण करती है।

लोक संस्कृति को उजागर करने वाले अन्य तत्व लोकगीत, नृत्य, वाद्य, कथा आदि होते हैं। "जनजातीय समाज की लोक संस्कृति जिसके अंतर्गत प्रमुखतः लोकगीत, लोकनृत्य, लोकवाद्य, लोककथा आदि आते हैं। इनमें ही उनकी संस्कृति का प्रतिफलन हुआ है।... हिंदी के जनजाति मूलक उपन्यास साहित्य में भारतीय जनजाति समाज की लोकसंस्कृति के विविध अवयव जड़े हैं।"[117] लेखक ने लोकसंस्कृति के इन तत्वों को भी चित्रित किया गया है।

लोकगीत व नृत्य ही वह आधार है जिसको पाकर ये नट अपने समस्त शोषण को भूलकर आनंद मग्न हो जाते हैं। नट समाज शोषित समाज है इनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं होती। दिन–रात इनका कार्य पेट के लिए जुगाड़ करना ही होता है ये अपनी आर्थिक स्थिति चाहते हुए भी सुधार नहीं पाते। इसी कारण ये अपने जीवन में आने वाले आनंद के मौकों को खोना नहीं चाहते उनका पूर्ण उपयोग करते हैं। इसके साथ ही जनजातीय समाज में लोकनृत्य व गीतों की परंपरा पाई जाती है जिसका चलन उत्सवों, त्यौहारों आदि अवसरों पर होता है। 'कब तक पुकारुं' इसी लोकजीवन का चित्रण करता है। पुलिस शोषण से व्यथित होने के बावजूद नट समाज अपनी हीन सामाजिक स्थिति व शोषण को जश्न के मौकों पर भूल जाता है और शायद इसी लिए वह शराब पीता है। जन्म हो, विवाह हो या मृत्यु के 12वें का भोज हो यह समाज शराब व मांस को जश्न का आधार बनाता है।

सुखराम का कजरी से नाता जोड़ना भी इसी प्रकार का एक अवसर होता है। सुखराम बताता है – "सर्वत्र गोश्त की गंध व्याप गई। नाच चलते रहे। शराब कुल्हड़ों में उड़ेली जाने लगी, चुहल हुई।"[118] इसी प्रकार नटों के राजा के छूटने पर भी जश्न मनाया जाता है – "गीत उठने लगे, राजा और रानी तथा वजीर के चारों ओर खास–खास आदमी थे, औरतें थीं और गोल बनाकर चारों ओर नट–नटनियां नाच रहे थे। गोश्त पकने लगा था। गंध आने लगी थी। वे लोग खूब शराब पीते रहे।"[119] इस प्रकार शराब व मांस इनके जश्न का हिस्सा होता है और नृत्य व गान भी। जिसके कारण ये मदहोश हो जाते हैं और अपनी स्थिति को, अपने दुःखों को कुछ क्षण के लिए भुला देते हैं। वैसे भी कोई भी व्यक्ति अगर सदैव दुखी रहेगा या शोषण का शिकार रहेगा तो वह जिंदा नहीं रह सकता, जीवन में आने वाले खुशी के मौके ही उसे जीवित रहने की प्रेरणा देते हैं उन्हीं की आशा में वह जीता है। इसी प्रकार नट समाज है जो खुशी के मौकों में जश्न मनाकर अपनी व्यथा को भुलाता है।

इन अवसरों पर गीतों का भी चलन होता है। गीत किसी भी संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। गीतों से न केवल गानेवाले की मनःस्थिति का ज्ञान होता

है वरन् समाज की संस्कृति का भी ज्ञान होता है। 'कब तक पुकारुं' में नटों में चलने वाले गीतों का भी चित्रण किया है लेखक ने। व्यक्ति भावावेग में होता है तो गीत गाता है चाहे आवेग सुख का हो या दुख का। नट समाज में अन्य जनजातीय समाजों की तरह ही होली, दीवाली आदि त्यौंहारों, विवाह आदि संस्कारों के अवसर पर गीत गाए जाते हैं।

'कब तक पुकारुं' में जहां एक तरफ पृष्ठभूमि में गीत सुनाई देता है। "ओ साजन मुझे हंसुली बनवा दो/ इस चंदा में इतना सोना चांदी है/ इन्हें जाकर कटवा दो न? दरोगा क्या इसके गहने बनवाने पर पकड़ लेगा?..प्यारी वह निरदयी होता है/ वह मेरा दुश्मन नहीं है वह चंदा का रखवाला भी नहीं है असल में उसकी आंख तेरे जोबन पर लगी है।"[120] नटों की स्थिति और पुलिस का प्रभाव उनकी मनःस्थिति पर पड़ता है और मनःस्थिति से उत्पन्न गीतों पर भी लेखक यही चित्रित करना चाहता है। गीत व्यक्ति की मनोभावना के उद्‌गार बनकर भी प्रकट होते हैं। प्यारी सुखराम से बिछुड़ती है तो अंतिम रात को वे गाते हैं। – "ऐ रे मैं आग में जली जा रही हूं/ हाय मेरे बालम/ तू कहां चला गया/... सुखराम गाता है – तेरी धूनी मुझे जलाती है तो तन जलाता है यह धूनी जलती है तो तन गलता है/ प्यारी तेरे बिन मुझे जोग भी नहीं सुहाता/....आज प्रीत की रीत का निबाह हो गया/ वह गौरी कैसी जिसका बलमा साथ न हो।"[121] कजरी भी गाती है – "मेरी सोत के बिछिया बसे आधी रात/ ऐ री आग लगिय मेरे जोबन गात.. मैं तो चढ़ी हूं पहार/ बलम मोहे हरौ हरौ दीसे सकल संसार।"[122] सुखराम राजा के जश्न के समय गाता है – "पनघट आम छिप्यो री संवरिया/ हाय गही मेरी गोरी ये बैंया/ हौ नहीं जाऊंगी ऐ मेरी दैया/ हाय गही मोरी गौरी ये बैंया।"[123]

गीतों के संदर्भ में विचारणीय है कि प्रथमतः तो लेखक ने गीतों का अनुवाद करके इनके मूल रस को भुला दिया है। जो गीत उन्होंने अनुदित नहीं किए हैं वे ज्यादा रसप्रवण प्रतीत होते हैं दूसरी बात यह है कि ये गीत भावप्रवण अवस्था के हैं नटों के संस्कारों, त्यौहारों आदि में गाए जाने वाले गीत नहीं हैं। फिर भी उनकी सामाजिक स्थिति का चित्र समेटे हुए हैं।

जनजातीय समाज की भिन्न संस्कृति का एक परिचायक तत्व उनकी भाषा भी है। घुमक्कड़ जनजातियों की मूल भाषा सांस्कृतिक संपर्क के कारण जीवित नहीं रह सकी। इसका कारण सामाजिक भी था और धार्मिक भी। इसके बावजूद भी इन जनजातियों की भाषा तथाकथित सभ्य समाज से भिन्न हैं। यह भिन्नता गाली प्रधानता के संदर्भ में है। अन्य समाजों में जो गालियां पुरुष निकालते हैं यहां स्त्रियां भी निकालती हैं और इनके लिए गालियां गालियां न होकर भाषा का एक अंग मात्र

है इसी कारण कजरी व प्यारी अपने पति सुखराम को दईमारा, निपूता, हरामी आदि कहती है जो भाषा का अंग मात्र सिद्ध होता है। "ये गालियां शाब्दिक अर्थ में साभिप्राय नहीं होती, पर वे संवाद संस्कृति का अंग तो होती हैं।"[124] यहां यह भी महत्वपूर्ण है कि ये गालियां इनके लिए अश्लील नहीं हैं। श्यामाचरण जी का मत उचित प्रतीत होता है – "एक संस्कृति को जो स्वीकार है वह दूसरी को अमान्य है। अंतरसांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में श्लील और अश्लील की विभाजन रेखा अलग अलग विचारों पर आश्रित होगी।"[125]

नटों की संस्कृति में लोककथा का भी महत्व होता है। रसेल बताते हैं – "माना जाता है कि पूर्व समय में एक नटनी थी. जो रस्सी पर चलने में सक्षम थी। जिसने राजा के सामने प्रदर्शन किया। राजा ने वादा किया कि पहाड़ की एक चोटी से दूसरी चोटी तक जाएगी तो वह उससे शादी करेगा व संपत्ति देगा, पर किसी ने रस्सी काट दी थी।"[126] इसी लोककथा का वर्णन बजरंगलाल लोहिया भी करते हैं – "किसी समय सहचरी नाम की नट स्त्री रस्सी के नाच में इतनी चतुर व अभ्यस्त थी कि उस समय जालौर के सोनिग्रा वंशीय राजा से उसने आधा राज्य ले लिया होता कदाचित राज्य के अधिकारियों ने कपट से रस्सियां न काट दी होती जिसके कारण वह सर के बल गिरी और उसी स्थान पर उसकी मृत्यु हो गई। जालौर की एक पहाड़ी पर उस स्त्री का स्मृतिचिह्न स्थापित है।"[127] थोड़े बहुत हेरफेर के साथ यह कथा अनेक स्थानों पर मिलती है। 'कब तक पुकारुं' में भी लेखक ने नटों में प्रचलित इस कथा का जिक्र किया है। कजरी सुखराम को नटनी की छतरी दिखाकर बताती है – "एक नटनी ने इस पहाड़ से उस पहाड़ तक रस्सी बांधी थी। राजा ने कहा कि तू इस पर चले तो आधा राज तुझे दे दूं। नटनी सरत बांध चली। आधे पहुंची सो राजा डर गया। झट इसारा किया। राजा के आदमियों ने रस्सी काट दी। नीचे गिरी तो नटनी फट्ट मर गई। उसी की याद में छतरी बना दी।"[128] [illegible] समाज में पाए जाने वाले विभिन्न लोक संस्कृति के उपादानों को लेखक ने चित्रित किया है। 'कब तक पुकारुं' में विविध कलाएं, भाषा, वेशभूषा, लोकोक्तियां, मुहावरे, लोककथा आदि का चित्रण किया है, जो नटों के सांस्कृतिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग है और नटों के जीवन का 'कब तक पुकारुं' में यथार्थ चित्रण का प्रमाण भी।

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' में नटों का जीवन यथार्थ रूप से चित्रित है लेखक ने किसी प्रकार का नैतिकतावादी दृष्टिकोण रखकर इस जनजाति के मूल जीवन और विशिष्टताओं को छिपाने की चेष्टा नहीं की। उसने इनके द्वारा देह व्यापार और गाली प्रधान भाषा का यथार्थ चित्रण किया है उसने तथाकथित सभ्य समाज की नैतिकता का आवरण नहीं ओढ़ा। इसके दो प्रधान कारण थे पहला तो

यह कि लेखक का मानना है कि प्रत्येक संस्कृति का भिन्न अस्तित्व है और हर संस्कृति को अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखने की छूट है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर संस्कृतियों को मिटाया नहीं जा सकता। भारत बहुसंस्कृतियों वाला देश है ये भिन्न संस्कृतियां ही भारत की पहचान है। इसी विचार के कारण वे नटों की भिन्न संस्कृति को चित्रित करते हैं वे उसे तथाकथित सभ्य समाज की तुलना में 'असंस्कृत' नहीं दिखाते वे उसका यथार्थ वर्णन करते हैं। दूसरा कारण इसी से संबद्ध ही है लेखक का मानना है कि प्रत्येक संस्कृति के नियम भी भिन्न–भिन्न होते हैं और इस भिन्न नियमों को किसी एक प्रतिमान के आधार पर नहीं आंका जा सकता। अश्लील–श्लील संबंधी मान्यता प्रत्येक समाज की अपनी–अपनी है। इस प्रकार लेखक नटों की भिन्न संस्कृति को उसके पृथक अस्तित्व को, उनकी विशिष्ट पहचान को किन्हीं तथाकथित सभ्य समाज के नियमों के आधार पर न आंककर यथार्थ रूप में चित्रित करता है।

यथार्थ के साथ ही लेखक नटों के जीवन का चित्रण समग्रता में करता है। वह इनके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक जीवन का चित्रण करता है। इसके साथ समग्रता इस अर्थ में भी है कि लेखक दुख व सुख दोनों अवस्थाओं का चित्रण करता है अर्थात् जीवन के प्रत्येक पक्ष का चित्रण करता है।

अपने समय व समाज से संबद्ध रचना कालजीवी भी होती है और कालजयी भी इसी विचार से उन्होंने नटों के जीवन की स्वतंत्रता पूर्व की स्थिति का चित्रण किया है। अप्रत्यक्ष रूप से अपराधी जनजाति अधिनियम व उसके प्रभावों का चित्रण कर लेखक उपन्यास को काल से भी संबद्ध करता है।

इसके साथ नट समाज के सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन का चित्रण करते समय लेखक ने इनकी विशिष्टताओं व भिन्नता को प्रदर्शित किया है।

सामाजिक जीवन के अंतर्गत वर्णव्यवस्था में इनकी स्थिति और इनके द्वारा उसे स्वीकार करना चित्रित है तो इनकी हीन सामाजिक स्थिति के परिणामों व प्रभावों का शोषण के रूप में भी लेखक चित्रण करता है। नट नारी की भिन्न स्थिति का भी चित्रण किया है। तथाकथित सभ्य समाज में इनकी स्थिति और अपने समाज में इनकी स्थिति पर लेखक ने कलम चलाई है। जहां तथाकथित सभ्य समाज से अपने समाज में ये ज्यादा स्वतंत्र प्रतीत होती हैं और तथाकथित सभ्य समाज द्वारा इनका शोषण भी चित्रित किया है लेखक ने। साथ ही नटों के सामाजिक संस्कार, उनकी सामाजिक रीतियां, सामाजिक संरचना आदि का भी चित्रण किया है।

धार्मिक जीवन के अंतर्गत इनकी धार्मिक मान्यताओं, आस्थाओं, विश्वासों, पूजापद्धतियों, भूत-प्रेत, चूड़ैल आदि में विश्वास को भी चित्रित किया है। पुनर्जन्म, बैकुण्ठ, मृत्यु के बाद के जीवन और कर्मफल की मान्यताएं भी लेखक ने चित्रित की हैं।

अर्थव्यवस्था की भिन्न स्थिति और व्यवसाय की अनिश्चितता और तद्जनित चोरी, देहव्यापार, भीख मांगना, शहद एकत्रण, इलाज, तमाशा दिखाना आदि का चित्रण किया है।

इसी प्रकार लोकगीत, लोककथा, लोकनृत्य, वेशभूषा, बोली–बानी का भी लेखक ने यथार्थपरक चित्रण किया है।

इस प्रकार लेखक ने नटों के जीवन को व्यापक रूप में चित्रित किया है जिसमें उनके जीवन के विविध सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक पक्ष की अभिव्यक्ति है।

संदर्भ

1 हिंदी उपन्यास के सौ वर्ष : सं. रामदरश मिश्र (हेमेंद्र पानेरी का लेख), पृ0279

2 रांगेय राघव का रचना संसार सं. गोविंद रजनीश (सुलोचना रांगेय राघव का लेख), पृ.3

3 'कब तक पुकारुं', रांगेय राघव, संस्करण, 1999, पृ.28

4 धरती मेरा घर, रांगेय राघव, पृ.84

5 रांगेय राघव का रचना संसार : सं. गोविंद रजनीश (राजेंद्र यादव का लेख), पृ.47

6 वही

7 वही

8 गोरखनाथ व उनका युग, रांगेय राघव, पृ. ख, 'भूमिका'

9 धरती मेरा घर, रांगेय राघव, पृ.18

10 धरती मेरा घर, रांगेय राघव, पृ.17

11 धरती मेरा घर, रांगेय राघव, पृ.17

12 धरती मेरा घर, रांगेय राघव, पृ.24

13 धरती मेरा घर, रांगेय राघव, पृ.17

14 वही, पृ.17

15 रांगेय राघव का रचना संसार : सं. गोविंद रजनीश (स्वयं का ही लेख), पृ.30

16 धरती मेरा घर, रांगेय राघव, पृ.172

[17] हिंदी के महाकाव्यात्मक उपन्यास : शंकर वसंत मुद्‌गल, पृ.400 से उद्धृत (सारिका मासिक, जुलाई, 1967, पृ.36)

[18] रांगेय राघव और आंचलिक उपन्यास शम्भू सिंह पृ.64

[19] वही, पृ.64

[20] ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया – आर वी रसेल, पृ.287

[21] परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति, श्यामाचरण दूबे, पृ.62

[22] रांगेय राघव व आंचलिक उपन्यास, शंभू सिंह, पृ.75

[23] रांगेय राघव का रचना संसार : सं. गोविंद रजनीश (गोविंद रजनीश का लेख), पृ.32

[24] हिंदी के महाकाव्यात्मक उपन्यास : शंकर वसंत मुद्‌गल, पृ.165

[25] हिंदी के आंचलिक उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा, डा. बंषीधर, पृ.132

[26] पीपुल ऑफ इंडिया, पृ.692

[27] 'कब तक पुकारुं', पृ.95, संस्करण 1999

[28] कब तक पुकारु, रांगेय राघव, पृ.120, सस्करण 1999

[29] वही

[30] वही, पृ.168

[31] वही, पृ.148

[32] वही

[33] वही, पृ.97

[34] कब तक पुकारुं, पृ.22

[35] कब तक पुकारुं, पृ.48, संस्करण, 1999

[36] 'कब तक पुकारुं', पृ.36, संस्करण 1999

[37] वही, पृ.268

[38] वही, पृ.117

[39] वही, पृ.147

[40] 'कब तक पुकारुं', पृ.116

[41] 'कब तक पुकारुं', पृ.252

[42] 'कब तक पुकारुं', पृ.370, संस्करण 1999

[43] वही, पृ.375

[44] वही, पृ.39

[45] 'कब तक पुकारुं', पृ.35

[46] वही, पृ.36

[47] वही, पृ.35

[48] वही, पृ.36

[49] 'कब तक पुकारुं', पृ.20

[50] वही, पृ.41

[51] वही, पृ.42

[52] हिंदी के आंचलिक उपन्यास – सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भ – विमल शंकर नागर, पृ.203 (कब तक पुकारुं, पृ.2–4)

[53] रांगेय राघव व आंचलिक उपन्यास, शंभू सिंह, पृ.80

[54] हिंदी के आंचलिक उपन्यास – सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भ – विमल शंकर नागर, पृ.203 से (हिंदी उपन्यास की प्रवृतियां, पृ.20)

[55] उपन्यास : स्थिति और गति, चंद्रकांत वांदिवडेकर, पृ.127
[56] 'कब तक पुकारुं', पृ.20
[57] वही, पृ.41
[58] वही, पृ.47
[59] 'कब तक पुकारुं', पृ.64
[60] वही, पृ.44
[61] आधुनिक हिंदी उपन्यास : सं. नरेंद्र मोहन : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का लेख, पृ.175
[62] आधुनिक हिंदी उपन्यास : सं. नरेंद्र मोहन : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का लेख, पृ.176
[63] परंपरा इतिहासबोध और संस्कृति : श्यामाचरण दूबे, पृ.63
[64] पीपुल ऑफ इंडिया, पृ.691
[65] वही
[66] 'कब तक पुकारुं', पृ.34
[67] पीपुल ऑफ इंडिया, के. एस. सिंह, पृ.690
[68] राजस्थान की जातियां – बजरंगलाल लोहिया, पृ.251
[69] कब तक पुकारुं, पृ.249
[70] राजस्थान की जनजातियां – बजरंग लाल लोहिया, पृ.251
[71] कब तक पुकारुं, पृ.26
[72] उत्तर पष्चिम भारत की जातियां और जनजातियां, क्रूक, खंड 4, पृ.62
[73] पीपुल ऑफ इंडिया, पृ.692
[74] कब तक पुकारुं, पृ.293
[75] वही, पृ.296
[76] हिंदी के आंचलिक उपन्यास सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भ, विमल शंकर नागर, पृ.217
[77] कब तक पुकारुं, पृ.77
[78] कब तक पुकारुं, पृ.117
[79] कब तक पुकारुं, पृ.28
[80] वही, पृ.304
[81] वही, पृ.75
[82] वही, पृ.53
[83] वही, पृ.109
[84] पीपुल ऑफ इंडिया, पृ.692
[85] कब तक पुकारुं, पृ.324
[86] कब तक पुकारुं, पृ.372
[87] ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया – आर वी रसेल, पृ.287
[88] कब तक पुकारुं, पृ.23
[89] ट्राइबल कल्चर ऑफ इंडिया – एल पी विद्यार्थी और बी.के. राय, पृ.136
[90] कब तक पुकारुं, पृ.89
[91] वही, पृ.34
[92] वही
[93] वही, पृ.147
[94] वही, पृ.384
[95] दस्तक : जनवरी–मार्च, 2004, पृ.137 (हरिराम मीणा का लेख)
[96] राजस्थान की जातियां – बजरंगलाल लोहिया, पृ.251

[97] ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया – आर वी रसेल, पृ.288
[98] कब तक पुकारुं, पृ.310
[99] वही
[100] वही पृ.46
[101] वही पृ.45
[102] वही पृ.286
[103] वही पृ.84
[104] वही पृ.47
[105] वही पृ.306–307
[106] वही पृ.306
[107] वही पृ.90
[108] वही पृ.361
[109] रांगेय राघव व उनके उपन्यास : लाल साहब सिंह, पृ.109
[110] पीपुल ऑफ इंडिया, पृ.692
[111] कब तक पुकारुं, पृ.265
[112] हिंदी के आंचलिक उपन्यास – विमल शंकर नागर, पृ.212
[113] वही, पृ.26
[114] वही, पृ.11
[115] वही, पृ.9
[116] वही, पृ.43
[117] हिंदी के आंचलिक उपन्यास – सामाजिक व सांस्कृति संदर्भ – विमल शंकर नागर, पृ.238
[118] कब तक पुकारुं, पृ.67
[119] वही, पृ.282
[120] वही, पृ.18
[121] वही, पृ.49–50
[122] वही, पृ.82
[123] वही, पृ.283
[124] परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति : श्यामाचरण दुबे, पृ.134
[125] वही, पृ.131
[126] ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया, आर वी रसेल, पृ.290
[127] राजस्थान की जातियां – बजरंगलाल लोहिया, पृ.250–251
[128] कब तक पुकारुं, पृ.83–84

अध्याय तृतीय

शिल्प संरचना और कब तक पुकारुं

(क) कथानक

(ख) पात्र योजना

(ग) देशकाल व वातावरण

(घ) भाषा

(ङ.) उद्‌देश्य

शिल्प संरचना और 'कब तक पुकारुं'

उपन्यास अंततः एक कलारूप है जिसकी अपनी कलात्मक विशेषताएं होती हैं। उपन्यास की कलात्मकता को परखने के अनेक आधार माने गए हैं। 'कब तक पुकारुं' की कलात्मकता के संदर्भ में विचारणीय तथ्य यह है कि यह उपन्यास हिंदी साहित्य के विवादास्पद उपन्यासों में से एक है। यहां विवाद का विषय इसकी आंचलिकता, विचारधाराप्रधानता आदि रहे हैं। कुछ आलोचक इसे आंचलिक उपन्यास सिद्ध करते हैं उनके अनुसार इसकी आंचलिकता `मैला आंचल´ की आंचलिकता से भिन्न अवश्य है पर है आंचलिक ही। जबकि कुछ विद्वान (चंद्रकांत वांदिवडेकर, बंशीधर) इसे आंचलिक उपन्यास नहीं मानते। विचारधारा के संदर्भ में हिंदी साहित्य में बहस रही है कि साहित्य में विचारधारा का प्रयोग उचित है या अनुचित? क्या विचारधारा विहीन साहित्य संभव है? कुछ विद्वान जो उपन्यास में विचारधारा के अभाव की बात करते हैं वे विचारधारा का अर्थ राजनीतिक लगाते हैं जबकि विचारधारा विहीन साहित्य की कल्पना भ्रम मात्र है। विचारधारा साहित्य संवेदना में ही नहीं बल्कि उसके रूप में भी आद्यंत विद्यमान रहती है। 'कब तक पुकारुं' यथार्थवादी दृष्टिकोण से लिखा गया उपन्यास है और यथार्थ और विचारधारा का भी संबंध होता है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय जी के अनुसार – "यथार्थ के अनुभव, चयन, व्याख्या, मूल्यांकन, रूपांतरण और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया स्वतंत्र चालित नहीं होती। इसमें रचनाकार की विश्वदृष्टि के साथ कलादृष्टि का भी महत्व होता है।"[1] यह विश्वदृष्टि और कलादृष्टि विचारधारा से प्रभावित होती है। विचारधारा के संदर्भ में ही महत्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य का लक्ष्य केवल विचारधारा प्रकट करना ही नहीं होता। रचनात्मकता के आधार पर देखा जाए तो विचारधारा का आग्रह रचना के स्वाभाविक विकास में बाधा बनता है तो वह अनुचित है। रांगेय राघव के 'कब तक पुकारुं' में उनकी विचारधारा स्पष्ट है लेकिन फिर भी उन्होंने पात्र व कथानक के स्वाभाविक विकास में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आने दिया है।

इस अध्याय के अंतर्गत उपन्यास के परंपरागत प्रतिमानों, कथानक, चरित्र, भाषा, उद्देश्य, देशकाल आदि के संदर्भ में रचनात्मकता पर विचार किया जाएगा। आंचलिकता, यथार्थ व विचारधारा को इनके मूल्यांकन का आधार बनाया जाएगा।

विषयवस्तु/कथानक के संदर्भ में 'कब तक पुकारुं'

कथानक और आंचलिकता

आंचलिकता शिल्पविधि के रूप में स्पष्ट रूप से आजादी के बाद सामने आई। आजादी के बाद लेखकों का ध्यान लोकसंस्कृति की ओर गया। अंचल की ओर ध्यान जाने के कारण अनेक लेखकों ने आंचलिक जीवन को कथा का आधार

बनाया। आजादी के बाद के समय की उपज थी यह शिल्प विधि। स्वतंत्र भारत की स्थिति में परिवर्तन उपन्यासों का आधार बना। "राजाओं की तानाशाही की समाप्ति, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, पंचायत राज स्थापना, आदिम जातियों का उत्थान आदि उपन्यास के विषय बने।"[2]

स्वतंत्र भारत की परिस्थितियों के चित्रण के साथ ही इनका मूल लक्ष्य पिछड़े ग्रामीण अंचलों का चित्रण रहा। यही आंचलिक उपन्यासों के मूल में रही प्रवृति थी जिसके तहत पिछड़े हुए अंचलों व पिछड़ी जातियों का परिचय पाना था। कथा का आधार ऐसे अंचल बने जिन पर या तो आजादी. का कोई खास असर नहीं हुआ था या जो परिवर्तन के कारण संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहे थे। यह आंचलिकता नए स्वर के रूप में हिंदी साहित्य में आई। प्रकाश वाजपेयी लिखते हैं – "एक नया समारोह आया, नया जीवन दर्शन उपस्थित हुआ और भारत के सरल स्वाभाविक ग्राम्य जीवन का परिदृश्य हमें प्राप्त होने लगा। व्यक्ति तक ही सीमित न रहकर, मन के सूक्ष्म रहस्यों की छानबीन तक ही परिवेष्ठित न होकर कुंठित वातावरण की अवहेलना करते हुए आंचलिक उपन्यास ने हिंदी साहित्य में नए स्वर उपस्थित किए।"[3] इन पिछड़े अंचलों व पिछड़ी जातियों को कथा का आधार बनाने के पीछे दृष्टिकोण "अपनी भाषा, अपनी बोली, अपना साहित्य, अपनी संस्कृति, अपनी परंपराओं आदि के प्रति आत्मीयता व अभिमान की भावना (का था जिस) ने आंचलिकता को विकसित करने में मदद की।"[4]

इस प्रकार आजादी के बाद की परिस्थिति और पिछड़े अंचलों के प्रति आत्मीयता के भाव ने इस आंचलिकता को शिल्पविधि के रूप में विकसित किया। आंचलिक शब्द पहले पहल मैला आंचल की भूमिका में रेणु ने प्रयुक्त किया और तब से ही आंचलिकता की प्रवृत्ति, विषय क्षेत्र, परिभाषा, लक्षण, प्रतिमान आदि पर बहस की जा रही है और अभी तक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा गया है फिर भी कुछ खास लक्षण निर्धारित है जिनके आधार पर किसी कृति को आंचलिक कहा जा सकता है। मूल तत्व है अंचल की अभिव्यक्ति। अंचल को सही और समग्र रूप में कौन–कौन से तत्व अभिव्यक्त करते हैं यह विवाद का विषय है, अंचल की अभिव्यक्ति विवाद का विषय नहीं है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आंचलिक उपन्यास की परिभाषा व लक्षण बताते हैं – "एक विशेष अंचल के निवासियों का जीवन अपने समग्र रूप में विस्तार के साथ चित्रित होता है। आंचलिकता एक प्रवृत्ति है जिसमें लेखक अपनी कृति को एक अंचल विशेष की आधार भूमि पर निर्मित करता है तथा वहां के निवासियों के जीवन और उनकी प्रगति को विस्तार के साथ चित्रित करता है। यह किसी व्यक्ति या परिवार की कहानी न होकर वर्ण्य अंचल के समग्र जनजीवन की कहानी होती है।"[5]

आंचलिकता केवल अपरिचित अंचलों के चित्रण में ही नहीं होती आदिम जातियों के चित्रण में भी होती है। नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार – "हम आंचलिक उपन्यास उसे कहते हैं जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो। आंचलिक उपन्यास की सबसे प्रमुख विशेषता अपरिचित और किसी हद तक आदिम जातियों के जीवन चित्रण में पाई जाती है।"[6]

'कब तक पुकारुं' में राजस्थान के भरतपुर जिले की वैर तहसील का और उसमें बसे करनटों का चित्रण किया गया है। यह अंचल राजस्थान व ब्रज प्रदेश का सीमांत है जहां के करनट अपने आप में विशिष्ट हैं। यद्यपि 'कब तक पुकारुं' में वैर के अंचल का चित्रण समग्रता में हुआ है। वहां के नट ही नहीं वरन् कंजर, मीणा, ब्राह्मण, ठाकुर आदि का जीवन, वहां के रहन–सहन, बोली, वेशभूषा आदि सभी का चित्रण मिलता है फिर भी नट जनजाति का चित्रण समग्रता में होने के कारण इसे जनजातिमूलक आंचलिक उपन्यास मानना चाहिए। क्योंकि स्वतंत्रता के बाद आदिम जातियों के जीवन को चित्रित करने वाले उपन्यास भी आंचलिक माने गए।

आंचलिक उपन्यासों में कथानक विशिष्ट होता है, यहां अंचल ही कथा का उपजीव्य होता है, उसी का यथार्थ व समग्रतापूर्ण चित्रण उपन्यास का लक्ष्य होता है। यह स्थानीय रंगत से उद्देश्य चित्रण में भिन्न होता है। स्थानीय रंगत साधन के रूप में होती है ताकि स्वाभाविकता व प्रभावात्मकता उत्पन्न हो सके लेकिन आंचलिक उपन्यास में स्थानीय रंगत नहीं होती उसमें अंचल की ही कथा होती है। ग्राम कथा से भी अंतर होता है। ग्राम सामान्य होता है अंचल विशेष। 'कब तक पुकारुं' का अंचल ही नहीं करनट जाति भी विशिष्ट है। यह विशिष्टता अन्य जनजातियों से तो है ही साथ ही यहां के करनट अन्य स्थानों के करनटों से भी विशिष्ट हैं। जिसे लेखक अनेक संदर्भों में चित्रित करता है। साथ ही इसे लिखने के पीछे लेखक का मंतव्य वही है जो उस समय के अन्य आंचलिक उपन्यासों का था अर्थात् अपरिचित व पिछड़े अंचलों व जातियों का समग्र चित्रण।

जनजातियों पर लिखे गए उपन्यासों की विशेषता अपरिचितता ही कही गई। नट साहित्य के लिए उस समय तक अपरिचित थे। यद्यपि मराठी में 1950 में 'बलि' उपन्यास लिखा जा चुका था लेकिन हिंदी साहित्य में इनकी उपस्थिति नदारद थी। 'कब तक पुकारुं' के माध्यम से रांगेय राघव ही पहले साहित्यकार सिद्ध होते हैं जो इन्हें साहित्य का आधार बनाते हैं। इस जनजाति की समस्त विशिष्टताओं को समग्रता में चित्रित करते हैं। इनके जातीय संस्कार, धार्मिक भावना, विचार, आस्थाएं, मान्यताओं, इनकी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक परंपराओं अर्थात् इनके जीवन का समग्रता में चित्रण करते हैं। इसी का परिणाम था कि साहित्य

जगत का इस जनजाति की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और तदंतर उनकी साहित्यिक अभिव्यक्तियां हुई।

लेखक का ध्यान अपने आस–पास रहने वाली इस जनजाति की ओर आकृष्ट हुआ और इनकी पीड़ा से साहित्य जगत को अवगत कराने के लिए उन्होंने यह उपन्यास लिखा। वे लिखते हैं –`क्यों नहीं इनकी वेदना को किसी ने वाणी दी। वे साहित्य जगत को बताते हैं – "तुम नए साहित्य को पढ़ते हो, लो इसे भी पढ़ो। जीवन उतना ही नहीं जितना तुम उसे समझते हो।"[7]

इस समाज की विशिष्ट स्थिति को परिचित कराने के लिए वे इसे लिखते हैं। वे जानते हैं कि इनकी यौन व्यवहार संबंधी मान्यता दूसरे समाजों के लिए हैरानी का विषय होगी, वे लिखते हैं, "उन लोगों की नैतिकता को सोचकर मैं घबरा नहीं रहा हूं, पर मेरे आलोचकों को जरूर हैरानी हो जाएगी। पर उन्होंने जिंदगी को देखा नहीं। वे अपनी दृढ़ धारणाएं बनाए बैठे हैं।"[8]

लेखक आंचलिकता के आधार तत्व विशि्टता का जिक्र करते हुए कहता है – "वैसे तो यह जनजाति संपूर्ण राजस्थान में पाई जाती है परंतु इस अंचल में पाई जाने वाली करनट जनजाति अपनी विशिष्टता रखती है। ....करनट खानाबदोश होते हैं पर उनमें बाकी नटों से कला करतब नहीं चलते। नटों की औरतों घूंघट भी खींचती हैं और खोलकर भी नाचती हैं। दस–दस घड़े सिर पर रख लेती हैं और फिर कमर हिलाती हैं। इनके मर्द बांस पर चढ़कर तरह–तरह के खेल दिखाते हैं। करनटों में ये खेल नहीं चलते। करनट और बाकी नट भी डेरों में ही रहते हैं पर इस गांव में कुछ और बात है यहां करनट भी खेल दिखाते हैं।"[9] इस प्रकार नटों का विशिष्ट जीवन है जो इस अंचल की ही विशिष्टता है। लेखक के दृष्टिकोण के बारे में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी लिखते हैं – "इनकी (नटों की) जीवन रीति सभ्य कहे जाने वाले लोगों से नितांत भिन्न है। लेखक ने भूमिका में इस जाति को नट, डोम, भंगी, चमार, धोबी आदि असभ्य और नीच समझी जाने वाली जातियों से अलग किया है। उसने इनकी नैतिकता, पेशा, पोशाक, रहन–सहन, विवाह, छुआछूत आदि का विवरण दिया है। करनटों के इसी विशिष्ट जीवन पर यह उपन्यास आधारित है।... उपन्यासकार ने इनकी नैतिकता को आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया।"[10]

"आंचलिक उपन्यास की विशेषता है उसकी पृष्ठभूमि विशिष्ट यथार्थ पर आधारित होती है। आंचलिक उपन्यासकार किसी क्षेत्र विशेष को लेकर उनकी भौगोलिक, सांस्कृतिक व सामाजिक विशेषताओं का चित्रण करता है। ऐसी विशिष्टताएं सामान्यतः पिछड़े हुए अंचलों अथवा जनजातियों में होती है।... लेखक अंचल विशेष के वातावरण एवं समस्याओं का चित्रण इतने प्रभावशाली ढंग से तथा

यथार्थ रूप में करता है कि वे पाठकों के समक्ष सजीव हो उठती है।"[11] 'कब तक पुकारुं' नटों के जीवन को उनकी समस्याओं को इसी रूप में चित्रित करता है।

आंचलिक उपन्यासों में अंचल के विभिन्न पात्रों के माध्यम से उन के रहन–सहन, लोकगीत, लोक–कथाओं, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, धार्मिक मान्यताओं आदि के चित्रण के द्वारा अंचल को सजीव करता है, इसमें अनुभव की प्रामाणिकता का महत्व होता है। 'कब तक पुकारुं' के नटों का जीवन यथार्थ पर आधारित है और वह यथार्थ अनुभव की प्रामाणिकता से ही उत्पन्न हुआ है। 'कब तक पुकारुं' वैर अंचल की कथा कहता है। यहां लेखक का अधिकांश समय व्यतीत हुआ है और इसी अंचल को आधार बनाकर ही उन्होंने वहां के लोगों की कथा कही है फिर 'गदल' हो या 'धरती मेरा घर'। "रांगेय राघव का परवर्ती' जीवंत लेखन वैर के परिवेश से ही जुड़ा है। इस गांव के समग्र यथार्थ को उन्होंने अपनी कृतियों में समेटने का प्रयास किया है। यहां की बोली बानी, रीतिरिवाज, अंधविश्वास, मान्यता, परंपराएं जस की तस उनकी कृतियों में व्यंजित हुई हैं।"[12] "इस प्रकार करनटों के लोकजीवन, लोकगीत, आचार, विचार, जनपदीय संस्कृति उनके मध्यकालीन अंधविश्वास, भाषा, सामाजिक भीरूता, शोषण, अनैतिकता आदि का वर्णन आंचलिकता का अंश है।"[13] इसमें विशिष्ट जनजाति का चित्रण इसको आंचलिक सिद्ध करता है जिसके माध्यम से अंचल को भी अभिव्यक्ति मिली है।

आंचलिक उपन्यासों का कथानक अन्य उपन्यासों से भिन्न होता है यहां "कथानक का स्वरूप मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, चरित्र प्रधान व घटनाप्रधान उपन्यासों से भिन्न होता है। जहां इन उपन्यासों में केंद्रीयकरण की प्रवृति इतनी प्रबल होती है कि वस्तु में विस्तार या फैलाव होने पर भी सुसम्बद्धता बनी रहती है और कथा में बिखराव आ ही नहीं पाता वहीं इसके विपरीत आंचलिक उपन्यासों में केंद्रीयकरण की प्रवृति का अभाव होने के कारण विस्तार की अपेक्षा बिखराव आ जाता है।"[14]

"यह बिखराव दो प्रकार का होता है कथागत बिखराव और जीवनगत बिखराव। कथागत बिखराव संबंधी आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य अंचल के समग्र पहलुओं को उद्घाटित करता है परंतु केंद्रीय कथा का अभाव होना इसकी मुख्य विशेषता है। रेणु का 'मैला आंचल' कितनी ही कथाओं का संग्रह लगता है। जीवनजगत बिखराव संबंधी उपन्यासों में कथागत संबंधी उपन्यासों के विपरीत कुछ पात्र अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्राप्त कर लेते हैं और उपन्यास में किसी एक पात्र की कथा केंद्रीय कथा होने का आभास देती हुई आंचलिक जीवन के उद्घाटन का माध्यम बन जाती है। ऐसे उपन्यास एक सीमा तक चरित्र प्रधान दिखने लगते हैं यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि चरित्र प्रधान उपन्यासों में तो घटनाएं तथा

अन्य आवश्यक तत्व पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को उभारने के लिए रखे जाते हैं परंतु जीवनगत बिखराव संबंधी आंचलिक उपन्यासों में चरित्रों व उससे संबंधित घटनाओं की योजना इस प्रकार की जाती है कि अंचल विशेष अथवा जनजीवन (जाति विशेष) की विशेषताओं का उद्‌घाटन हो सके।"[15] 'कब तक पुकारुं' इसी प्रकार का उपन्यास है जहां केंद्रीय कथा सुखराम–कजरी–प्यारी से संबद्ध है लेकिन इनके माध्यम से नट जाति की सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थिति व जीवन का उद्‌घाटन होता है। यहां इसके माध्यम से नटों के जीवन को चित्रण करना लेखक का उद्‌देश्य रहा है।

इसके बावजूद भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यहां के अंचल का परिचय नहीं मिलता या कहें अंचल के अन्य लोगों के जीवन को व्यक्त करने वाली अवांतर कथाओं का अभाव है। 'कब तक पुकारुं' में सुखराम–प्यारी–कजरी के अलावा, धूपो चमारिन प्रसंग चमारों के जीवन का, उनकी सामाजिक स्थिति का चित्रण करता है इसी प्रकार चंदन मेहतर, चमरवाड़ा, डाकू खड़ग सिंह, रामा करनटी आदि की कथाएं इस अंचल के जीवन का उद्‌घाटन करती हैं। जिससे यहां इस अंचल की सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, धार्मिक, राजनीतिक स्थिति का उद्‌घाटन होता है। 'मैला आंचल' की अवांतर कथाओं की तरह यहां इनकी भरमार नहीं है। राधेश्याम कौशिक लिखते हैं – "उपन्यास में कथानक की आंचलिकता बनाए रखकर उपन्यासकार ने घटना संगठन पर सतर्कता से ध्यान दिया है पर अन्य आंचलिक उपन्यासों की तरह इसमें अवांतर कथाओं की भरमार नहीं है। नटों के जीवन का चित्रण जितने विस्तृत रूप में इस उपन्यास में चित्रित हुआ है उतना किसी भी हिंदी उपन्यास में नहीं हुआ।"[16]

'कब तक पुकारुं' पर प्रसंगों के अनावश्यक विस्तार का आरोप लगाया जाता है। डा. बंशीधर के अनुसार – "कुछ कथाएं अनावश्यक विस्तार पाकर उपन्यास को भारी भरकम बनाने में सहायक हो गई है। उपन्यास में कई स्थलों पर प्रकृति व परिवेश को लेकर लंबे–लंबे रोमांचक वर्णन मिलते हैं जो तिलस्म सा आनंद प्रदान करने से अधिक अपनी उपयोगिता कहीं सिद्ध नहीं कर पाते। वर्णनों के व्यामोह पर नियंत्रण करके यदि कथाकार चाहता तो उपन्यास के कथानक में कसावट ला सकता था। इतना ही नहीं इन वर्णनों ने तथा कथानक की एक विशेष प्रकार की बुनावट ने उपन्यास की आंचलिकता को भी क्षतिग्रस्त किया है।"[17] गोविन्द रजनीश भी इसी तरह की धारणा रखते हैं – " 'कब तक पुकारुं' में एक ओर संवेदनात्मक हृदयग्राही और मार्मिक स्थल हैं वहीं दूसरी ओर अनावश्यक विस्तार भी। कजरी–सुखराम, कजरी-प्यारी की चुहल और निस्सार बतियाने में, दीना द्वारा कहीं दीर्घ कथा में और डाकू प्रसंग में।"[18]

आंचलिक उपन्यास का कथानक कसावट की दृष्टि से अन्य से भिन्न होता है। "अन्य उपन्यासों के समान इसका कथानक सुसंगठित नहीं होता। अपने उद्देश्य की भिन्नता के कारण कथा मंथर गति से चलनें वाली होती है। अंचलीय वातावरण के बहुवर्णनों के कारण कथा गति नहीं पकड़ पाती। उपन्यासकार के क्षेत्र विशेष को आधार बनाकर संघर्ष, शोषण, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक विषमताओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों और जर्जरित परंपराओं के अनेक चित्र, अनेक पात्रों के माध्यम से अनेक कोणों व दिशाओं से प्रस्तुत करने होते हैं फलस्वरूप इसका कथा विन्यास शिथिल ही रहता है, त्वरित गतिवाला नहीं होता।"[19] इस प्रकार कसावट या बुनावट का ढीलापन आंचलिक उपन्यास की विशेषता है। अनावश्यक विस्तार वाले प्रसंग उस क्षेत्र की विशेषताओं को प्रकृति के वर्णन उसके परिवेश को उजागर करने हेतु आवश्यक है। चंदा व नरेश का प्रसंग भी अनावश्यक नहीं है लेखक उसके माध्यम से इस तथ्य को दर्शाना चाहता है कि कानून बना देने से सामंती समाज की जड़ों में बसी चीजें नहीं मिटती और दूसरे यह कि आजाद भारत में इस अंचल की स्थिति में परिवर्तन आया है या नहीं?

'कब तक पुकारुं' नटों के जीवन पर आधारित जनजाति मूलक आंचलिक उपन्यास है। 'मैला आंचल' से इसकी आंचलिकता भिन्न प्रकार की है। मधुरेश लिखते हैं – "उसमें किसी अंचल विशेष के व्यापक और बहुविध जीवन को अंशतः ग्रहण करके संपूर्ण देश के प्रतिनिधित्व का आग्रह एकदम नहीं है। न ही किसी अंचल विशेष के निवासियों की बोली बानी और लोकमतों के प्रयोग का इतना अधिक आग्रह है, उसमें है जैसे 'मैला आंचल' या 'परती परिकथा में'।"[20] 'कब तक पुकारुं' की आंचलिकता रेणु की आंचलिकता से इस रूप में भिन्न है कि 'मैला आंचल' में अवांतर कथाओं की भरमार है, वहां केंद्रीय कथा नहीं है, वहां लोकमतों व भाषा का अतिशय आग्रह है जबकि 'कब तक पुकारुं' नटों की कथा के माध्यम से ही अंचल की तथा करनटों की विशिष्टता चित्रित करता है। ग्रामकथा से भिन्नता यह है कि यह ग्राम संपूर्ण गांवों का प्रतिनिधित्व नहीं करता यह विशिष्ट है यहां के नट भी विशेष हैं यही विशिष्टता आंचलिकता का एक लक्षण है।

आंचलिकता के संदर्भ में इस बात का महत्व होना चाहिए कि लेखक अपने उद्देश्य में कितना सफल हुआ है। आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य अंचल का समग्रता व यथार्थवादी चित्रण होता है जिससे उस अंचल की कमियां व अच्छाईयां प्रकट हो जाएं। इसी आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए लेखक उसके लिए क्या तरीका अपनाता है वह उसकी निजी विशेषता है। एक ही अंचल और एक ही जनजाति का चित्रण अलग अलग उपन्यासकार करते हैं लेकिन उनका चित्रण समान नहीं होता। इसका प्रधान कारण लेखक की प्रतिभा और उसकी शैली होती है। अतः आधार अनुभूति की गहराई, यथार्थ व समग्रतापूर्ण चित्रण होना चाहिए। 'कब तक पुकारुं'

इन तीनों आधारों पर आंचलिक उपन्यास सिद्ध होता है। नटों के जीवन का समग्रतापूर्ण चित्रण किया गया है, इनके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन को उनकी विशिष्टताओं व कमियों के साथ यथार्थ रूप में उभारा गया है और इसमें लेखक की अनुभूति की प्रामाणिकता का भी योगदान है। ये नट उनके जाने पहचाने हैं यही कारण है कि उनकी समस्त विसंगतियों और विद्रूपताओं से लेखक भली–भांति परिचित जान पड़ता है।

इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों में एक कोटि अपरिचित जातियों के चित्रण को भी मानी गई है। 'कब तक पुकारुं' नट जाति के जीवन का चित्रण करता है उनकी चित्रण समग्रतापूर्ण व यथार्थवादी है। कथानक के स्वरूप के संदर्भ में आंचलिक उपन्यासों में अवांतर कथाओं की संख्या और कथानक की बुनावट में शिथिलता को आधार माना जाता है। 'कब तक पुकारुं' में 'मैला आंचल' सी अवांतर कथाओं की भरमार नहीं है लेकिन फिर भी मूल लक्ष्य अंचल के चित्रण हेतु आवश्यक भिन्न–भिन्न जातियों के चित्रण द्वारा अंचल की विशिष्टता उजागर होती है। धूपो चमारिन, चमरवाड़ा, चंदन मेहतर, कंजर, मीणा, ठाकुर ब्राह्मणों से युक्त यह अंचल 'कब तक पुकारुं' में समग्रता में चित्रित होता है। विभिन्न समाजों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थिति का चित्रण किया गया है।

इस प्रकार " 'कब तक पुकारुं' राजस्थान के नटों के जीवन पर आधारित है। उनके स्त्री पुरुषों के सामाजिक संबंधों को उनके आचार विचार और यौन नैतिकता को बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। उनके रीति रिवाज, कायदे कानून और जीवन पद्धति उसे आंचलिक रंग देते हैं।"[21]

कथानक और विचारधारा

विचारधारा को भिन्न–भिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न तरह से व्याख्यायित किया है। गोल्डमान उसे विश्वदृष्टि कहते हैं तो विश्वनाथ त्रिपाठी विश्वबोध। विश्वदृष्टि का तात्पर्य विश्व को दृष्टिकोण विशेष से देखना है अर्थात् विश्व को देखने का नजरिया। उपन्यास एक साहित्यिक रूप मात्र नहीं है वह जीवन जगत को देखने की दृष्टि है। जीवन जगत को देखने की दृष्टि विचारधारा का ही रूप है अतः विचारधाराविहीन साहित्य की कल्पना भ्रम है। उपन्यास की कला की चर्चा करते हुए प्रो. मैनेजर पाण्डेय कहते हैं – "यह सच है कि दूसरे कला रूपों और साहित्य रूपों की तुलना में उपन्यास का स्वरूप समाज पर अधिक निर्भर होता है और उसका विकास समाज के इतिहास के साथ होता है लेकिन यह भी सच है कि वह एक कला है, केवल सामाजिक दस्तावेज नहीं इसलिए सामाजिक यथार्थ, जीवन के अनुभव और इतिहास की गति रचनाकार की सृजनशीलता से पुनर्रचित होकर ही उपन्यास में आते हैं।"[22] रचनाकार की सृजनशीलता से पुनर्रचित होने के क्रम में ही

रचना पर विचारधारा का प्रभाव पड़ता है। उपन्यासकार व्यवहारिक जीवन की घटनाओं को देखता है, अनुभव करता है लेकिन जब वह कला या साहित्य रूप में उसे अभिव्यक्त करने लगता है तो विचारधारा उस कला रूप में प्रस्तुत होती है। विचारधारा साहित्य संवेदना ही नहीं बल्कि उस कला रूप को भी प्रभावित करती है। विचारधारा कलाकार के विषय चयन से लेकर कलाकृति के निर्माण तक अंतर्वस्तु से रूप तक आद्यंत विद्यमान रहती है अतः विचारधारा विहीन साहित्य भ्रम मात्र है।

रांगेय राघव साहित्य में विचारधारा के प्रयोग को गलत मानना तो दूर अपनी विचारधारा को स्पष्ट परिलक्षित करते हैं। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि मैं मार्क्सवादी हूं। "डॉ. राघव साहित्य के माध्यम से राजनीति का चित्रण करते हैं। ये उन साहित्यकारों में से नहीं जो राजनीति की साहित्य के अंतर्गत होने वाली चर्चा के विरोधी हों।.... मार्क्सवाद और राजनीति से अपने काव्य के संबंध में उनका मत है – "मैं मार्क्सवादी का हमदर्द रहा हूं और हूं किंतु उतनी ही श्रद्धा मेरी इस वाद के प्रति सदा से रही है जितनी अन्य वादों के प्रति जो मनुष्य के सामूहिक कल्याण को प्रश्रय देते हैं क्योंकि मैं मनुष्य की मूल उदात्त भावना 'सदिच्छा' को ऊंचा स्थान देता हूं।"[23] इस प्रकार रांगेय राघव मानवतावाद का समर्थन करने वाले उपन्यासकार हैं।

रांगेय राघव प्रगतिशील आंदोलन का प्रबल समर्थन करते हैं, उनकी विचारधारा मार्क्सवादी है लेकिन विचारधारा की अति का विरोध करते हैं। प्रगतिशील आंदोलन कल्पना की बजाय यथार्थ पर बल देता था। इसी का परिणाम था यथार्थवाद का आग्रह और आजाद भारत में अनुभूति की प्रामाणिकता। 'कब तक पुकारुं' की रचना इन्हीं आधारों पर हुई है। प्रगतिशील दृष्टि के कारण लेखकों ने जीवन की असंगतियों और समस्याओं का कार्य–करण रूप में चित्रण किया और उसके मूल में स्थित कारणों को जांचने का प्रयास किया। आंचलिकता भी एक अर्थ में इसी दृष्टिकोण का परिणाम थी जहां पिछड़े लोगों व अंचलों को कथा का आधार बनाया गया। किसी भी अंचल या जनजाति के जीवन का सामाजार्थिक वर्णन इसी दृष्टिकोण का परिणाम है। लाल साहब सिंह की मान्यता है – "लोकजीवन और लोकसंस्कृति का पुनरूद्धार प्रगतिशील आंदोलन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस आंदोलन में लोक संस्कृति के विभिन्न पक्षों को स्पर्श करने का जो प्रयत्न किया गया उसके फलस्वरूप देश के विभिन्न अंचलों में वहां की बोलियों में साहित्य की सर्जना करने वाले अनेक साहित्यकारों का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदी का आंचलिक उपन्यास इसी का परिणाम है ज़िसमें अंचल विशेष के जनजीवन व संस्कृति का वर्णन होता है।"[24]

प्रगतिशील साहित्य समाज की वैज्ञानिक व्याख्या के द्वारा मनुष्य को रूढ़ियों से मुक्त करता हुआ वर्गहीन समाज की रचना में प्रयत्नशील होता है। इसमें लेखक

कथा का उपजीव्य ऐसे लोगों को बनाता है जो शोषित, पीड़ित, दीन हीन दारूण दशा के हैं। फिर रचनाकार दो वर्गों का चित्रण करते हुए द्वन्द्वात्मक सिद्धांत के आधार पर संघर्ष दिखलाता है। शोषकों द्वारा अत्याचार दिखाया जाता है। पात्र वर्ग चेतना युक्त होते हैं। दोनों वर्गों के संघर्ष को अभिव्यक्ति देकर परिवर्तन की आकांक्षा इस दृष्टि के मूल में है।

'कब तक पुकारुं' पिछड़ों की ही कथा कहता है। इनकी समाजार्थिक स्थिति की समीक्षा करता है और इनमें मुक्ति हेतु छटपटाहट और आकांक्षा का चित्रण करता है। रांगेय राघव के नट, अन्य रचनाकारों के वर्ग से भिन्न हैं – "प्रेमचंद, रेणु और नागार्जुन ने `गोदान', `परती परिकथा' और `बलचनमा' में उन निम्नवर्ग के किसानों का चित्रण किया है जो जन्म से मृत्युपर्यंत खेतों में काम करते हैं, अनाज उपजाते हैं, किंतु महाजनों व जमींदारों की शोषण वृत्ति के कारण भूखे ही पैदा होते हैं और बिना कफन ओढ़े ही मर जाते हैं किंतु रांगेय राघव ने 'कब तक पुकारुं' में समाज के उस वर्ग को चुना है जिसका अपना कोई खेत नहीं, व्यवसाय नहीं, व्यवस्थित घर नहीं।"[25]

'कब तक पुकारुं' में लेखक नटों की दशा का सामाजिक संदर्भ में चित्रण करता है। वह उनकी हीन सामाजिक, आर्थिक स्थिति का चित्रण करता है। लेखक शोषण के बहुआयामी चित्र प्रस्तुत करता है। वहां इनका शोषण केवल आर्थिक ही नहीं है वह सामाजिक भी है और दैहिक भी। इसके पीछे उनकी मान्यता है – "प्रेमचंद आदर्शवादी भी थे। गांव की बहुत सी असलियत भी वे इसी से स्पष्ट नहीं लिख सके क्योंकि उनकी समस्या राष्ट्रीय आंदोलन को बल देने की थी किंतु अब युग प्रेमचंद से आगे है और केवल शोषण का आर्थिक पहलू देखना ही काफी नहीं है।"[26] इसी कारण वे नटों के शोषण के विविध पहलुओं को देखते हैं और चित्रित करते हैं।

नटों का शोषित जीवन सुखराम के कथन के माध्यम से प्रकट होता है – "ये दुनिया नरक है। हम गंदे कीड़े हैं। तूने यह संसार ऐसा क्यों बनाया है जहां आदमी मरता है तो इसके लिए दर्द तक नहीं होता। यहां पाप इतना बढ़ गया है कि गरीब और कमीना आदमी कोढ़ी बन–बनकर पेट के लिए अच्छी देह को गंदा बना लेता है। यहां एक आदमी देवता है, पर हम तो कमीने हैं। वो बड़े लोग क्यों करते हैं ऐसा? क्या वे धन और हुकूमत के लिए आदमी पर अत्याचार करने से नहीं कांपते? तू चुप है। तू जवाब नहीं देती। नट की छोरी पर जवानी आती है और गंदे आदमी उसे बेइज्जत करते हैं फिर भी रंडी की तरह जिए जाती है। मर क्यों नहीं जाती, हम सब मर क्यों नहीं जाते।"[27] इस प्रकार नटों की पीड़ा व उनके विविध आयामी शोषण का चित्रण मिलता है।

शोषण करने वाला वर्ग भी उपन्यास में साफ स्पष्ट होता है। रूस्तम खां, जमींदार साहब, दरबार साहब, ठाकुर व निरोती ब्राह्मण आदि इसके प्रतिनिधि हैं तो शोषितों में नट, चमारवाड़े की धूपो चमारिन व अन्य चमार आदि। इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' में दो वर्ग स्पष्ट प्रतीत होते हैं। लेखक पात्रों को वर्ग चेतना युक्त बनाता है। सुखराम का उपर्युक्त कथन शोषण का तो चित्रण करता ही है साथ ही सुखराम यह भी जानता है कि शोषण करने वाला कौन है, उसकी और नटों की स्थिति में अंतर क्या है? और इसके साथ ही उसकी विवशता से उत्पन्न व्यथा भी सामने आती है।

शोषितों में नट, कंजर, चमार सभी शामिल हैं। सामाजिक व्यवस्था में इनका स्थान कहां है? और शोषित कौन–कौन हैं? इस बात की जानकारी भी सुखराम आदि पात्रों को है। सुखराम कहता है – "हम नट हैं हमारे पास कुछ नहीं है।... जो भूखे मरते किसान हैं, वे हमसे सुखी हैं। उन्हें बोहरा नोचता है, वकील ठगता है, पुलिस सब चूसते हैं।"[28] कजरी द्वारा भी वर्ग चेतना की अभिव्यक्ति होती है वह कहती है – "दुनिया में कैसी कैसी चीजें हैं पर हमको नहीं।"[29] रूस्तम खां के घर की लालटेन देखकर और उसी तरंह की अंग्रेजी रानी के घर जगमगाहट देखकर वह कहती है – "हंडो में बत्ती जल रही थी सतरंगी। मेरी तो टिकटिकी बंध गई। कैसी शाम थी। रात में दूध का सा उजेला छा रहा था। इस पर प्यारी कहती है – वे बड़े लोग ठहरे।"[30]

इस प्रकार उन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान है। वे इसे भाग्य की बात मानते हैं कजरी–सुखराम का वार्तालाप – "कजरी – हमने नटनी के पेट से जनम लिया है।

सुखराम – हमने ऊंची जातों में जनम क्यों नहीं लिया।

कजरी – यह तो भाग की बात है

सुखराम – मानुस देह पाई है हमने, तो फिर हम पर इतने जुल्म क्यों होते हैं।"[31] सामाजिक, आर्थिक शोषण का संकेत करता है यह वार्तालाप। व्यक्ति नीच जाति में जन्म लेना ही शोषण का कारण मानता है और सोचता है कि अगर ऊंची जात का होता तो इतना अत्याचार नहीं होता। इससे बढ़कर सामाजिक शोषण की अभिव्यक्ति क्या होगी जिसमें पात्रों की चेतना में ही यह घर कर चुका है। इन कथनों के माध्यम से वर्ग विषमता प्रकट होती है। अनेक जगह कजरी, प्यारी, सुखराम आदि द्वारा दूसरे से तुलना करना वर्ग की विषमता संबंधी उनकी जानकारी का उदाहरण है।

जहां तक शोषण के चित्रण का प्रश्न है 'कब तक पुकारुं' में शोषक वर्ग (ठाकुर, ब्राह्मण, पुलिस, दारोगा, दरबार साहब, बांके आदि जिसके प्रतिनिधि हैं) द्वारा किए गए कार्यों के माध्यम से इसकी अभिव्यक्ति होती है।

'कब तक पुकारुं' में शोषण की अभिव्यक्ति यौन समस्या, आर्थिक विषमता, सामाजिक यातनाएं, ठाकुर व ब्राह्मण के अकुलीन कार्य व पुलिस का अत्याचार व दमन के माध्यम से होती है। ज्ञात् होता कि शोषण बहुआयामी है जो केवल आर्थिक नहीं है वरन् सामाजिक, दैहिक आदि भी है।

नट, पुलिस शोषण का शिकार है वे पुलिस से भागते फिरते हैं, उनको जबरदस्ती जेल में बंद कर दिया जाता है। उनकी पिटाई की जाती है। स्त्रियों का शारीरिक शोषण किया जाता है जब चाहे तब किसी नटनी या कंजरिया को पकड़ कर ले जाते हैं। उनका किसी नटनी पर मन आता है तो उसे जाना पड़ता है वरना उसका पति जेल में बंद कर दिया जाता है, मारा पीटा जाता है। मदद की गुहार करने पर दरबार साहब जैसे दूसरे शोषक भी परिस्थिति का फायदा उठाकर उनकी स्त्रियों की देह पाना चाहते हैं। रूस्तम खां के घर आग लगा देने से सारे चमारवाड़े की पिटाई होती है – "बुद्धन, हीरा, पंगा को नंगा करके बेंतों से पीटा और उनकी औरतों के मिर्च भर दी।"[32] सुखराम पर झूठा आरोप लगाकर जेल में बंद कर देते हैं। शोषकों में पुलिस ही नहीं है उनके सहायक बांके जैसे लोग भी हैं जो पुलिस के कहने पर और उनके आशीर्वाद से शोषण करते हैं – "चमारों की हाट में तुम्हारे लिए लूट मचवा दी क्योंकि चमार तुम्हें रिश्वत देने से इंकार करते थे।"[33] धूपो चमारिन के साथ बलात्कार करना भी इसी का प्रमाण है।

इस वर्ग में निरोती ब्राह्मण, हरनाम ठाकुर, दरबार साहब व नरेश के पिता–माता भी शामिल हैं। निरोती ब्राह्मण जो प्यारी से 'काम निकालकर' पैसे नहीं देता, जो सुखराम को पकड़ाना चाहता है जो रूस्तम के घर आग लगाकर आरोप चमारों पर लगाता है। हरनाम ठाकुर आदि धूपा का बलात्कार करते हैं ठाकुर हरनाम गडरिए के खेत की फसल चोरी करता है। नरेश के माता–पिता का शोषण सामाजिक अधिक है जहां नरेश–चंदा के प्रेम को स्वीकार नहीं किया जाता और नरेश को नीलू द्वारा पीटने पर सारे नटों को पीटा जाता है।

स्पष्टतः दो वर्ग सामने आते हैं शोषक और शोषित। शोषक पात्र अमानवीय हैं जबकि शोषित पात्र मानवीय हैं। 'कब तक पुकारुं' दो वर्गों का चित्रण करता है, उनकी विषमता का चित्रण करता है, द्वन्द्व का चित्रण करता है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय इसे मानवीयता और अमानवीयता का द्वन्द्व मानते हैं उनके अनुसार – "नीच कहे जाने वाले पात्रों की मानवीयता और उच्च समझे जाने वाले नरेश के पिता, मां, मिसी बाबा का पिता, लारेंस, जमींदार, डाकू जोरावर सिंह ये सब बड़े लोग

हैं मगर इनमें इंसानियत नहीं है। मनुष्यता करनटों में है, गरीबों में है, विवश व लाचारों में है। मनुष्यता और अमानवीयता का यह द्वंद्व 'कब तक पुकारुं' को क्लासिक रचना बनाता है।"[34]

इतना सब कुछ होने के बाद एक बात खटकती है वह यह कि शोषक–शोषितवर्ग, वर्ग विषमता, शोषण के विविध पहलू, वर्ग चेतना आदि का चित्रण करने के बावजूद लेखक संघर्ष या विद्रोह का स्वर मुखर नहीं कर पाता। चमारों में थोड़ा बहुत स्वर देखा जा सकता है पर वे भी रूस्तम का घर नहीं जलाना चाहते और पीटे जाने पर भी पुलिस का सामना नहीं करते। नट बारबार पीटे जाते हैं उन पर पशुवत अत्याचार किए जाते हैं पर फिर भी.वे विद्रोह नहीं करते। शायद इसके पीछे लेखक का दृष्टिकोण यथार्थवादी रहा हो जिसके चलते वह सदियों से चली आ रही इन जातियों की मानसिक स्थिति का चित्रण करना चाहता हो जो शोषित होकर भी विद्रोह नहीं करती। कारण चाहे कुछ भी रहा हो पर प्रगतिशील (मार्क्सवादी) विचारधारा के अनुसार यह बात खटकती है। इनका दृष्टिकोण समझौतावादी दिखाई देता है। जहां सुखराम खचेरा की पत्नी को कहता है कि "भाभी रोओ नहीं। उनके जुल्म करने से तुम रोओ नहीं, सहो, और नहीं सहा जाता तो लड़ो।"[35]

इस प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा का 'कब तक पुकारुं' के कथानक पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। समाज को दो वर्गों में देखना, शोषक और शोषित, समाज की द्वन्द्वात्मक व्याख्या करना, वर्ग विषमता का चित्रण, वर्गगत पात्रों में चेतना, वर्गसंघर्ष का चित्रण करना और मुक्ति हेतु छटपटाहट व मुक्ति यही इसका लक्ष्य होता है। 'कब तक पुकारुं' में यद्यपि विद्रोह का स्वर मुखर नहीं है फिर भी मार्क्सवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। साथ ही लेखक नटों आदि के भविष्य की मंगल कामना करता प्रतीत होता है वह भविष्य के प्रति सुनहरी आकांक्षा रखता प्रतीत होता है। लेखक का विश्वास है कि "शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी वह मिट जाएगी।"[36]

पात्र योजना

आंचलिकता और पात्र योजना

आंचलिक उपन्यासों में पात्र योजना अन्य उपन्यासों से भिन्न होती है। जैनेन्द्र ने आंचलिक उपन्यासों की पात्र योजना के बारे में लिखा है – "आंचलिक प्रवृति वह दृष्टि है जिसके केंद्र में अमुक पात्र या चरित्र उतना नहीं होता जितना स्वयं भूभाग अंचल । पात्र स्वयं में इष्ट नहीं मानो अमुक सृष्टि के जीवन की यथार्थता को उजागर करने में ही इसकी चरितार्थता है।"[37] इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों में पात्र योजना चरित्र प्रधान उपन्यासों से इस रूप में भिन्न होती है कि आंचलिक पात्र

साधन मात्र होते हैं जिनके माध्यम से अंचल का चित्रण करना होता है। इसी कारण कहा जाता है कि यहां नायक अंचल स्वयं ही होता है।

लक्ष्य जब अंचल का चित्रण होता है तो स्वाभाविक है कि चित्रण में समग्रता पर बल दिया जाता है अंचल की समस्त विशेषताओं और विद्रूपताओं को उजागर करना होता है इसी समग्रता में चित्रण करने के प्रयास में आंचलिक उपन्यासों में पात्रों की भीड़ सी इकट्ठी हो जाती है। फलतः कोई केंद्रीय पात्र नहीं होता न केंद्रीय कथा बल्कि अनेक पात्रों के जीवन चित्रण द्वारा अंचल को उद्घाटित किया जाता है। आदर्श सक्सेना का विचार सही प्रतीत होता है जब वे कहते हैं कि "आंचलिक जीवन को उसकी संपूर्णता में उद्घाटित करने के लिए दृष्टि सभी पात्रों की ओर रखनी होती है इसका परिणाम यह होता है कि आंचलिक उपन्यासों में पात्रों की बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो जाती है।"[38]

इस तरह प्रत्येक पात्र कोई न कोई विशिष्टता का उद्घाटन करता है। यह आंचलिक विशिष्टता वर्ग के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है। "आंचलिक विशिष्टता उच्च वर्ग के पात्रों में न्यूनतम, मध्यमवर्ग के पात्रों में थोड़ी बहुत और निम्न वर्ग के पात्रों में पूर्ण रूप से प्रकट होती है।"[39] जिसका प्रमुख कारण होता है कि निम्न वर्ग ही लोक का प्रतिनिधित्व करता है और लोक से ही किसी अंचल के लोकजीवन और लोकसंस्कृति का ज्ञान हो सकता है। जनजातियां इसी लोक का हिस्सा है उनकी भिन्न संस्कृति और जीवन को चित्रण करने के कारण ही शायद आंचलिक उपन्यासों की दूसरी कोटि जनजातिमूलक आंचलिक उपन्यास मानी गई। आदर्श सक्सेना का मानना भी यही है – "जनजीवन का सीधा संबंध प्रमुखतः निम्नवर्ग के पात्रों से ही होता है – अंचल एवं आंचलिक जीवन इनमें ही सर्वाधिक मुखर होता है इस निम्न के भी आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में दो भाग सरलता से किए जा सकते हैं प्रथम जनजाति और द्वितीय जनसामान्य। जनजाति किसी पिछड़े वर्ग के जीवन का उद्घाटन करती है और जनसामान्य करवट लेते अंचलों का।"[40]

'कब तक पुकारुं' की पात्र योजना इसी तरह की है यहां जनजाति का चित्रण किया गया व उसके माध्यम से भरतपुर के वैर ग्राम की विशिष्टता का भी उद्घाटन किया गया है। लेकिन केंद्रीय पात्र के अभाव वाली धारणा यहां नहीं है। यहां सुखराम–कजरी–प्यारी केंद्रीय पात्र हैं कथा इन्हीं के इर्द–गिर्द घूमती है, लेकिन फिर भी आंचलिकता है। यहां पात्रों की भीड़ नहीं है लेकिन जितने पात्र हैं सब विशिष्टता लिए हैं तथा अंचल के जनजीवन का चित्रण करते हैं। धूपो चमारिन चमारों की स्थिति का चित्रण करती है जो बांके आदि द्वारा शोषण का शिकार होती है, चमारवाड़ा और उसके चमार उस अंचल के चमारों की सामाजिक स्थिति का ही नहीं मानसिक स्थिति का भी उद्घाटन करते हैं। चमार गुर्जर, बांके, निरोती ब्राह्मण,

हरनाम ठाकुर आदि पात्र अपने–अपने चरित्र द्वारा अंचल का समग्रता में चित्रण करते हैं। चक्खन व बांके दरोगा के सहायक व चापलूस पात्र हैं जो दरोगा के आज्ञापालक तो है ही उसके इशारों पर काम करते हैं साथ ही अपने हित साधन भी करते हैं। ठाकुर व ब्राह्मण ऐसे व्यक्ति हैं जो ऐसे पात्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो समाज के सम्मुख भले मानुस बने रहना चाहते हैं और चोरी छिपे कुछ भी करने को तैयार हैं अर्थात घृणित कार्य करते हुए भी नहीं शर्माते। ठाकुर गडरिए के खेत की फसल काटता है, वह बलात्कार करता है, वह प्यारी के कथनानुसार व्यभिचार भी करता है। इसी तरह निरोती ब्राह्मण है जो आग लगा देता है, प्यारी को गुड़ की भेली का कहकर अनैतिक कार्य करता है फिर इनकार करता है। ऐसे लोग वे होते हैं जो वास्तव में बेईमान होते हैं और स्वार्थ का एक मौका भी हाथ से जाने नहीं देना चाहते और मुफ्त में रोटिया सेंकना चाहते हैं तथा साथ ही समाज की नजरों में भी बने रहना चाहते हैं। नटों पर तो उपन्यास ही आधारित है वे तो अपना जीवन समग्रता में चित्रित करते ही हैं।

डा. बंशीधर समूहपात्र शैली को आंचलिकता का आधार मानकर कहते हैं – "इस उपन्यास की पात्र योजना निश्चय ही वैसी नहीं जैसी आंचलिक उपन्यासों में पाई जाती है। वहां समूह पात्र शैली का उपयोग किया जाता है जबकि यहां पात्र व्यक्तिगत अधिक हो गए हैं।"[41] समूह पात्र शैली के साथ व्यक्तिगत पात्र योजना पर आधारित उपन्यास भी आंचलिक माने जाते हैं। 'सागर लहरे व मनुष्य' तथा 'नदी फिर बह चली' इसी तरह के उपन्यास हैं। फिर मूल लक्ष्य अंचल का चित्रण होता है पात्र योजना समूह हो या व्यक्तिगत। फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'मैला आंचल' को ही आंचलिकता का आधार क्यों माना जाए क्यों उसके आधार पर ही प्रतिमान निर्धारित किए जाएं? उनके प्रतिमान पाठकों द्वारा कितने पसंद किए जाते हैं यह 'परती परिकथा' की लोकप्रियता से स्पष्ट हो जाता है। फिर लेखकों की रचना शैली भी भिन्न–भिन्न होती है। इन सब बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आंचलिक उपन्यास व्यक्तिगत पात्र योजना पर आधारित भी हो सकती है।

चंद्रकांत वांदिवडेकर की मान्यता भी इसी प्रकार है – "आंचलिक उपन्यासों में प्रायः उपेक्षित का सामान्यपन या मामूलीपन दिखाया जाता है जबकि रांगेय राघव ने उसमें सामान्य या साधारण को उसके अनोखे, गहन, असामान्य भावरूप में उपस्थित किया है। लेखक की दृष्टि का फोकस भी कुछ व्यक्तियों और उनके पारस्परिक सघन भावसंबंधों पर एकाग्र होता है पार्श्व पर नहीं। ये सारे वैशिष्ट्य संभवत 'कब तक पुकारुं' को आंचलिक बनने से रोकते हैं।"[42] प्रथमतः तो विचारणीय यह है कि चंद्रकांत जी स्वयं निश्चित नहीं हैं इसी कारण संभवतः शब्द प्रयुक्त करते हैं। दूसरे उनका यह मानना हमें उचित प्रतीत नहीं होता कि सामान्यजीवन के पात्रों के भाव रूप भी सामान्य ही हों। सुख–दुख, प्रेम, ईर्ष्या ये भावरूप मानवमात्र में पाए जाते

हैं। व्यक्ति कितना भी शोषित या दुखी क्यों न हो उसके जीवन में भी प्रेम, खुशी आदि के क्षण आते हैं जब वह भावातिरेक में अपनी स्थिति को भूल जाता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी के भी जीवन को समग्रता में चित्रित करने के लिए उसके बाह्य जीवन के साथ मानसिक पक्ष का उद्‌घाटन भी आवश्यक है। 'कब तक पुकारुं' नटों के जीवन को समग्रता में चित्रित करने हेतु पात्रों के बाह्य व आंतरिक दोनों पक्षों का चित्रण करता है। इनके शोषण की व्यथा कथा के साथ, हंसी खुशी के क्षणों का चित्रण और बाह्य पक्ष के साथ हृदय के आंतरिक भावों का चित्रण इसी समग्रतावादी दृष्टि का परिणाम है 'कब तक पुकारुं'।

'कब तक पुकारुं' नटों की कथा कहता है। इसमें लक्ष्य नटों की कथा कहना है, उनके जीवन से परिचित कराना है उनका आंचलिक संदर्भ में चित्रण करना है। इसी कारण वहां नटों की कथा ही प्रधान है वहां अन्य जातियों का चित्रण आंशिक रूप में मिलता है फिर भी जितना चित्रित है वह उस अंचल की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थिति का चित्रण करने हेतु पर्याप्त है। चमारवाड़ा, धूपो चमारिन, चंदन मेहतर, दीना चमार, आदि पात्रों के माध्यम से इनके जीवन का भी चित्रण मिलता है। इसकी आंचलिकता 'मैला आंचल' की तरह नहीं है यहां का पार्श्वचित्रण भी वैसा नहीं है। 'मैला आंचल' अंचल के जनजीवन का चित्रण करता है जबकि 'कब तक पुकारुं' नटों की कथा (जनजातीय जीवन) के माध्यम से अंचल की विशिष्टता उजागर करता है, यहां के नटों की विशिष्टता उजागर करता है। इस प्रकार पात्र योजना आंचलिक उपन्यासों की दूसरी कोटि जनजाति मूलक आंचलिक उपन्यासों से संबंधित है जहां जनजाति का जीवन–चित्रण होता है, पात्रों की भीड़ नहीं होती न केंद्रीय पात्रों का अभाव होता है।

पात्र योजना व विचारधारा

विचारधारा पात्र योजना को प्रभावित करती है और पात्रों के माध्यम से भी विचारधारा प्रकट होती है। लेखक का व्यक्तित्व व उसकी विचारधारा पात्रों के स्वरूप निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। रांगेय राघव की विचारधारा प्रगतिशील है जिसका उनकी पात्र योजना पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। रांगेय राघव की जीवनदृष्टि पात्रों के माध्यम से प्रकट होती है जहां वे समाज को दो वर्गों शोषक व शोषित में देखते हैं और उसी रूप में चित्रित करते हैं उपन्यास में।

'कब तक पुकारुं' में पात्र योजना प्रगतिशील विचारधारा पर ही आधारित है जिसमें शोषक व शोषित के माध्यम से द्वन्द्वात्मक स्थिति का चित्रण करना लक्ष्य होता है। शोषक वर्ग में ठाकुर, ब्राह्मण व रूस्तम खां, दरोगा, दरबार साहब, बांके, चक्खन आदि हैं शोषितों में सुखराम, कजरी, प्यारी, धूपो चमारिन, कंजर, चमार

आदि निम्न कहे जाने वाले पात्र हैं। ये पात्र उस समाज का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। डॉ. बंशीधर लिखते हैं – "उपन्यास में पात्रों के दो वर्ग स्पष्ट हैं। जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व सुखराम और प्यारी करते हैं वह समाज का शोषित या निम्नवर्ग है तथा जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व रूस्तम खां व उसके साथी करते हैं वह शोषकों का वर्ग है। ये सारे पात्र अपने क्रियाकलापों के सामूहिक प्रभाव के रूप में हमारे समक्ष एक सामंती समाज व्यवस्था की झांकी प्रस्तुत करते हैं।"[43]

शोषक व शोषित दोनों वर्गों के पात्र यथार्थ की कठोर भूमि पर स्थित वर्ग चेतना युक्त पात्र हैं। शोषित वर्ग को पग–पग पर शोषण का शिकार चित्रित किया गया है तो शोषक वर्ग अनेक हथकण्डों द्वारा विविधपक्षीय शोषण करता है।

रांगेय राघव पात्रों को वर्ग चेतना युक्त चित्रित करते हैं। सुखराम, कजरी, प्यारी सर्वहारा वर्ग के पात्र हैं और वे अपनी हीन स्थिति से परिचित हैं, वर्ग चेतना युक्त हैं। सुखराम सर्वहारा वर्ग का पात्र है जिसका शोषण पग–पग पर होता है। सुखराम भलीभांति जानता है कि कौन शोषक है और कौन शोषित? वह वर्ग वैषम्य को भी जानता है वह कहता है – "वे बड़े लोग क्यों करते हैं ऐसा? क्या वे अपने धन व हुकूमत के लिए आदमी पर अत्याचार करने में नहीं कांपते।"[44] वह अपनी हीन स्थिति से भी परिचित हैं – "हम नट हैं, हमारे पास कुछ नहीं। हम जुआरी, चोर उचक्के, बेईमान, कमीने, धोखेबाज व झूठे हैं, हमारी औरतें कुतियों की तरह रहती हैं।"[45] वह स्वयंशोषित हैं लेकिन वह यह भी जानता है कि वह अकेला ही शोषित नहीं है इसी कारण वह किसानों के व चमारों के शोषण को जानता है – "जो भूखे मरते किसान हैं। वे भी हमसे सुखी हैं। उन्हें बोहरा नोचता है, वकील ठगता है, पुलिस सब चूसते हैं।"[46] वह चमारों को (खचेरा की पत्नी को) कहता है – "तुम रोओ नहीं। तुम यों रोओगी तो उनकी इच्छा पूरी हो जाएगी। उनको जुल्म करने दो।"[47]

सुखराम का चरित्र द्वन्द्वात्मक मनोस्थिति का परिचायक है। द्वन्द्वात्मकता मार्क्सवाद का आधारभूत सिद्धांत है। सुखराम के व्यक्तित्व में भी उसका चित्रण देखा जा सकता है। सुखराम "उपन्यास में अकेला नहीं बल्कि उसके दो समानांतर रूप सर्वत्र पाए जाते हैं। पहला है ठाकुर सुखराम का जिसके अनुसार वह अपने को अधूरे किले के मालिकों की वंश परंपरा में मानता है और दूसरा वह करनट सुखराम का जिसे वह वर्तमान में न चाहते हुए भी जीने के लिए विवश है। सुखराम पूरे उपन्यास में अपने दोहरे व्यक्तित्व की पहचान बरकरार रखता है।"[48] सुखराम जिस वर्ग का पात्र है उसकी मानसिकता भी उसी प्रकार की है वह स्वयं को करनट नहीं मानता वह ऊँची जात का होना चाहता है क्योंकि वह करनटों के शोषण से परिचित है और सोचता है कि उच्च जाति का हो जाएगा तो शोषण नहीं होगा। वह उस

मानसिकता का प्रतीक है जहां व्यक्ति अपनी स्थिति से खुश नहीं होता वह छटपटाता है परिस्थिति को बदलने हेतु पर नहीं बदल पाता। डा. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय लिखते हैं – "रांगेय राघव रहस्य के माध्यम से सुखराम में जातीय अपमान से उत्पन्न वेदना और दुख को दिखाते चलते हैं। क्योंकि सुखराम हीन था अतः वो अपनी और लोक की दृष्टि में ऊँचा उठने के लिए सहज अंधविश्वासवश वह मानने लगा था कि अधूरे किले की अभिशप्त ठकुरानी हकीकत है और यह कि वह उसका वंशज है और अधूरे किले का उत्तराधिकारी ठाकुर है।"[49] इस प्रकार सुखराम लेखक की मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित सर्वहारा या शोषित वर्ग का प्रतिनिधि बनकर आता है, जो समाज में हीन स्थिति में जीने को विवश है, जिसमें छटपटाहट है और जो द्वन्द्वात्मक मानसिकता का परिचायक भी है।

यह द्वन्द्वात्मक मानसिकता सुखराम की ही विशेषता नहीं है 'कब तक पुकारुं' का प्रत्येक चरित्र इसका प्रमाण है। इसी विचारधारा का ही परिणाम है कि लेखक समाज की द्वन्द्वात्मक स्थिति को पात्रों के माध्यम से चित्रित करता है। उनमें मानवीयता और अमानवीयता का द्वन्द्व चित्रित करता है। शोषक पात्र अमानवीय है जबकि मानवीयता शोषितों में ही शेष रह गई है। द्वन्द्वात्मकता के आलोक में 'कब तक पुकारुं' की चर्चा की जाए तो स्पष्ट होता है कि इसका प्रत्येक पात्र द्वन्द्वात्मक स्थिति का परिचायक है। यह द्वन्द्वात्मक मार्क्सवाद का आधारभूत सिद्धांत है जिसके तहत समाज को द्वन्द्वात्मक परिस्थिति में ही देखा जाता है। "नीच समझे जाने वाले पात्रों की मानवीयता और उच्च समझे जाने वाले नरेश के पिता, मां, मिसी बाबा का पिता, लारेंस व डाकू जोरावर सिंह ये सब बड़े लोग हैं मगर इनमें इंसानियत नहीं है। मनुष्यता करनटों में है, गरीबों में है, विवश व लाचारों में है। मनुष्यता व अमानवीयता का यह द्वन्द्व 'कब तक पुकारुं' को क्लासिक रचना बनाता है।"[50] लेखक उपन्यास में इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का चित्रण ही नहीं करता वह स्वयं कहता भी है "ये कमीने, नीच ही आज इंसान हैं। इनके अतिरिक्त सबमें पाप घुस गया है क्योंकि उनके स्वार्थ और अहंकारों ने उनकी आत्मा को दास बना लिया है।"[51]

शोषित पात्र मानवीय है। सुखराम रूस्तम खां द्वारा शोषित होने के बावजूद उसका इलाज करता है। वह और कजरी लारेंस को पीटते हैं फिर भी उस पर दया दिखाते हैं, वे मिसी बाबा की इज्जत बचाते हैं जबकि उसका पिता भारतीयों को हीन मानता है, वे उसी की इज्जत बचाने के लिए मिसी बाबा को कहीं और ले जाते हैं। ठाकुर की सेवा करने के बावजूद नटों की पूरी बस्ती को मारा पीटा जाता है। जबकि शोषक पात्र अमानवीय चित्रित किये गए हैं। वे आर्थिक शोषण करते हैं, बलात्कार करते हैं, सामाजिक शोषण करते हैं इनकी स्त्रियों को उठाकर ले जाते हैं, बुद्धा, पंगा, हीरा आदि के साथ चमारवाड़े की सामूहिक पिटाई की जाती है उनके मिर्च भर दी जाती है। नटों को पकड़कर गुड़ का पानी छींट देते हैं जिससे चींटे

लग जाते हैं और उनकी देह सूज जाती है, वे कील लगे जूतों से पीटे जाते हैं। अमानवीयता का एक उदाहरण रूस्तम खां भी है जो जब तक इलाज नहीं होता सुखराम की चापलूसी करता है और इलाज होते ही उसके साथ ही घात करना चाहता है उसकी शह पर बांके गांव में चोरी कराता है, जुआ खेलता है, लड़कियां उठवाता है, बलात्कार करता है और चमारों की हाट में लूट मचाता है। इस प्रकार मानवीयता और अमानवीयता का द्वन्द्व चित्रित किया है जो शोषित और शोषकों के द्वन्द्व के रूप में सामने आता है।

'कब तक पुकारुं' के स्त्री पात्र भी लेखक की विचारधारा के पोषक प्रतीत होते हैं। कजरी, प्यारी, धूपो चमारिन, चंदा व नरेश की मां, बेला, सोनो आदि स्त्री पात्र हैं। ये जातीय संस्कारों से युक्त वर्गीय पात्र हैं। ये पात्र वर्ग चेतना युक्त है। नट स्त्री की संपूर्ण बेबसी और व्यथा का चित्रण करता है प्यारी का चरित्र। जहां उसका आर्थिक शोषण होता है निरोती ब्राह्मण, ठाकुर आदि उससे 'काम निकालकर' पैसा नहीं देते, जहां वह दरबार साहब के देह संबंध बनाने हेतु विवश की जाती है, जहां दरोगा का उस पर मन आ जाता है तो उसे जाना पड़ता है जहां उसे रूस्तम खां की रखैल बनना पड़ता है। वह बीमारी से पीड़ित होती है तो रूस्तम उसे छोड़कर कजरी को रखैल बनाना चाहता है। वह स्वयं कहती है – "मुझे उठा ले। अपने पास बुला ले। दुख देकर मुझे जिला जिला कर न मार। मेरा पाप क्या है? पराए मर्दों के साथ सोई हूं तो तूने मेरी जात ऐसी बनाई ही क्यों जिसे कोई हक नहीं। तूने मुझे औरत बनाया ही क्यों।"[52]

जहां एक तरफ वह शोषण से व्यथित है वहीं उसका चरित्र मानवतावादी भी चित्रित किया गया है। वह कजरी को सौत रूप में इसीलिए सहन करती है क्योंकि उसने सुखराम को वह दिया जो वह स्वयं न दे सकी। वह रखैल बनना इस कारण भी स्वीकार करती है ताकि सुखराम को शोषण से बचा सके ताकि वह उसे जूठन एकत्र करने की स्थिति से बचा सके। प्यारी का चरित्र भी द्वन्द्व परक है वह जहां स्वयं दूसरों से संबंध बनाती है पर नहीं चाहती कि सुखराम किसी और से संबंध बनाए। इसी प्रकार वह रखैल बनती है और सुखराम को फिर भी चाहती है। वह देह के संबंधों और मन के संबंधों में भेद करती है।

स्त्री पात्रों में कजरी अपने वर्ग की प्रतिनिधि बनकर आती है। वह अपने वर्ग की पीड़ा से परिचित है। उसे अपनी हीन दशा का ज्ञान है। वह कहती है – "दुनिया में कैसी कैसी चीजें हैं पर हमको नहीं।"[53] वह सुखराम की सहायक सहधर्मिणी, प्रेमिका बनकर आती है वह उच्च मानवीय गुणों से युक्त शोषित वर्ग की पात्र है। जिसका प्रेम मानसिक धरातल पर होता है। चंदा भी 'कब तक पुकारुं' की एक पात्र है जिसके माध्यम से लेखक अपनी इस मान्यता को प्रकट करता है कि

कानून बनने मात्र से सामाजिक व्यवस्था नहीं बदल जाती। चंदा का दोष इतना ही है कि वह नट है। इसी कारण उसे नरेश से नहीं मिलने दिया जाता। नरेश की मां अमानवीय चरित्र का रूप बनकर आती है उसे पीट–पीट कर लहूलुहान कर देती है। धूपो चमारिन की व्यथा को भी लेखक ने वाणी दी है जो ऐसा पात्र है जिसका बलात्कार किया जाता है और जो स्वयं को सामाजिक लोक लाज के कारण समाप्त कर देती है। 'कब तक पुकारुं' के पात्रों की द्वन्द्वात्मकता इस रूप में चित्रित है कि – "डा. राघव इतनी कोमलता व गहराई के साथ नारी पात्रों का भाववगाहन करते हैं कि पात्र जीते जागते प्रतीत होते हैं। नारी को रांगेय राघव विशेष गरिमा व सम्मान देते थे क्योंकि नारी संस्कृति मानवीयता की नींव में होती है। करनटों की लाचार और घृणित जीवन पद्धति की शिकार नारियों की जीवनियों में छिपी ऊंचाईयों का अनुसंधान इस उपन्यास को प्रभावशाली बनाता है।"[54]

इस प्रकार रांगेय राघव की विचारधारा का प्रभाव पात्र योजना पर स्पष्ट देखा जा सकता है। जहां समाज को दो स्पष्ट वर्गों में चित्रित किया गया है। पात्रों को वर्ग चेतना युक्त दिखाया गया है। वर्ग की विषमता और तद्जनित शोषण का चित्रण किया है। शोषक व शोषित वर्ग के पात्रों में द्वन्द्वात्मक जो मानवीय संदर्भ की है का चित्रण किया है अर्थात् शोषकों को अमानवीय और शोषितों को मानवता के उच्च गुणों से परिपूर्ण दिखाया गया है। लेखक के व्यक्तित्व का तथा विचारधारा का प्रत्येक पात्र पर प्रभाव पड़ता है और इसी कारण प्रत्येक पात्र को द्वन्द्वात्मक रूप में चित्रित किया है पात्र मानसिक द्वन्द्व को भी चित्रित करते हैं बंशीधर लिखते हैं – "सुखराम, कजरी, प्यारी जैसी वर्गगत पात्रों के माध्यम से कथाकार ने अपनी जीवनदृष्टि को भी व्यक्त किया है। ये उनके विचारों के वाहक हैं और उसमें भी सुखराम का पात्र तो पूरी तरह कथाकार की मानसिकता का प्रतिनिधि बनकर आया है।"[55]

'कब तक पुकारुं' की पात्र योजना के संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि यद्यपि पात्रों पर लेखक की विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित होता है पर विचारधारा उन पर हावी नहीं हो पाती। पात्रों के स्वाभाविक विकास में विचारधारा बाधक नहीं बनती। सुखराम, कजरी, प्यारी आदि सभी का चरित्र इसका प्रमाण है। मार्क्सवाद वर्ग संघर्ष और विद्रोह की अभिव्यक्ति द्वारा परिवर्तन की आकांक्षा करने वाली विचारधारा है। लेखक मार्क्सवादी है पर वह पात्रों में विद्रोह की अभिव्यक्ति नहीं कराता। वह उनमें संघर्ष नहीं दिखाता। पात्र जीवन यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े जातीय संस्कार युक्त है। सुखराम अंधविश्वास वश स्वंय को ठाकुर मानता है वह नटों की हीन दशा को देखकर ऐसा करता है लेखक अंत में उसका भ्रम तोड़ता है उसे स्वयं को नट मानते दिखाया गया है जो यथार्थवादी दृष्टि का परिणाम है क्योंकि व्यावहारिक जीवन में ऐसा ही होता है। नट, चमार, सभी वर्गचेतना युक्त हैं

सभी जानते हैं कि शोषक कौन है लेकिन वे विद्रोह नहीं करना चाहते। नट ठाकुरों द्वारा पीटे जाते हैं और चमार दरोगा द्वारा परंतु कोई विद्रोह नहीं करता, सुखराम आदि को जूतों से पीटा जाता है पर विद्रोह नहीं करता, चंदा की पिटाई की जाती है, नीलू की पिटाई होती है पर सुखराम चुपचाप देखता रहता है। लेखक पर आरोप भी लगाया जाताहै कि उसने विद्रोह की अभिव्यक्ति नहीं की। इसका कारण शायद यह रहा हो कि लेखक उनकी यथार्थ स्थिति को चित्रित करना चाहता है जो जातीय संस्कारों से युक्त है। सदियों की परंपरा व मान्यता को एक दिन में नहीं मिटाया जा सकता, लेखक चित्रित करता है कि विद्रोह के हल्के–फुल्के स्वर फूट रहे हैं। इसके पीछे मूल कारण यह है कि लेखक दिखाना चाहता है कि इतने शोषण व अत्याचारों के बावजूद भी ये लोग जमींदार आदि शोषकों को माई–बाप ही मानते हैं जो यथार्थ स्थिति है। सुखराम का दूसरे दरोगा से वार्तालाप और इसीला व सौनो आदि का जमींदार से आटा मांगना इसी मान्यता को ही अभिव्यक्त करता है जहां वे अन्न दाता, माई बाप आदि कहकर संबोधित करते हैं।

कजरी–प्यारी आदि भी जातीय संस्कारों से युक्त पात्र हैं जो जीवन यथार्थ की कठोर भूमि पर चित्रित हैं लेखक ने उन्हें किसी तरह की नैतिकता का जामा नहीं पहनाया। लेखक नटों की काम संबंधी मान्यता से भली भांति परिचित है इसी कारण वह पात्रों में देह व मन के विभाजन संबंधी मान्यता का चित्रण करता है इन्हें मानवीय गुणों से युक्त दिखाता है। यहां ये स्वयं तो कई संबंध रखती हैं पर यह नहीं स्वीकारती कि उनका पति कहीं और संबंध स्थापित करे। इसी प्रकार बेला, सौनो, धूपो आदि की हीन सामाजिक स्थिति का लेखक यथार्थपरक चित्रण करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'कब तक पुकारुं' की पात्र योजना पर विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है पर यह विचारधारा उनके चरित्र के स्वाभाविक विकास में बाधक नहीं बनी है। चरित्र जीवन यथार्थ की कठोर भूमि पर जातीय संस्कारों से युक्त चित्रित किए गए हैं।

देशकाल व वातावरण

उपन्यास को सजीव और स्वाभाविक बनाने में वातावरण का विशेष योग होता है। उपन्यासकार जिस स्थान और समय की कथा उपन्यास में प्रस्तुत करता है उस कथा को स्वाभाविकता प्रदान हेतु वातावरण का चित्रण करना होता है। "देशकाल के अंतर्गत सामान्य रूप से किसी भी देश अथवा समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियां, आचार विचार, रहन–सहन, रीतिरिवाज, कुरीतियां तथा प्राकृतिक पीठिका आदि समझी जाती हैं।"[56] अपने समय से जुड़ने वाला साहित्य ही कालजयी होता है।

"उपन्यासकार के लिए परिवेश का विशेष महत्व है। एक प्रकार से वह उसका आधार है। वह न केवल अपनी रचना का सारा कच्चा माल वहां से जुटाता है वरन अनुभव के विभिन्न स्तरों के बीच से अपनी रचना दृष्टि विकसित करता है।"[57] इस प्रकार परिवेश का महत्व यह है कि जहां रचनाकार उससे सामग्री एकत्र करता है, कथा का आधार उसे बनाता है, वहीं स्वाभाविकता और प्रभावाभिव्यंजकता के लिए भी देशकाल व वातावरण की अन्विति आवश्यक है। पात्रों के व्यक्तित्व का परिवेश के संदर्भ में ही अध्ययन किया जा सकता है। क्योंकि जितनी वास्तविक पृष्ठभूमि में पात्रों का चरित्र चित्रण किया जाता है उसमें उतनी ही गहरी विश्वसनीयता होती है। पात्र सामाजिक परिस्थिति की उपज होते हैं इस कारण भी वातावरण का चित्रण महत्वपूर्ण हो जाता है।

वातावरण सृष्टि दो प्रकार की होती है सामाजिक और प्राकृतिक। सामाजिक वातावरण (परिवेश) में सामाजिक पात्रों का, उनके आचार विचार, रहन–सहन, विचारप्रणाली, रीतिरिवाजों का चित्रण किया जाता है। प्राकृतिक वातावरण के अंतर्गत उस अंचल के पशु–पक्षी, नदी, पहाड़, वनस्पति आदि का चित्रण किया जाता है जिनका वहां के मनुष्यों से गहरा नाता होता है तथा अंचल की संस्कृति के निर्माण में योगदान भी होता है। आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में तो इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है क्योंकि "आंचलिक उपन्यास वातावरण प्रधान होता है। इन उपन्यासों में अंचल विशेष की कारीगरी, चित्रकारी, गीत, मुहावरों, वेशभूषा, रीतिरिवाज, रहन–सहन, व्रत, त्यौहार, मान्यताएं, विश्वास, परस्पर संबंध आर्थिक प्रश्न आदि का सम्यक वर्णन किया जाता है। एक प्रकार से समग्र जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न किया जाता है।"[58]

'कब तक पुकारुं' के सामाजिक वातावरण के चित्रण के अंतर्गत वैर ग्राम की सामाजिक संरचना, वहां के लोगों के रीतिरिवाज, मान्यता, विश्वास, आचार–विचार आदि की अभिव्यक्ति की गई है। यहां की सामाजिक संरचना वहां की बस्तियों के संदर्भ में देखी जा सकती है। चमारवाड़ा, मेहतर बस्ती व नटों की बस्ती गांव से दूर स्थित होती है। चमार व हरिजन फिर भी ग्राम के समीप हैं लेकिन नटों को तो जंगल में शरण लेनी पड़ती है। इसके माध्यम से अर्थात् बस्तियों के चित्रण के माध्यम से उनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति का भी परिचय होता है। "जब हम जंगल में पहुंचे तो सामने धुआं उठता दिखाई दिया.. छोटे–छोटे घर थे और अब सांझ उस जंगल में बस्ती को चारों ओर से घिराव डालकर दबाए ले रही थी। शायद ही दस घर हो।.... सामने बड़ा सा कुआं था।... एक बच्ची लगभग तेरह चौदह वर्ष की वहां पानी खींच रही थी।"[59]

चमारों की बस्ती का चित्रण भी किया है लेखक ने। "चमारवाड़ा गांव के बाहर हिस्से में था। इसके बाद भंगियों के सूहर डोलते दिखाई देते हैं। वहां भंगियों की बस्ती थी। चमार ढेढ कहलाते थे, पर भंगियों से उतनी ही नफरत करते थे जितनी ऊंची जात वाले चमारों से।.. उनके घर छोटे–छोटे थे, घिरावदार थे, छप्पर उनके घरों के काले पड़ गए थे और देखकर ही अंदाजा होता था कि यह हिस्सा कितना दरिद्र है। कच्चे दगारों पर मोटे–मोटे पेट के नंगे बच्चे धूलि में खेल रहे थे। चमारियां मोटे कपड़े का रंग उड़ा लहंगा पहनती हैं और माथे पर मोटी फरिया होती।... दीवारों पर सोना–सरवण कुमारों के अतिरिक्त कहीं कहीं गेरु का हाथी बना हुआ था। पीपल के चारों पत्तों का पेड़ भी. चित्रित था। उनके कण्डे चुरा न ले जाए इसलिए उस पर भी चित्र बना दिए गए थे।"[60] इस प्रकार चमारों व नटों की बस्तियों, उनकी वेशभूषा आदि से उनकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व धार्मिक स्थिति व मान्यताओं का ज्ञान होता है।

चंदन मेहतर की पांच बीवियां हैं। उनकी स्थिति का लेखक चित्रण करता है। नट मेहतरों से छुआछूत करते हैं और चमार नटों से इसका भी लेखक चित्रण करता है। ग्राम के सामाजिक परिवेश के अंतर्गत वहां की तथाकथित उच्च व निम्न जातियों, उनकी बस्तियों, उनकी मान्यताओं, विचारों, आस्थाओं के साथ उनके पारस्परिक संबंधों का चित्रण वातावरण को सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। कंजर, नट, मेहतर, चमार आदि की शराबखोरी की आदतें, उनकी स्त्रियों की दशा (उनके स्वयं के समाज और अन्य समाजों में), नटों द्वारा अपनाए गए धंधे सभी का चित्रण करता है लेखक। इन सभी के माध्यम से परिवेश को उजागर करता है वहां के सामाजिक वातावरण की सृष्टि करता है।

परिवेश के अंतर्गत ही लेखक उनकी सांस्कृतिक स्थिति व लोकमतों का भी चित्रण करता है। दीना चमार द्वारा कही गई कथा, नटों में प्रचलित लोककथा, चंदन मेहतर की तांत्रिक साधना, नटों द्वारा जश्न मनाना आदि सभी का चित्रण इस अंचल के सांस्कृतिक परिवेश को प्रकट करता है। चमारों की पंचायत, दीना चमार द्वारा कथा कहना, धूपो का प्रसंग आदि सभी उस गांव के परिवेश को हमारे सामने प्रत्यक्ष करते हैं जहां आज भी मध्यकालीन संस्कार हैं, जहां धूपो की पवित्रता उसकी मृत्यु द्वारा सिद्ध मानी जाती है जहां उसे देवी मान लिया जाता है जहां के नटों व चमारों का शोषण होता है। सारा परिवेश सामने प्रकट होता है।

वातावरण या परिवेश के चित्रण का दूसरा पक्ष प्राकृतिक परिवेश चित्रण होता है। प्राकृतिक वातावरण का चित्रण पात्रों से संबद्ध होना चाहिए – "प्राकृतिक पार्श्व भूमिका का चित्रण अर्थात् केवल भौगोलिक दृष्टि से किया हुआ किसी प्रदेश का नीरस चित्रण नहीं। पहाड़ों, जंगलों, नदियों, रेगिस्तानों आदि का रसहीन निर्जीव

चित्रण आंचलिकता का लक्षण नहीं बन सकता। उस प्राकृतिक या भौगोलिक वातावरण का पात्रों के चरित्र निर्माण में अभिन्न संबंध स्थापित होने से ही आंचलिक वातावरण बन पाता है।"[61] पात्र प्राकृतिक परिवेश में ही क्रियाकलाप करते हैं इसलिए पात्रों का चरित्र निर्माण उसी परिवेश में होता है। अतः प्राकृतिक परिवेश नीरस वर्णन न होकर चरित्रों से संबद्ध होने चाहिए उनका चरित्र विकास में योगदान होना चाहिए।

'कब तक पुकारुं' ग्राम के प्राकृतिक परिवेश का चित्रण करता है जहां जुगाली करती भैंसें, झील, जंगल आदि के साथ ग्राम की नीरवता का चित्रण है। "वहां (गांव में) नीरवता छाई रहती है और दिन में कभी भी गाएं और भैंसें वहां पेड़ों की छाया में बैठकर जुगाली किया करती। सब अपने अपने धंधे में लगे रहते... दूर तक झील झाईं मारती, हवा के थपेड़ों से ऐसी लहर मारती कि जैसे कोई झीनी चादर सरकती चली जा रही हो और वह उठ जाएगी, पर ऐसा नहीं होता।"[62]

इसी प्रकार जंगल का वर्णन करता है, जो नटों की अर्थव्यवस्था ही नहीं उनके सामाजिक जीवन को भी दिशा देता है। पहाड़ का प्राकृतिक वर्णन भी परिवेश को सार्थक करता है। चंदन मेहतर की पूजा के समय का प्राकृतिक वातावरण और धूपो के बलात्कार के बाद का वातावरण प्राचीन आलम्बन शैली पर आधारित है जहां प्रकृति मनुष्य की दशा से प्रभावित होती दिखाई गयी है।

जंगल का तथा वहां के पहाड़ का चित्रण किया है लेखक ने। "वहां जगल सूनी सूनी सी सांस लेता है फिर अपनी झाड़ियों में इतराता है। सूना सा पहाड़ ऊपर तक चला गया है। दूर से नीला दिखाई देता है पास से काला। इनकी शृंखला अरावली तक ऐसे ही चली गई है। इन रास्तों को आदमी कम रूंदता है जानवर अधिक। कभी–कभी पहाड़ी कुण्डों में हिरन पानी पीते हैं और दूसरी ओर चट्टान पर चढ़े बघेर को देखकर कुलांच मारकर भागते हैं। यहां गर्मी में ऊंचाई पर टिटहरी अण्डे देती है और बरसात में इन पत्थरों पर मलमल की तरह काई जम जाती है। जो भादों के बाद फिर सूखने लगती है।... दिन में गुजर और ग्वारिये वहां आते, गाय–भैंस चराते। कहा जाता है कि एक समय इन पहाड़ों पर जोगी अपनी धूनी रमाते थे और अलख जगाते थे।"[63] पहाड़ के परिवेश, मौसमी परिवर्तन के उस पर प्रभाव के साथ–साथ उसकी ऐतिहासिकता का भी चित्रण किया है।

डा. बंशीधर कहते हैं कि – "उपन्यास में परिवेश का अंकन वैसा नहीं हो पाया जैसा कि आंचलिक उपन्यासों में होता है। आंचलिक उपन्यासों में परिवेश व पात्रों का गहरा संबंध होता है वह उन्हें प्रेरित व संचारित करने वाला महत्वपूर्ण उपादान है। 'कब तक पुकारुं' का परिवेश अंकन इस दृष्टि से हमें प्रभावित नहीं करता।"[64]... "कथाकार सामंती समाज की अमानवीय प्रवृत्तियों के चित्रण में इतना

लग गया है कि उसने करनटों के डेरे और उसके भौगोलिक परिवेश का एक भी पूर्ण चित्र देना आवश्यक नहीं समझा।"[65] लेखक ने जंगल में केवल उनके आवास का ही चित्रण नहीं किया है वरन् उन्हें शिकार करते भी दिखाया है, लेखक के साथ सुखराम के जाते समय भी जंगल का वर्णन किया है जो उसकी भयावहता को दर्शाता है। पहाड़ और डांग प्रदेश की दुर्गम चढ़ाई और उस पर बसे जीवन, पेड़–पौधे, पशुओं आदि का चित्रण कर लेखक ने उस परिवेश को प्रत्यक्ष किया है। पात्रों का प्राकृतिक परिवेश से संबंध भी दृष्टिगोचर होता है जंगल तो नटों की आजीविका का आधार है वहीं से सुखराम और इसीला जड़ी बूटी लाते हैं। नटों का चरित्र कष्टों, संघर्ष और इलाज आदि के साथ शिकार की अर्थव्यवस्था आदि के संदर्भ में प्रकट होता है और ये सारी क्रियाएं प्राकृतिक परिवेश के संदर्भ में चित्रित की गई है उन्हें शिकार करते दिखाया गया है, इलाज के लिए जड़ी लाते पहाड़ की दुर्गम चढ़ाई चढ़कर डांग प्रदेश में जाने सभी का चित्रण है। जंगल व पहाड़ वहां की संस्कृति का, चरित्रों का निर्माण करते हैं। प्राकृतिक वर्णन पर जिस कवि व्यक्तित्व के हावी होने का आरोप लगाया जाता है उस संदर्भ में विचारणीय है कि यद्यपि इनका कवि व्यक्तित्व प्राकृतिक वातावरण के चित्रण में आनंद अनुभव करता है पर उससे कथा नीरस नहीं होती।

सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण के साथ देशकाल या युग चेतना का भी अपना महत्व है। लेखक समय से संबद्ध होकर रचना की उपयोगिता बढ़ाता है। ऐतिहासिक परिवेश भी स्वाभाविकता हेतु आवश्यक है। 'कब तक पुकारुं' गुलाम भारत की कथा को आधार बनाकर लिखा गया है और साथ ही कुछ अंश आजाद भारत का भी है। लेखक बताता है कि इसमें 1949 तक की कथा को आधार बनाया गया है। उपन्यास में चार पीढ़ियों की कथा को आधार बनाया गया है। आजादी के पूर्व के भारत की स्थिति का चित्रण पात्रों के माध्यम से किया गया है। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत अंग्रेजों की भारतीयों के प्रति नीति सूसन के पिता के चरित्र द्वारा प्रकट की जाती है जहां वह भारतीयों से घृणा करता है। अंग्रेज सरकार का सम्मान और उसके अर्दली बन जाने से सुखराम की गांव में इज्जत उस समय की मानसिक स्थिति की परिचायक है। अंग्रेज सरकार का डर भी यहां चित्रित किया गया है। डाकू जानता है कि अगर सूसन को छोड़ दूंगा तो मुझे अंग्रेज मार डालेंगे इसी प्रकार सुखराम आदि भी डरते हैं कि कहीं उन्हें जेल में बंद न कर दे।

1871 का अपराधी जनजाति अधिनियम और उसके प्रभावों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष चित्रण किया है लेखक ने। अपराधी जनजाति अधिनियम के अंतर्गत नटों को भी शामिल किया गया था और उसी का परिणाम था कि इनको जब चाहे पुलिस वाले पकड़कर जेल में बंद कर देते थे इसके लिए आरोप सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती थी। पुलिस से डरने और पुलिस द्वारा इन पर अत्याचार करने

का मूल कारण यही था सुखराम का हाजिरी का प्रसंग (चाहे जान बूझकर ही क्यों न करना चाहे) और चोरी का इल्जाम लगाकर जेल में बंद करने के पीछे आधार अपराधी जनजाति अधिनियम ही था जिसे लेखक की नजर ने उपेक्षित नहीं किया।

लेखक आजाद भारत की भी तस्वीर प्रस्तुत करता है जहां चंदा को पीटा जाता है केवल इसी कारण कि वह नट है और उसने ठाकुर नरेश से प्रेम किया। लेखक बताता है कि आजादी के बाद भी स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ है। लेकिन पुलिस के अत्याचार में आई कमी को वह चित्रित करता है। वह चंदा के कौमार्य की अब तक रक्षा इसी के कारण मानता है। "जब प्यारी व कजरी जवान हुई तो जरायमपेशा करके नटों को जब चाहे गिरफ्तार कर लिया जाता था। अब नए हिंदुस्तान में वैसा नहीं होता तभी तो यह पुलिस से उसके कौमार्य की रक्षा कर सका है।"[66]

इस प्रकार भारत की परिवर्तित राजनीतिक व प्रशासनिक स्थिति का चित्रण किया है। सामाजिक स्थिति में कोई अंतर नहीं आया है लेखक चंदा व नरेश के प्रसंग द्वारा इसका भी चित्रण करता है। इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' अपने समय व समाज की कथा कहता है वह अपने देशकाल से जुड़ा है तथा अपने परिवेश को सार्थक करता है।

इस प्रकार लेखक ने सामाजिक परिवेश के अंतर्गत वहां के अंचल की सामाजिक संरचना, विभिन्न समाज़ों की सामाजिक स्थिति व परस्पर संबंधों, उनके रीतिरिवाजों, मान्यताओं, लोकाचारों, व्यवस्थाओं आदि का चित्रण किया है। लेखक ने नटों पर ध्यान केंद्रित अवश्य किया है पर अन्य को भी उपेक्षित नहीं किया। ग्रामीण परिवेश की नीरवता, जुगाली करती गायें, भैंसें, झील, पहाड़, नदी, चमारवाड़ा, नट बस्ती, आदि के साथ जंगल का भी चित्रण किया है। यह प्राकृतिक परिवेश पात्रों की विशिष्ट संस्कृति को निर्मित करने में महत्वपूर्ण योगदान करता है, इनकी अर्थव्यवस्था इन्हीं पर निर्भर है और ये परिवेश इनके सांस्कृतिक जीवन का भी निर्धारण करते हैं। 'कब तक पुकारुं' ऐतिहासिक परिवेश से भी संबद्ध है। गुलाम भारत और आजादी के बाद के दो सालों की कथा को देशकाल संबद्ध चित्रित किया है और यह सारा चित्रण यथार्थपरक है क्योंकि लेखक का जांचा परखा अंचल है, घटनाएं कल्पित नहीं हैं, पात्र परिचित है।

भाषा

शिल्प में भाषा का विशेष महत्व होता है। आंचलिक उपन्यासों में भाषा की महत्ता और भी बढ़ जाती है। किसी भी अंचल के वातावरण चित्रण के लिए लोकगीत, लोककथा, लोकमत के साथ लोकभाषा का चित्रण भी आवश्यक होता है।

पात्रों के कथोपकथन में क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग वातावरण को और भी अधिक स्वाभाविक तथा प्रभावी बना देता है।

"आंचलिक उपन्यासों की भाषा के संदर्भ में हिंदी साहित्य में तीन कोटियां हैं। एक छोर पर है 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास के लेखक देवेंद्र सत्यार्थी तथा दूसरे छोर पर हैं रेणु तथा शैलेश मटियानी तथा इनके बीच हैं शिवपूजन सहाय, रामदरश मिश्र, अभिमन्यु अनत।... ब्रह्मपुत्र उपन्यास की भाषा से आंचलिकता का कोई पोषण नहीं होता कुछ व्यक्तिगत संज्ञा पदों को छोड़कर कहीं भी इस भाषा की जड़ उस धरती में नहीं है जहां की यह गाथा है।... रेणु की भाषा ने अपनी अतिवादिता की ओर आलोचकों का ध्यान खींचा है।"[67] इस प्रकार भाषा के संदर्भ में विचारणीय यह है कि एक तरफ भाषा की अतिवादिता है अर्थात् रचना में उस भाषा का अतिशय प्रयोग है दूसरी तरफ उस क्षेत्र की भाषा का कोई चित्रण नहीं है। दोनों दृष्टिकोण ही अनुचित हैं। विचारणीय सवाल यह है कि भाषा का प्रयोग क्यों किया जाता है? इन उपन्यासों में ऐसी भाषा के प्रयोग के कारण हैं कि प्रथमतः तो स्थान विशेष के वातावरण को चित्रित किया जाता है और स्वाभाविकता हेतु इसकी आवश्यकता है और दूसरे वहां का जीवन सहजता व जीवंतता के साथ प्रकट हो सकता है अन्यथा प्रभावी चित्रण संभव नहीं है।

भाषा के संदर्भ में दोनों अतिवादी दृष्टिकोण उचित नहीं है जहां भाषा के अतिशय प्रयोग से वह उपन्यास स्थानीय बोली का साहित्य ही बनकर रह जाएगा, स्टैण्डर्ड भाषा का नहीं हो पाएगा वहीं भाषा के न्यूनतम प्रयोग से स्थानीय रंगत नहीं आ पाएगी। लेखक अपनी रचना पाठक समुदाय के लिए करता है और आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में पाठक अधिकांशतः अंचलेत्तर ही होते हैं क्योंकि लक्ष्य होता है अंचल का परिचय कराना और परिचय दूसरों को कराया जाता है। इस परिचय को कराने के लिए उसे अंचल की धड़कनों को साहित्यिक भाषा में रचा बसा कर ही प्रस्तुत करना होता है। इसी तरह लोकोक्तियों, मुहावरों, कुछ खास शब्दों आदि का अगर स्थानीय भाषा से भिन्न प्रयोग किया जाए तो वे अपना स्पष्ट प्रभाव नहीं छोड़ पाते वे अपनी स्थानीय रंगत के साथ प्रस्तुत किए जाने पर ही प्रभावी हो सकते हैं। अतः आवश्यक है कि भाषा के संदर्भ में मध्यवर्ती दृष्टिकोण अपनाया जाए जहां मुहावरों, लोकोक्तियों तथा कुछ खास बातों का स्थानीय भाषा के चित्रण किया जाए पर उसकी साहित्यिकता बरकरार रखने हेतु साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया जाए। इस संदर्भ में थेम्स विलियम्स का उदाहरण सटीक है – "आंचलिक बोली की तुलना लहसुन से कर सकते हैं। थोड़ी मात्रा में इसका प्रयोग कभी–कभी बहुत अच्छा होता है किंतु अधिक मात्रा में इसका प्रयोग असह्य हो जाता है।"[68] इस प्रकार भाषा के संदर्भ में संतुलित दृष्टिकोण होना चाहिए।

'कब तक पुकारुं' की भाषा बहुत से आलोचकों के अनुसार आंचलिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। डॉ. बंशीधर – "कब तक पुकारुं' का कथाकार यहां भाषिक प्रयोग के प्रति उतना सजग नहीं लगता जितना एक आंचलिक कथाकार होता है। इस दृष्टि से वह कतिपय स्थानीय शब्दों के प्रयोग व उच्चारण तक ही सीमित रह गया है।"[69]

'कब तक पुकारुं' भरतपुर के वैर ग्राम की कथा कहता है। जहां राजस्थानी व ब्रज दोनों का प्रभाव है कहना यह चाहिए कि हिंदी और ब्रज का मिश्रित रूप है, यह भाषा राजस्थानी की बजाय ब्रज के ज्यादा निकट है। इसी संदर्भ में विचारणीय है कि लेखक ने इस अंचल की भाषा प्रयोग में क्या दृष्टिकोण अपनाया है? 'कब तक पुकारुं' का लेखक संतुलित दृष्टिकोण अपनाता है वह केवल स्थानीय भाषा में ही चित्रण नहीं करता और न स्थानीय पुट को छोड़ता है। जो विद्वान यह कहते हैं कि इन्होंने भाषिक प्रयोग में केवल उच्चारण बदल दिए हैं और कुछ नहीं किया उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि इस प्रदेश की भाषा हिंदी से कितनी भिन्न है?

'कब तक पुकारुं' में शब्दों के स्थानीय प्रयोग मिलते हैं जैसे सुका (शुक्रतारा) जगार (जागरण) दब्बारी (दबेलदारी) हैंकार (अहंकार) पुलस (पुलिस), दुसमन (दुश्मन) मसाल (मशाल) दौज (द्वितीया), सिरफ (सिर्फ), गमार (गंवार), लैन (लेने) फाड़ (पहाड़)। इनके संदर्भ में स्पष्ट होता है कि ये हिंदी से ज्यादा दूर नहीं है जो उस प्रदेश की भाषा की विशेषता है।

'कब तक पुकारुं' में स्थानीय शब्दों के प्रयोग के साथ मुहावरों व लोकोक्तियों का भी स्थानीय प्रयोग ही है क्योंकि "कुछ शब्द और मुहावरे, इस प्रकार वहां के जीवन सत्यों के साथ जुड़े होते हैं कि सत्य विशेष के साथ स्वतः लगे हुए चले जाते हैं। उनका अनुवाद होता है पर अनुवाद भावों, अनुभूति व सत्यों की मूलगंध को वहन करने में असमर्थ होता है।"[70]

'कब तक पुकारुं' में 'चींटी मसल के पहाड़ की तरफ मत देख', 'आंधी हुई जाना', 'हाथी तो क्या घोड़े पर भी नहीं बैठी, गधे से खच्चर पै चढ़कै इतना घमण्ड', 'जुल्म के पांव कच्चे', 'मुझे ही सींग दिखाय मेरी ही गैया', 'बंदर से पीछा छूटा हंसू कि रोऊं', 'रांड रंडापा तो काटे पर रंडुआ काटण तो दे', 'जुओं के डर से क्या लहंगा छोड़ा जाए है', 'चाकर तिरिया चबैना मुंह लागै तो दोस' आदि लोकोक्तियों व मुहावरों का प्रयोग है। इस संदर्भ में लेखक ने स्थानीय भाषा में ही इनका इस्तेमाल किया है।

लोकोक्तियों और मुहावरों का स्थानीय भाषा में प्रयोग होने के बावजूद 'कब तक पुकारुं' में एक कमी है वह यह है कि यहां गीतों का अनुवाद कर दिया गया

है। गीतों का अनुवाद होने से गीत प्रभावी नहीं बन पाए हैं न ही स्थानीय रंगत प्रतीत होती है। गीत मानव मन के भावोद्‌गार होते है। इनका प्रयोग स्थानीय भाषा में होने से है प्रभावी हो सकते हैं।

सुखराम व कजरी गाते हैं – "मुझसे कसम ले ले प्यारी/ अब की शरद पून्यो मैं तुझे दूध से नहलाऊंगा/ और चुल्लू चुल्लू दूध बिखरेगा तो चांदनी फैल जाएगी। ... प्यारी गाती है – आज तक कोई नहीं बता पाया कि आग लकड़ी को पकड़ती है कि लकड़ी आग को पकड़ लेती है।"[71] लेखक ने स्थानीय बोली में भी गीतों की अभिव्यंजना की है वहां वे सहज जान पड़े हैं और अनुदित गीतों से ज्यादा प्रभावी भी – कजरी गाती है – "मैरी मौत के बिछिया बजे आधी रात/ ऐ री आग लगिय मेरे जोबन गात/... मैं तो चढ़ी हूं पहार बलम मोहे हरौ हरौ दिसे सकल संसार।"[72]

सुखराम जश्न में शराब पीकर गाता है – "पनघट आप छिप्यो री संवरिया/ हाय गही मोरी गोरी ये बैंया है नहीं जाऊंगी ऐ मेरी दैया।"[73] इस प्रकार स्थानीय भाषा जिस पर ब्रज का प्रभाव है में लिखे गए गीत प्रभावी हैं अनुदित गीतों में मूल रस में कमी है वे प्रभावी नहीं हैं।

भाषा के संदर्भ में एक प्रतिमान भाषा की पात्रानुकूलता भी होती है। भाषा वक्ता के अनुरूप होने से प्रभावी होती है अन्यथा वक्ता का चरित्र प्रभावी नहीं लगता। पात्र की भाषा ही उसके व्यक्तित्व को उजागर करती है इस कारण उपन्यासों की भाषा के संदर्भ में पात्रानुकूलता पर भी विचार अपेक्षित है। 'कब तक पुकारुं' की भाषा पात्रानुकूल है। सुखराम जो भाषा बोलता है उसके उच्चारण में स्थानीय प्रभाव परिलक्षित होता है जैसे गैल छोड़ों। "सो तो भगवान ने बनाया है। करमफल से जनम मिलता है और अपने आप पुन्न से मनुष्य जनम मिलता है।"[74] सुखराम नट है और नटों की भाषा गाली प्रधान होती है। सुखराम का व्यक्तित्व दोहरी मानसिकता का प्रतीक है इसी कारण वह भिन्न–भिन्न अवसरों पर भाषा भी भिन्न बोलता है। अपनी पत्नियों पर रौब जमाते हुए उसकी भाषा गाली प्रधान हो जाती है – "खेंचकर तेरे पांव पर ला पटकूंगा।"[75] इसी प्रकार "मरजाद रखती है पत नहीं बेची उसने।"[76] इसी प्रकार "सुसरियों ने पीस खाया। मैं तो चक्की के पाटों में आ गया।"[77] वहीं सुखराम जब दरोगा आदि से बात करता है तो उसकी भाषा दारूण हो जाती है। "मालिक तो सरकार आप हैं। मैं तो सुखराम हूं।"[78] इस प्रकार भाषा पात्रानुकूल है। परिस्थिति सापेक्ष परिवर्तनशील चरित्र की भाषा भी वैसी ही है।

कजरी व प्यारी की भाषा में स्थानीय पुट ज्यादा है और इनकी भी भाषा नटनियों की मूल भाषा के समान ही है। दोनों आपस में गाली से बात करती हैं, सुखराम को गाली देती है। प्यारी सुखराम से कहती है – "बेय्यर समझ के मार ले

निगोड़े। पर निपूते तेरी लुगाई हूं, तभी न मारता है।"[79] इसी प्रकार "तू कैसा पास रहेगा? जान पर न खेला जाएगा तुझसे जो मुझसे पूछता है नामरद।"[80] कजरी भी गाली देती है "जा कुछ नहीं किया तूने रण्डी।"[81] वह सुखराम से कहती है – "मुझे चक्कर न देदे यहां से नासपीटे। तेरे हिए में सीरक पहुंच जाएगी।"[82]

प्यारी और कजरी की भाषा में स्थानीय पुट मिलता है। जो न केवल शब्दों के उच्चारण से प्रकट होता है वह स्थानीय शब्दों के प्रयोग द्वारा भी प्रकट होता है। जैसे प्यारी – "प्यार से ले आइयो।"[83] कजरी – "दइया रे फाड़ है के आफत है। .. तेरी सौं मैं इसपे नहीं चढ़ी थी।"[84] इस उच्चारण के संदर्भ में ध्यातव्य है कि – "शब्दों का रूप सामान्यतः लोकोच्चारित होने से उनकी अशुद्धता पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। अशुद्ध शब्दों का प्रयोग स्थानीय रंग के लिए किया जाता है भाषिक प्रवृतियां बताने के लिए नहीं।"[85] इसी कारण उच्चारण की विशिष्टता और स्थानीय रंगत के लिए ही पहाड़ं को फाड़ और सौगंध को सौं, आना को अइयो, खींचकर को खेंचकर लिखा गया है जो उस अंचल की भाषा की उच्चारण शैली को स्पष्ट करता है। रूस्तम खां की भाषा भी पात्रानुकूल ही चित्रित की गई है। वह मुस्लिम है इस कारण ईश्वर के विविध संप्रदाय विशेष में प्रयुक्त नामों का प्रयोग करता दिखाया गया है। – "अल्लाह मेरे गुनाहों को माफ करे। मैंने जो कुछ किया वह सब मेरी नापाक जिंदगी की लंबी फेहरिस्त है।"[86] इसी प्रकार "परवरदिगार तू रहमदिल है। मैंने सब गुनाह किए हैं मैं मानता हूं। कोई ऐसा नहीं है जिसे मैंने अपना नापाक दिल लगाकर नहीं किया हो। फिर भी तेरा हाथ सबको पनाह देता है।"[87] लेखक ने सूसन व लारेंस और उनके पिता की भाषा का भी पात्रानुकूल चित्रण किया है इसी प्रकार पढ़े लिखे समुदाय ठाकुर व नरेश की मां की भाषा भी पात्रानुकूल है। इस प्रकार मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का प्रयोग स्थानीय रंगत के अनुसार ही है। शब्दों को स्थानीय उच्चारण के अनुसार ही वर्णित किया गया है उसकी शुद्धता–अशुद्धता का ध्यान नहीं रखा गया है इसी के साथ ही पात्रानुकूल भाषा है जो नटों के जातीय संस्कारों से युक्त है, लारेंस आदि के अंग्रेजी प्रभाव से युक्त है और इसी प्रकार रूस्तम की भाषा अरबी–फारसी प्रभावित है। भाषा की एक ही कमी है कि लेखक ने गीतों का अनुवाद कर उनके मूल रस को कम किया है पर वह आंशिक ही है। बाकि सर्वत्र स्थानीय भाषा का संतुलित प्रयोग है।

इनकी भाषा रेणु की आग्रहशील भाषा से भिन्न है। इनकी भाषा पाठक समुदाय और पात्रानुकूलता व स्थानीयता को ध्यान में रखकर निर्मित की गई है इसी कारण एक तरफ हिंदी (शुद्ध) है, दूसरी ओर ब्रज प्रभाव है तीसरी ओर अंग्रेजी प्रभाव है चौथी ओर अरबी–फारसी का। इस प्रकार भाषा–प्रयोग का संतुलित दृष्टिकोण अपनाया गया है जिसमें न भाषा की अतिवादिता है न न्यून प्रयोग। मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों और कुछेक गीतों तथा स्थानीय शब्दों का प्रयोग आंचलिकता

का पुट लिए हुए है जिनके उच्चारण की विशिष्टता भी मूल गंध से प्रेरित है पर इतना भी अधिक प्रयोग नहीं है कि पाठक समुदाय के लिए दुर्बोध हो जाए।

उद्देश्य

प्रत्येक रचनाकार की रचना के पीछे कोई न कोई उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य उनकी विचारधारा से प्रभावित होता है। इसी उद्देश्य से प्रभावित उनकी रचनादृष्टि होती है जो रचना का निर्माण करती है और उसे आद्यंत प्रभावित करती है। रांगेय राघव मार्क्सवादी विचारक हैं इनकी दृष्टि प्रगतिशील है। आजादी के बाद निम्नवर्ग की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया आजादी का उनके लिए खास महत्व नहीं था, आजादी से उनका मोहभंग हुआ है, शहरी परिवेश से भी मोह भंग हुआ अतः कथाकारों का ध्यान ग्रामों और अंचलों की तरफ गया। वहां की जनता के व उस अंचल के पिछड़ेपन को कथा का आधार बनाया। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर भारत में कथाकारों ने पिछड़े तथा अपरिचित क्षेत्रों तथा जातियों को कथा का आधार बनाकर साहित्य जगत को उनका परिचय कराना चाहा। इसी दौर में मछुआरों, भील, कोली, गौंड आदि समाजों पर उपन्यास लिखे गए। 'कब तक पुकारुं' इसी दृष्टि का परिणाम था।

रांगेय राघव का 'कब तक पुकारुं' इसी दिशा में एक प्रयास है जो नटों के जीवन को उसकी समग्रता में चित्रित करता है और साहित्य जगत से परिचित कराना चाहता है। यह नटों के जीवन पर हिंदी साहित्य का पहला उपन्यास है इसी उपन्यास में पहली बार इस घुमक्कड़ जाति को कथा का आधार बनाया गया। यह उनकी प्रगतिशील विचारधारा का ही परिणाम था जो शोषितों के चित्रण पर बल देती है और साहित्य के माध्यम से जीवन यथार्थ को प्रकट करना जिसका लक्ष्य है। इसी दृष्टि के परिणामस्वरूप कथानक जाति, लिंग, धर्म, जन्म आदि के बंधन से मुक्त हुए और आमजन को भी कथा का आधार बनाया जाने लगा। कब तक पुरारूं इसी प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है।

लेखक जानते हैं कि नटों पर उन्होंने पहली बार लिखा है। वे साहित्यकारों की संवेदनहीनता पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं – "क्यों नहीं इन अभिशप्त आत्माओं के विषय में किसी ने आज तक अपनी वेदना उड़ेल दी।"[83] इस प्रश्न को साहित्य जगत में विचार के लिए छोड़कर वे स्वयं नटों, गाडिया लोहारों को कथा का आधार बनाते हैं और उनका जीवन चित्रित करते हैं।

इन कथानायकों की विशिष्टता को उजागर करते हैं जो तथाकथित सभ्य समाज से भिन्न ही नहीं है उसके आश्चर्य का कारण भी है। इस चित्रण के पीछे लेखक का उद्देश्य उनकी शोषित स्थिति को चित्रित करना है, उनके जीवन को

यथार्थ रूप में चित्रित करना है। "उन लोगों की नैतिकता को सोचकर मैं घबरा नहीं रहा हूं, पर मेरे आलोचकों को जरूर हैरानी हो जाएगी। पर उन्होंने जिंदगी को नहीं देखा। वे अपनी दृढ़ धारणाएं लगाए बैठे हैं। हर तरफ मुझे मकड़ी का सा जाला तना हुआ दिखाई दे रहा है। सबके बीच में अहंकार का मकड़ा बैठा हुआ ताना बाना बुन रहा है।"[89]

लेखक नटों के जीवन को यथार्थरूप में चित्रित करना चाहता है वह जानता है कि इनके पास न जमीन है, न अन्य आर्थिक साधन। इनको सर्दी से बचने हेतु शरीर की गर्मी का प्रयोग करते चित्रित का लेखक इनके साधनों की अपर्याप्तता का चित्रण करता है जो तथाकथित सभ्य समाज की नैतिकता की सीमा का अतिक्रमण है और शायद इसी कारण उस समाज के चितेरे लेखकों के लिए घृणास्पद नहीं तो हंसी का सबब अवश्य होगा लेखक इस को ध्यान में रखकर कहता है –'पर जिंदगी यही है।' लेखक जिंदगी का भिन्न पक्ष लोगों के सामने प्रस्तुत करना चाहता है। "मानो वे अपने प्रतिद्वंद्वी मार्क्सवादियों से कह रहे हों कि लो देखो मनुष्य ऐसे होते हैं।"[90]

'कब तक पुकारुं' की रचना के पीछे उनका उद्देश्य ग्राम्य जीवन का यथार्थ चित्रण भी है। यही कारण है कि नटों की कथा को आधार बनाते हैं। वे शोषण का विविधपक्षीय चित्रण करते हैं जिसके पीछे उनकी मान्यता है कि – "प्रेमचंद आदर्शवादी भी थे। गांव की बहुत सी असलियतं वो इसी से स्पष्ट नहीं लिख सके थे क्योंकि उस समय समस्या राष्ट्रीय आंदोलन को बल देने की थी किंतु अब युग प्रेमचंद से आगे है और शोषण का आर्थिक पहलू देखना ही काफी नहीं है।"[91] इस प्रकार अपनी इसी मान्यता से प्रभावित होकर वे ग्राम्य यथार्थ का चित्रण करते हैं वहां शोषक व शोषितों का स्पष्ट चित्रण करते हैं और शोषितों, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन का यथार्थ चित्रण करते हैं। वे इस शोषण के कई कारणों को चित्रित करते हैं और बताते हैं कि शोषण आर्थिक ही नहीं सामाजिक और दैहिक भी है। वे इस उपन्यास के माध्यम से ग्रामीण यथार्थ का चित्रण करते प्रतीत होते हैं।

यह यथार्थ अनुभव की प्रामाणिकता से उद्बुद्ध है। उपन्यास जिस उद्देश्य को लेकर लिखा गया अर्थात् जनजाति के जीवन से परिचय उसमें सफल रहता है। यह अकारण नहीं था कि 'कब तक पुकारुं' के बाद नटों को भी साहित्य का कथानायक मान लिया गया और 'शैलूष' आदि उपन्यास लिखे गए।

लेखक चित्रित करना चाहता है कि ये नट आज भी प्रगति की खोज में भटक रहे हैं। इनका पग–पग पर शोषण किया जाता है, ये अपने जीवन को ही सजा मानते हैं। उनकी मान्यताएं आज भी संकीर्ण हैं। वे विद्रोह का स्वर व्यक्त नहीं कर

पाते। सामाजिक वर्णव्यवस्था की जड़ें उनमें गहरे तक समा गई है जिसके कारण वे इतने शोषण के बावजूद जमींदारों को माई बाप ही मानते हैं, दरोगाओं को मालिक ही मानते हैं। "जमींदार हमारा बाप होता है हम उसकी रियाया।"[92] इसी प्रकार शोषण के विविध पहलुओं का भी चित्रण करना लेखक का उद्देश्य रहा है जिसमें वह सफल रहा है। वह केवल शोषण का पहलू ही नहीं दिखाता वरन् ध्यान दिलाता है कि शोषण के पीछे मूल दृष्टि क्या है? क्या कारण है कि ये विद्रोह नहीं करते? कौन सी चीज है जो इनको समझौतावादी बनाती है? वह कौन सी चीज है जो इन्हें शोषण को स्वीकार कर जीने को मजबूर करती है? निश्चित ही वह केवल आर्थिक परिस्थिति नहीं है, उसके मूल में है धार्मिक व सामाजिक परिस्थिति, उसके मूल में है वर्णव्यवस्था जो इन्हें निम्नतम सोपान पर रखती है तथा इनका शोषण करना जन्मसिद्ध अधिकार समझती है। इस शोषण के पीछे है राजनीतिक परिस्थिति क्योंकि राजनीतिक प्रभुत्व के बिना भी इनका शोषण होता है। सदियों से शोषण की पीड़ा से व्यथित होकर जीवन जीने को विवश हैं 'कब तक पुकारुं' इसी यथार्थ का चित्रण करता है।

'कब तक पुकारुं' के माध्यम से लेखक दिखाना चाहता है कि जातीय अहं का भाव लेकर अगर कोई सुखराम की तरह व्यवस्था परिवर्तन की बात करता है तो उसकी स्थिति क्या होती है? सुखराम का पिता यही इच्छा मन में लिए मर जाता है कि हम वापस ठाकुर बनेंगे और सुखराम भी जीवन यथार्थ के धरातल पर अंत में अपने को नट मान लेता है। लेखक इसके माध्यम से जातिगत वेदना को चित्रित करता है। नट होना बुरा नहीं है लेकिन ये स्वयं को बुरा मान लेते हैं क्योंकि सामाजिक वर्णव्यवस्था इनके मनोमस्तिष्क में घर कर गई है। इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' शोषण की इस व्यथा कथा और इनके जातीय संस्कारों को प्रगतिशील विचारधारा के अनुसार यथार्थवादी दृष्टिकोण से चित्रित करता है। 'कब तक पुकारुं' के माध्यम से रचनाकार शोषितों की मानवीयता और शोषकों की अमानवीयता प्रकट करना चाहता है। इनके शोषण व अमानवीय कृत्यों का चित्रण करता है और साथ ही शोषितों की इस हीन स्थिति के कारण की खोज करता है। वह बताता है "जब तक ये शिक्षित नहीं होते तब तक अत्याचार होता ही रहेगा और जब तक ये शिक्षित नहीं होते तब तक इनके अज्ञान, फूट और घृणा पर संसार में जघन्यता का केंद्र बना रहेगा, तब तक इनके पुत्र धरती पर मिट्टी में पैदा होते रहेंगे और कुत्तों की मौत मरते रहेंगे। .... जिस दिन ये जान जाएंगे कि मनुष्यत्व क्या है उस दिन नया मनुष्य उठ खड़ा होगा।"[93] लेखक इसके स्वर्णिम भविष्य की कामना करता है वह कहता है – "तुम देखते रहोगे और यह सब बदल जाएगा.. आगे चलकर यह सब (जातिभेद) मिट जाएगा।"[94] इसके माध्यम से वह नए समाज की रचना की अपनी दृष्टि प्रकट करता है। लेखक समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज की भूमिका पर विचार करता है – "मनुष्य का मूलभूत सुख क्या है? भूख, प्यास और यौन तृष्णा को

मिटाना। परंतु इन्हीं को सामंती व्यवस्था जकड़ती है।"[95] लेखक उस व्यवस्था को बदलना चाहता है। नए समाज की अपनी रचना दृष्टि को प्रकट करता है वह नए समाज में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहता है – "मैं जीवन में अमर प्रेम चाहता हूं क्योंकि मुझे घृणा में टपकती करूणा की बूंदे मिली हैं।"[96] वह इस समाज में प्रेम की प्रतिष्ठा कर युद्ध को अप्रासंगिक साबित करना चाहता है – "लोहे की गोलियां इंसान की जिंदगी को खाए जा रही है। वह जीवन जिसे जन्म देने के लिए माता अनेक कष्ट उठाती है और कठिनाई से पालती पोसती है वह इस तरह नष्ट कर दिया जाता था जैसे वह सब व्यर्थ था। यदि उसी जीवन को सुधारा जाता तो इस पृथ्वी पर जाने कितना ज्ञान होता है।"[97] लेखक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहता है वह मानवतावादी दृष्टि से प्रभावित होकर ऐसे समाज का निर्माण चाहता है जहां युद्ध न हो, जहां शैतान न हों, जहां सभी मनुष्य समान हों, जहां लोग उच्च मानवीय गुणों से ओतप्रोत हों जहां प्रेम का निवास हो। 'कब तक पुकारुं' का उद्देश्य भी यही प्रतीत होता है जिसमें वे नटों के शोषण, उनकी व्यथा को चित्रित करते हैं उनके भविष्य के प्रति आशावान भी हैं वे उन्हीं में मानवता चित्रित करते हैं उन्हें उच्च मानवीय गुणों से युक्त बतातें हैं।

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' स्वातंत्र्योत्तर भारत की साहित्यिक प्रवृति आंचलिकता के तहत अपरिचित क्षेत्र और पिछड़ी जातियों के अपरिचित जीवन को प्रकट करने का माध्यम बनता है। लेखक इसके माध्यम से हमारे समीप ही रहने वाले नटों की स्थिति को सामने लाता है जिन्हें हम हमेशा देखते हैं फिर भी देख नहीं पाते उनकी स्थिति, उनकी व्यथा को। 'कब तक पुकारुं' के माध्यम से लेखक भारत के ग्राम्य जीवन के उस यथार्थ को भी उजागर करता है जो आदर्शवाद के कारण प्रकट नहीं हो पाया। वह नटों के शोषण के विविध पहलुओं का चित्रण करना चाहता है इसी कारण इनकी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक मान्यताओं, स्थिति व व्यवहार का चित्रण करता है। वह अपनी विचार धारा को भी प्रकट करना चाहता है जो समाज और उसकी व्यवस्था में द्वन्द्व का सिद्धांत मानती है, परंतु मूल लक्ष्य नटों के जीवन को, उनके ग्रामीण यथार्थ को और शोषण का विविध पक्षीय चित्रण करना है।

निष्कर्ष

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' की शिल्प संरचना पर विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि वह उपन्यास एक आंचलिक उपन्यास है पर इसकी आंचलिकता 'मैला आंचल' की आंचलिकता से भिन्न है। 'कब तक पुकारुं' की आंचलिकता कथानक, विषयवस्तु, पात्र योजना, भाषा, परिवेश के चित्रण के संदर्भ में प्रकट होती है। इन्हीं संदर्भो में ही 'मैला आंचल' से भिन्नता भी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में आंचलिक

उपन्यासों ने पिछड़े अपरिचित क्षेत्रों व जातियों को कथा का आधार बनाया, 'कब तक पुकारुं' पिछड़ी जाति को आधार बनाता है 'मैला आंचल' अंचल को। विशिष्टता दोनों में ही है जो आंचलिक उपन्यास का लक्षण है। जहां 'मैला आंचल' का अंचल विशिष्ट है उसी प्रकार 'कब तक पुकारुं' के करनट इसी क्षेत्र के हैं और ये विशिष्ट हैं अन्य अंचलों से। कथानक के अंतर्गत अंचल की समस्त कमियों और अच्छाइयों को यथार्थ दृष्टिकोण से प्रकट किया जाता है। 'मैला आंचल' भी ऐसा ही करता है। 'कब तक पुकारुं' इसी यथार्थ दृष्टि से प्रभावित होकर नटों के जीवन को व्यावहारिक रूप से चित्रित करता है आदर्शवाद या नैतिकता से प्रभावित होकर नहीं। पात्र योजना भी आंचलिक उपन्यासों की तरह है क्योंकि बाद के दिनों में केंद्रीय कथा और केंद्रीय पात्रों को आधार बनाकर भी अनेक उपन्यास लिखे गए। जब 'कब तक पुकारुं' लिखा जा रहा था तब आंचलिकता की कला, विषयक्षेत्र, पात्रयोजना आदि पर बहस चल रही थी उसका कोई भी स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया था। यहां पात्रों की भीड़ नहीं है लेकिन फिर भी पात्र अंचल की विशिष्टता को प्रकट करने में सक्षम है। आंचलिक परिवेश के संदर्भ में देखा जाए तो 'कब तक पुकारुं' न केवल सामाजिक वरन् प्राकृतिक परिवेश का भी चित्रण करता है इसके साथ ही उस समय की ऐतिहासिक स्थिति का भी चित्रण करते हैं। प्राकृतिक परिवेश में पहाड़, जंगल, नदी, झील आदि का चित्रण किया है जो पात्रों के चरित्र विकास में भी सहायक है क्योंकि इनकी आजीविका व संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा है प्रकृति। सामाजिक वातावरण के अंतर्गत समाज, सामाजिक संरचना, व्यवस्था, स्थिति, रीतिरिवाज, रहन–सहन, मान्यताओं का चित्रण किया। इसी प्रकार ऐतिहासिक स्थिति के अंतर्गत अपराधी जनजाति अधिनियम, ब्रिटिश शासन व आजाद भारत की नीतियों का प्रभाव भी दिखाई देता है। भाषा के संदर्भ में इन्होंने संतुलित दृष्टिकोण अपनाया है यहां 'मैला आंचल' की तरह न तो भाषिक अति है न ही साहित्यिक मानक भाषा के कारण स्थानीय रंग का बिल्कुल अभाव। यहां 'मैला आंचल' की तरह लोकमतों, भाषा, गीतों का आग्रहशील दृष्टिकोण नहीं है। हां गीतों का अनुवाद कर लेखक ने रस प्रतीति में व्यवधान डाला है पर मुहावरों, लोकोक्तियों, कुछ खास शब्दों, उच्चारण की विशिष्टता आदि के द्वारा आंचलिकता या स्थानीय रंगत भी बरकरार रखी है।

'कब तक पुकारुं' लेखक की प्रगतिशील विचारधारा जिसके मूल में मार्क्सवाद है का परिणाम है और उसका प्रभाव भी इस पर परिलक्षित होता है जो कथानक, पात्र योजना, उद्देश्य आदि के संदर्भ में प्रकट होता है। विषयवस्तु के अंतर्गत निम्न, शोषित पात्रों को कथा का आधार बनाना, कथानक में शोषक–शोषितों के आधार पर विभाजन, वर्ग चेतना, वर्गवैषम्य आदि का चित्रण करना व मुक्ति की कामना इसी विचारधारा का प्रभावहै। पात्र योजना में चरित्रों को शोषक व शोषित में बांटना। उनकी द्वन्द्वात्मक स्थिति का चित्रण करना। शोषितों को मानवीय बताना, पात्रों को वर्ग चेतना मुक्त चित्रित करना इसी विचारधारा का प्रभाव है। उद्देश्य के अंतर्गत

नटों की कथा कहना। शोषण के विविध पहलुओं का चित्रण करना। मानवतावादी दृष्टिकोण से भविष्य के प्रति आश्वस्त होना। ग्रामीण यथार्थ को चित्रित करना, उच्च मानवीय गुणों से युक्त, युद्ध ..., ईर्ष्या, जातिभेद आदि से रहित समाज की रचना के लिए आशा करना और उसकी उपस्थिति में बाधक तत्वों की खोज करना ही इसका लक्ष्य रहा है।

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' की शिल्प संरचना विशिष्ट है।

संदर्भ

---

1 साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, पृ.242
2 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास अभियान की दिशा, सच्चिदानंद राय, पृ.446–447
3 हिंदी उपन्यास आधुनिक विचारधाराएं, सुमित्रा त्यागी, पृ.194
4 हिंदी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति, ह. क. कड़वे, पृ.70
5 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. ज्ञानचंद गुप्त व रामदरश मिश्र, पृ.30 (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का लेख)
6 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. रामदरश मिश्र व ज्ञानचंद गुप्त, पृ.31 (सारिका, नवंबर 1961, पृ.91)
7 कब तक पुकारुं, रांगेय राघव, पृ.15
8 वही, पृ.29
9 कब तक पुकारुं, रांगेय राघव, पृ.3–4, संस्करण 1967 (शम्भू सिंह, पृ.64)
10 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. ज्ञानचंद गुप्त व रामदरश मिश्र, पृ.35 (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का लेख)
11 वही, पृ.71 (यशपाल चानना का लेख)
12 रांगेय राघव का रचना संसार – सं. गोविन्द रजनीश, पृ.32
13 वही, पृ.101
14 : हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. रामदरश मिश्र व ज्ञानचंद गुप्त, पृ.68–70
15 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. ज्ञानचंद गुप्त व रामदरश मिश्र, पृ.68–70 (यशपाल चानना का लेख)
16 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास का शिल्प विधान, राधेश्याम कौशिक, पृ.144 (महाकाव्यात्मक उपन्यासों की शिल्पविधि शंकर वसत मुद्गल, पृ.100)
17 हिंदी के आंचलिक उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा, बंषीधर, पृ.134
18 रांगेय राघव का रचना संसार, गोविन्द रजनीश, पृ.105
19 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. ज्ञानचंद गुप्त व रामदरश मिश्र, पृ.78 (यशपाल चानना का लेख)
20 रांगेय राघव : मधुरेश, पृ.54
21 रांगेय राघव : मधुरेश, पृ.54
22 अनभै साचा, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, पृ.49 (उपन्यास का समाजशास्त्र लेख)
23 रांगेय राघव और उनके उपन्यास, लाल साहब सिंह पृ.354 (महाकाव्य विवेचन – रांगेय राघव, पृ.117–118)
24 रांगेय राघव और उनके उपन्यास, लाल साहब सिंह, पृ.364

25 रांगेय राघव और उनके उपन्यास, लाल साहब सिंह, पृ.106–107
26 'कब तक पुकारुं' – भूमिका / 1967 संस्करण (आधुनिक हिंदी उपन्यास – सं. नरेन्द्र मोहन, पृ.17, विश्वम्भर उपाध्याय का लेख)
27 'कब तक पुकारुं' पृ.268 / संस्करण 1999
28 वही
29 वही, 201
30 वही, पृ.201
31 'कब तक पुकारुं', पृ.148
32 वही, पृ.267
33 वही, पृ.159
34 आधुनिक हिंदी उपन्यास, सं. नरेंद्र मोहन, पृ.175 (विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का लेख)
35 'कब तक पुकारुं', पृ.268
36 वही, पृ.446 / 1999 संस्करण
37 हिंदी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति, ह. क. कड़वे, पृ.23
38 हिंदी के आंचलिक उपन्यास : सं. रामदरश मिश्र व ज्ञानचंद गुप्त, पृ.79 (आदर्श सक्सेना का लेख)
39 वही, पृ.79–80
40 वही, पृ.84
41 हिंदी के आंचलिक उपन्यास सिद्धांत और समीक्षा, डा. वशीधर, पृ.143
42 उपन्यास, स्थिति और गति, चंद्रकांत वांदिवडेकर, पृ.122
43 हिंदी के आंचलिक उपन्यास सिद्धांत और समीक्षा, डा. वशीधर, पृ.143
44 'कब तक पुकारुं', पृ.268
45 वही
46 वही
47 वही
48 हिंदी के आंचलिक उपन्यास सिद्धांत और समीक्षा, डा. वशीधर, पृ.136
49 आधुनिक हिंदी उपन्यास : सं. नरेंद्र मोहन, पृ.178
50 आधुनिक हिंदी उपन्यास – सं. नरेन्द्र मोहन, पृ.175, (विश्वम्भर उपाध्याय का लेख)
51 'कब तक पुकारुं', पृ.446
52 'कब तक पुकारुं', पृ.107
53 'कब तक पुकारुं', पृ.210
54 आधुनिक हिंदी उपन्यास – सं. नरेन्द्र मोहन, पृ.176, (विश्वम्भर उपाध्याय का लेख)
55 हिंदी के आंचलिक उपन्यास सिद्धांत और समीक्षा, डा. बशीधर, पृ.143
56 रांगेय राघव और उनके उपन्यास, लाल साहब सिंह, पृ.323
57 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. ज्ञानचंद गुप्त व रामदरश मिश्र, पृ.90 (रामदेव शुक्ल का लेख)
58 रांगेय राघव और उनके उपन्यास, लाल साहब सिंह, पृ.323
59 कब तक पुकारुं, पृ.11
60 वही, पृ.118
61 हिंदी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति, ह. क. कड़वे, पृ.31
62 कब तक पुकारुं, पृ.9
63 कब तक पुकारुं, पृ.257–258
64 हिंदी के आंचलिक उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा, बंषीधर, पृ.143

65 वही, पृ.144
66 कब तक पुकारुं, पृ.428
67 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. ज्ञानचंद गुप्त व रामदरश मिश्र, पृ.100 (सियाराम तिवारी का लेख)
68 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. ज्ञानचंद गुप्त व रामदरश मिश्र, पृ.95 (रामदेव शुक्ल का लेख)
69 हिंदी के आंचलिक उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा, बंषीधर, पृ.146
70 हिंदी के आंचलिक उपन्यास, सं. ज्ञानचंद गुप्त व रामदरश मिश्र, पृ.14 (रामदरश मिश्र का लेख)
71 कब तक पुकारुं, पृ.49–59
72 वही, पृ.83
73 वही, पृ.283
74 वही, पृ.121
75 वही, पृ.66
76 वही, पृ.97
77 वही, पृ.249
78 वही, पृ.270
79 वही, पृ.39
80 वही, पृ.63
81 वही, पृ.135
82 वही, पृ.81
83 वही, पृ.66
84 वही, पृ.79
85 हिंदी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति, ह. क. कड़वे, पृ.48 (सत्यपाल चुघ के विचार)
86 कब तक पुकारुं, पृ.107
87 वही, पृ.108
88 वही, पृ.28
89 वही, पृ.29
90 आधुनिक हिंदी उपन्यास, सं. नरेंद्र मोहन, पृ.172 (विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का लेख)
91 भूमिका – 'कब तक पुकारुं' (आधुनिक हिंदी उपन्यास, सं. नरेंद्र मोहन, पृ.172) (विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का लेख)
92 कब तक पुकारुं, पृ.34
93 वही, पृ.446
94 वही, पृ.354
95 वही, पृ.144
96 वही, पृ.33
97 वही, पृ.248

अध्याय चतुर्थ

'कब तक पुकारुं' और 'शैलूष' – तुलनात्मक अध्ययन

(क) कथानक

(ख) नटों के वर्तमान व भविष्य संबंधी दृष्टिकोण

(ग) चरित्र चित्रण

(घ) आंचलिकता

(ड.) पठनीयता, प्रभावीपन व संवेदनशीलता

कब तक पुकारुं और शैलूष – तुलनात्मक अध्ययन

'कब तक पुकारुं' 1957 में प्रकाशित हुआ और 'शैलूष'[1] 1989 में। 'शैलूष' शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें उन्होंने उत्तर प्रदेश के नटों को कथा का आधार बनाया है। 'कब तक पुकारुं' भरतपुर के नटों को कथा का आधार बनाता है। कमालपुर और रेवतीपुर 'शैलूष' की कथा के केंद्र हैं वहीं 'कब तक पुकारुं' भरतपुर के वैर ग्राम की कथा कहता है। दोनों लेखकों में समानता इस संदर्भ में है कि दोनों जनजातियों के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाकर अपनी रचनाओं का आधार इन्हें बनाते हैं। रांगेय राघव जहां आर्येतर संस्कृति को आधार बनाकर नट, गाड़िया लोहार व गुर्जरों को कथा का आधार बनाते हैं वहीं शिवप्रसाद सिंह सपेरा, मुसहर (पापजीवी) कंजर (आरपार की माला) आदि के साथ नटों (शैलूष) को कथा का आधार बनाते हैं। इस प्रकार घुमक्कड़ जातियों को कथा का आधार बनाकर उनका जीवन चित्रण करने या कहें उन्हें रचना की विषयवस्तु बनाने तक दोनों समान प्रतीत होते हैं परंतु बहुत सी ऐसी भिन्नताएं भी हैं जो इनकी भिन्न रचना शैली व अनुभव को सिद्ध करती हैं।

इस अध्याय में 'कब तक पुकारुं' और 'शैलूष' का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा। तुलना का आधार कथानक के स्वरूप, कथानक के आधार अर्थात् कल्पना या यथार्थ, चरित्र, नटों के संबंध में दृष्टिकोण तथा उपन्यास के प्रभावीपन, पठनीयता, आंचलिकता आदि को बनाया जाएगा।

कथानक का आधारः कल्पना या यथार्थ

वैसे तो प्रत्येक रचना के निर्माण में कल्पना और यथार्थ दोनों का योग रहता है परंतु कभी–कभी लेखक यथार्थ का अतिक्रमण कर देता है फलतः रचना हवाई हो जाती है प्रभावी नहीं बन पाती। यथार्थ का आधार अनुभव की प्रामाणिकता को माना जाता है इसके बिना यथार्थ चित्रंण संभव नहीं है। 'कब तक पुकारुं' और 'शैलूष' दोनों के लेखक इस अनुभव की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए कहते हैं। शिवप्रसाद सिंह – " 'शैलूष' में इस कबीले को मैंने अपने खून की स्याही बनाकर चित्रित किया है। आरोप यह भी था कि जब भी खट्टर का कबीला गांव आता है, मैं सांप, नेवले की लड़ाई, सांपों के नाच, कुश्ती, आल्हा में इस तरह खो जाता हूं कि खाने की सुधबुध नहीं रहती।"[2] 'कब तक पुकारुं' का रचनाकार स्वयं का संबंध नटों से इस रूप में दर्शाता है कि सुखराम ने ही उसका इलाज किया था। गोविंद रजनीश भी लिखते हैं – "आज झील भी वहीं है, अधुराकिला भी वहीं है, करनटों के डेरे भी वहीं हैं और कुछ समय पूर्व तक सुखराम भी जीवित था।"[3] अनुभव की

प्रामाणिकता केवल कह देने से सिद्ध नहीं हो जाती कथानक के यथार्थ के आधार पर अनुभव की प्रामाणिकता प्रमाणित की जा सकती है।

नटों के जीवन चित्रण के संदर्भ में दोनों विद्वानों का दृष्टिकोण कितना यथार्थ है और कितना काल्पनिक यह उनके उपन्यासों के नटों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन के अध्ययन द्वारा समझा जा सकता है, जांचा जा सकता है।

नटों के सामाजिक जीवन के संदर्भ में देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि नट हिंदू समाज की वर्णव्यवस्था में चतुर्थ सोपान पर स्वीकृत किए गए हैं। इनको तथाकथित उच्च जातियां न केवल हिकारत की दृष्टि से देखती हैं वरन् इनको हीन भी माना जाता है। ये स्वयं वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करते हैं इसी कारण अनेक अन्य जातियों से इसी प्रकार का संबंध रखते हैं, हरिजनों आदि को नीच समझते हैं। 'कब तक पुकारुं' नटों की इसी सामाजिक स्थिति का चित्रण करता है जहां सुखराम आदि नट, ब्राह्मण, ठाकुर, चक्खन गुर्जर, बांके आदि के साथ चमारों द्वारा भी हिकारत की दृष्टि से देखे जाते हैं। वे इनके द्वार पर बैठना भी पसंद नहीं करते। धूपो द्वारा सुखराम को भाई बनाने पर चमारिनें हंसी उड़ाती हैं। इतना ही नहीं इस वर्ण व्यवस्था को वे स्वयं स्वीकारते हैं और मेहतरों को हीन मानते हैं इसी कारण चंदन मेहतर का हुक्का सुखराम नहीं पीना चाहता।

'शैलूष' उपन्यास भी इनकी हीन सामाजिक स्थिति का चित्रण करता है पर वहां इसके चित्र आंशिक ही हैं, धुरफेंकन उनसे नफरत करता है और ये मुसलमान नटों से नफरत करते हैं। ननकू कहता है – "मौसी नहीं मिलेगी ऐसी म्लेच्छ लड़की से।... वह लड़की हमारी झोंपड़ी को भरभंड करेगी और उस कमरे में जाएगी जहां मौसी जी के किसुन भगवान रहते हैं कैसे होगा ये सब।"[4] दूसरी तरफ वे मुसलमान नटों से व्यवहार करते हैं, उनसे शादी करते हैं जो आज की नहीं सदियों पुरानी परंपरा बताई जाती है। इसी संदर्भ में – "यह एक अजीब प्रथा है कि कोई भी नट परिवार दूसरे नट परिवार का छुआं नहीं खाता। अगर राजपूत, बनिया, ब्राह्मण, अहीर यहां तक मुसलमान भी बनाए तो खा लेंगे पर बिरादरी के किसी आदमी का छुआ नहीं खाते।"[5] इस परंपरा के संदर्भ में विचारणीय है कि नटों में शादी के उपरांत जो स्त्री आती है वह क्या दूसरी नहीं होती या बिरादरी की अन्य स्त्री नहीं होती। इस प्रकार मुसलमानों से संबंध और इस विचित्र परंपरा दोनों के संदर्भ में यथार्थ पर सवाल उठाए जा सकते हैं लेखक स्वयं भिन्न–भिन्न प्रसंगों में इनकी भिन्न–भिन्न स्थिति दिखाकर विरोधाभास उत्पन्न करता है।

नट समाज हीन सामाजिक स्थिति का परिचायक है और हीन सामाजिक स्थिति के कारण सदियों से शोषण का शिकार रहा है। 'कब तक पुकारुं' इनके

शोषण का यथार्थ चित्रण करता है, जहां इनका शोषण आर्थिक ही नहीं, सामाजिक और दैहिक अर्थात् अनेक पक्षीय होता है। वह तथाकथित उच्च समाज द्वारा और उनके सहायकों द्वारा किए गए शोषण का यथार्थ रूप प्रकट करता है। गुलाम भारत के पुलिस अत्याचारों की मुंह बोलती तस्वीर पेश करता है 'कब तक पुकारुं'। 'शैलूष' का काल अलग है। इसमें प्रथमतः तो शोषण चित्रित नहीं किया गया है और धुरफेंकन द्वारा किया गया कार्य अगर शोषण मान भी लिया जाए तो शोषण का केवल आर्थिक पहलू ही है। इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' जहां इनके शोषण को विविध पक्षीय दिखाकर यथार्थ रूप प्रकट करता है वहीं 'शैलूष' शोषण का एक पक्ष ही दिखाता है।

'कब तक पुकारुं' पराधीन भारत की तस्वीर पेश करता है जहां नटों पर पुलिस अत्याचार करती है वहां पुलिस शोषक के रूप में आई है जबकि 'शैलूष' में पुलिस नटों की सहायक बनकर आई है वहां वह धुरफेंकन आदि से ज्यादा नटों की बातों पर विश्वास करती दिखाई गई है। परताप, सूरजभान आदि पुलिस अफसरों के साथ कलेक्टर भी इनका समर्थक बनकर आता है। वे इनकी रक्षा हेतु करीमन नट को पकड़ ले जाते हैं। जबकि लेखक ने कहने के लिए लल्लू नट से इनको शोषक व अविश्वसनीय कहलाया है पर वास्तविक स्थिति में ऐसा कुछ चित्रित नहीं किया कि इनको शोषक कहा जाए – "हमारे पुरखे कह गए हैं दारोगा जी कि तुम राजा के कारिंदों पर कतई विश्वास मत करना।"[6] ताहिरा कहती है – "हमारी सब्बो मौसी का हुकुम है कि सरकारी अमले से दिल की कोई भी बात मत बताओ क्योंकि वह तोड़ मरोड़ कर तुम्हें फंसा देगा।"[7] जहां कहीं भी पुलिस वाले इन्हें परेशान करना चाहते हैं या करीमन आदि का साथ देते हैं ऊपर का सरकारी महकमा बीच में ही रोक देता है। इस प्रकार पुलिस यहां सहायक बनकर आई है। सब्बो मौसी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली चित्रित किया गया है कि पुलिस वाले उसके कहने मात्र से लोगों को छोड़ देते हैं चाहे वे अपराधी हों या तस्कर। "चाची सब लोग छोड़ दिए गए केवल नौजादिक पाण्डे धानापुर ही हवालात में बंद हैं। परताप सिंह ने तुम्हारे कागज को पढ़ा और उसकी आंखे छलछला आई और बोले जाकर माता जी से कहना कि अब परताप परताप नहीं प्रताप होने पर दर्शन करेगा।"[8] 'कब तक पुकारुं' जिस सामाजिक शोषण का चित्रण करता है वह शैलूष में अप्राप्य है। 'कब तक पुकारुं' में इनका शोषण न केवल तथाकथित उच्च जातियों द्वारा दिखाया गया है वरन् पुलिस द्वारा भी दिखाया गया है जो यथार्थ के निकट हैं। अरूणेश नीरन द्वारा जिस उपेक्षित, तिरस्कृत और नटों के शोषित जीवन को लेखक के अनुभव की प्रामाणिकता का आधार बताया गया है वह 'शैलूष' में अप्राप्य है। शैलूष का आधार कल्पना है क्योंकि आज भी इन्हें बाहरी घुसपैठिया वे बांग्लादेशी करार दिया जाता है, आज भी इनके पास जमीन नहीं है इनकी सामाजिक स्थिति में आज भी सुधार नहीं हुआ है। अरावली प्रदेश के नट इसका प्रमाण हैं। पुलिस द्वारा आज भी इन्हें

खदेड़ा जाता है फिर पुलिस द्वारा इतनी सहायता की यथार्थता पर सवाल उठाए जा सकते हैं।

सामाजिक संस्कार किसी भी जनजाति के सामाजिक जीवन का आधार है। 'कब तक पुकारुं' नटों के विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों का चित्रण करता है। मृत्यु संस्कार में हिंदू प्रभाव और विवाह संस्कार में इनकी विशिष्टता परिलक्षित होती है। हिंदुओं का प्रभाव कपाल क्रिया, 'राम नाम सत है' आदि उच्चारण, बैकुण्ठ गमन आदि द्वारा प्रकट होता है। नाता प्रथा, तलाक, विवाह संस्कार, कन्यामूल्य, भोज आदि का चित्रण इनकी विशिष्टता को चित्रित करता है जो यथार्थपरक है जबकि 'शैलूष' का चित्रण यथार्थ की बजाय आदर्शवादी है। 'शैलूष' में संस्कारों का उस रूप में वर्णन नहीं है जैसा 'कब तक पुकारुं' में है। विवाह संस्कार के संदर्भ में देखा जाए तो सावित्री बताती है – "हम नटों की शादी भी अजब होती है या तो लड़की के परिवार वालों को युद्ध में हराकर उठा लाओ अथवा लड़की के बाप को मुंह मांगी रकम मेहर के रूप में देकर खरीद लो।"[9]

यह स्थिति यथार्थ से दूर है क्योंकि इनमें विवाह हेतु विनिमय प्रथा अवश्य है पर युद्ध द्वारा शादी का संस्कार नहीं होता। इसी प्रकार कन्यामूल्य का चलन है पर वह पंचायत निर्धारित करती है या चली आ रही परंपरानुसार होता है जिसे रीत कहते हैं वह लड़की के बाप द्वारा मुंह मांगी रकम नहीं होती। हिंदू–मुसलमानों की शादी और ताहिरा का विचार भी आदर्शवाद प्रेरित है – "यह सब मुल्ला मौलवी, पण्डित–पुरोहित सब बेकार है। मन का भरम है। तू मेरा हाथ पकड़ मैं तेरा पकडूंगी दोनों बोलेंगे यह रिश्ता जनम जनम का।"[10] इसी प्रकार लल्लू नट कहता है – "मेरे दादा रज्जब की मुराद आज पूरी होगी। न लेन न देन, न धरम, न मजहब बस केवल एक मंत्र जो तुम्हारे दिल में है वह मेरे दिल में, जो मेरे दिल में वो तेरे में, हमेशा हमेशा रोशन रहे।"[11] यह शादी नटों की परंपरा के अनुसार न होकर आदर्शवाद से प्रेरित है। इसी प्रकार सब्बो मौसी भी कहती है – "कैलास से कहो काका कि अब वह सब रस्म रिवाज बंद होगा कि तमाम कबीले के पचासों घरों में लड़के के बाप की ओर से राशन पानी दिया जाएगा। पचास अहरे जलेंगे, सौ हंडिया चढ़ेंगी। मुझे नटों का यह रिवाज खटकता है।... आज से मेहर बंद, आज से फिजूल खर्ची बंद।"[12] इस प्रकार लेखक की सामाजिक दृष्टि आदर्शवादी है, इसी कारण नटों की विवाह पद्धति ही नहीं, ब्राह्मणों के सुधार की बात करता है, अंतर्जातीय विवाह पर बल दिया जाता है।

कुछेक प्रसंगों में शादी की परंपरा का भी ज्ञान होता है जैसे सगाई में डलवा भेजना। पूरी बिरादरी को चावल, दाल, आलू आदि बांट दिए जाते हैं सभी अपने–अपने भोज भात पकाते हैं। सात बार मांग भरवाई जाती है। "फिर उसके बाद

हीरों का नेकलेस पहनाते हैं। महुए का रस एक दूसरे को पिलाते हैं।"[13] इस प्रकार लेखक प्रथमतः तो संस्कारों का चित्रण नहीं करता दूसरे जिन संस्कारों का वर्णन किया है उन पर सुधारवादी दृष्टिकोण हावी है इसी कारण यथार्थ से दूर है।

नारी की स्थिति के संदर्भ में भी दोनों उपन्यासों की तुलना की जा सकती है। 'कब तक पुकारुं' यथार्थवादी दृष्टिकोण पर आधारित है यहां न केवल नारी की अपने समाज में स्थिति चित्रित की गई है वरन् तथाकथित सभ्य समाज में उसकी स्थिति का भी चित्रण किया गया है। नट समाज में जनजातीय समाज की तरह स्त्रियों की स्थिति स्वतंत्र व विशिष्ट होती है। वे परपुरुष संसर्ग, विवाह, तलाक, पुनर्विवाह, आदि मामलों में स्वतंत्र होती है। कजरी सूसन से इसी विशिष्टता का वर्णन करती है। वह बताती है कि बड़ी जातों से भिन्न हमारे यहां स्त्री भी पुनर्विवाह करने तथा तलाक लेने के लिए स्वतंत्र है। यहां सारी उम्र पति का दाब नहीं सहना पड़ता इसी कारण कजरी व प्यारी न केवल पति को गाली देती हैं उसे मारती हैं । यहां जनजातीय समाजों में स्त्री की स्थिति पुरुष के समकक्ष होती है इसी कारण साथ जश्न मनाती हैं, शराब पीती हैं, गाली देती हैं और मारती भी हैं। नाता प्रथा का चित्रण सौनो द्वारा 22 साल के युवक से नाता जोड़ने के संदर्भ में सामने आता है। पति का त्याग कर ही कजरी आती है और सुखराम से पुनर्विवाह करती है इस हेतु वह वधू मूल्य भी वापस देती है। इसी प्रकार आर्थिक कारणों के चलते स्त्रियां देह व्यापार करती हैं। इस देह व्यापार का कारण आर्थिक है और सांस्कृतिक परंपरा इसे बुरा नहीं मानती। तलाक के संदर्भ में पहल कोई भी कर सकता है, इस स्थिति का भी चित्रण किया गया है। इस प्रकार नट स्त्री की सामाजिक स्थिति उसके समाज व तथाकथित उच्च समाज के संदर्भ में चित्रित की गई है। उसको शोषण का शिकार चित्रित किया गया है। उसकी भिन्न व विशिष्ट स्वतंत्र स्थिति का भी चित्रण करता है 'कब तक पुकारुं' जबकि 'शैलूष' में स्थिति 'कब तक पुकारुं' के समान नहीं है, यहां ज्यादातर स्त्री पात्रों का रोल नहीं है। बसावन की पत्नी, रूपा आदि का रोल खास नहीं है। लेखक नट नारी की सामाजिक स्थिति, आर्थिक भागीदारी व स्वतंत्र स्थिति की चर्चा नहीं कर पाया है।

नट सनाज में काम संबंधों में खुलापन पाया जाता है जिसका कारण आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय – "नीच समझी जाने वाली जातियों में संबंधों में अधिक स्वतंत्रता होती है। वहां आधुनिक समाज की तरह सेक्स के आधार पर पवित्रता नहीं मानी जाती।"[14] इसी कारण यहां व्यभिचार अपराध नहीं है पति अपनी स्त्री जो रखैल रहकर आती है उसे स्वीकार कर लेते हैं। इस आधार पर नटों में तलाक नहीं दिया जा सकता। क्रूक लिखते हैं – "नटों में पति सामान्य व्यभिचार के आधार पर स्त्री को तलाक नहीं दे सकता। नए पति को पांच रूपए का दण्ड दिया जाता है।"[15] व्यभिचार अपराध नहीं होने के कारण यहां उसकी

अश्लीलता–श्लीलता या नैतिकता–अनैतिकता का विचार नहीं किया जाता। 'कब तक पुकारुं' नारियों की इसी स्थिति का द्योतक है जहां वे पति की सहधर्मिणी, सहायक बन कर आती हैं, वे पति के लिए देह व्यापार भी करती हैं, रखैल बनने के बावजूद पति द्वारा स्वीकार की जाती हैं। तलाक संबंधी व पुनर्विवाह संबंधी स्वतंत्रता का भी चित्रण मिलता है। ये स्त्री पात्र अपने जातीय संस्कारों से युक्त हैं जो काम संबंधों को बुरा नहीं मानती। सौनो कहती है – 'अरे इसमें बताने की क्या बात है औरत का काम औरत को करना ही पड़ता है। कौन नहीं करती।' इस प्रकार वहां काम संबंध सामान्य बात है।

'शैलूष' जिस आदर्शवादी दृष्टिकोण से काल्पनिक रूप से चित्रित है उसी का परिणाम इसके स्त्री पात्रों पर पड़ता है जहां वे काम संबंधों को बुरा मानती हैं। रूपा से परपुरुष संसर्ग की मजाक करने पर वह घर छोड़कर जाना चाहती है। बसावन रूपा से कहता है तेरी मां चकला चलाया करती थी। वहां रूपा को बसावन कहता है – "मर जाना कबूल था मुझे पर तेरी मां के पाप की कमाई नहीं खाता।"[16] सावित्री कहती है – "इस तरह की जांगर तोड़ कमाई करने पर भी तूने नटों की बुरी आदत को नहीं अपनाया।"[17] पाप की कमाई और बुरी आदत दोनों के आधार पर काम संबंधों संबंधी दृष्टिकोण को समझा जा सकता है जो काल्पनिक है, यथार्थ से दूर है।

वास्तव में यह नटों का जीवन नहीं है बल्कि सावित्री ब्राह्मणी का जीवन है जिससे प्रेरित व सांस्कारित होकर नट इस व्यवस्था को छोड़ देते हैं। एक दो स्थानों पर काम संबंधों की बात की गई है पर वह व्यक्तिगत है। आर्थिक कारण या जातीय संस्कार के रूप में नहीं आया है। रूपा का दृष्टिकोण – "मैं तुम लोगों जैसी नहीं हूं कि कोई सोन पापड़ी दे दे तो उससे लिपट जाऊं। औरत की भी एक हद होती है। तुम लोगों ने मजाक नहीं मुझ पर कलंक लगाया है। मैं ऐसे घर में एक पल नहीं रुक सकती।"[18] यहां काम संबंध तो दूर नट स्त्री की शर्म की भी चर्चा की गई है जो पराए पुरुष से बात करने में शर्म महसूस करती हैं। नौजादिक पाण्डे – "इनमें अभी भी एक झिझक है। वे चाहते हुए भी मनपसंद युवक से बातें करने में लजाती हैं। मर्द के कंधे से कंधा मिलाकर साझीदार की तरह चलने में शर्माती हैं।"[19] नट समाज में स्त्रियों की स्थिति से यह स्थिति दूर है क्योंकि नट और अन्य जनजातियों में स्त्रियां पुरुष की सहभागिनी होती हैं वहां आर्थिक से लेकर सामाजिक सभी मामलों में पुरुष से न किसी मात्रा में कम होती हैं और न पीछे रहती हैं। अतः 'शैलूष' के लेखक का यह चित्रण कल्पना प्रतीत होता है कि नट स्त्रियां शर्माती हैं, पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर नहीं चलती।

लेखक रूपा के मुख से देवल को कहलवाता है – "यह आदिवासियों का कबीला रहा होगा चालीस पचास साल पहले, अब तो यह बिल्कुल भूल गया है अपने पुरखों के रवाजों को, इसीलिए यहां न तो शराब पीकर गठबंधन होते हैं और न रात बीतने पर तलाक।"[20] वास्तव में ये कबीला नटों के संस्कारों से दूर प्रतीत होता है। यह कबीला नट संस्कारों की बजाय सावित्री ब्राह्मणों के संस्कारों से प्रभावित हैं वरना नटों में अपने पुराने संस्कार जीवित हैं यह करीमन नट के कबीले के व्यवहार से स्पष्ट हो जाता है। यहां करीमन की लड़की का अफसर से संबंध, उस कबीले द्वारा अपनाए गए आर्थिक साधन अभी भी उनमें जीवित दिखाए गए हैं।

इस प्रकार नट संस्कृति का सामाजिक जीवन से संबंधित चित्रण यथार्थ से दूर प्रतीत होता है जहां 'कब तक पुकारुं' इनके सामाजिक जीवन, मान्यताओं, सामाजिक संस्कारों, नैतिकता संबंधी मान्यता, नारी की स्थिति सभी का चित्रण आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रभावित न होकर यथार्थ रूप में करता है यहां उन पर कल्पना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह कबीला अपने संस्कारों को भूल चुका है, अपनी आदिवासी संस्कृति को तिरोहित कर चुका है, सावित्री ब्राह्मणी के संस्कार व मान्यताओं को अपना चुका है। इस प्रकार वास्तव में यह नटों का जीवन नहीं है यह सावित्री ब्राह्मणी के विचारों से प्रभावित जीवन है जो कल्पना प्रेरित है।

नटों के आर्थिक जीवन से संबंधित यथार्थ

जहां तक आर्थिक जीवन या अर्थव्यवस्था का सवाल है नटों का व्यवसाय निश्चित नहीं है। यद्यपि ये खेल तमाशे दिखाकर, इलाज आदि द्वारा आजीविका चलाते हैं परंतु साथ ही अनेक अन्य कार्य भी कर लेते हैं। इनकी आर्थिक स्थिति निम्न है। न इनके पास खेत हैं, न ही जमीन, न नौकरी है न आय का अन्य स्थायी साधन। सुबह से शाम तक इनका मुख्य लक्ष्य उदरपूर्ति होता है इसके अतिरिक्त बचत के नाम पर इनके पास कुछ नहीं रहता है लेकिन अपनी इस स्थिति के बावजूद वे शराब पीते हैं, अपनी व्यथा को भुलाने हेतु और साथ ही उनको अपनी स्थिति का ज्ञान भी है कि वे परिवर्तन नहीं कर पाएंगे इसी कारण जितनी जिंदगी जीते हैं खुश रहकर जीना चाहते हें। पीपुल ऑफ इंडिया के अनुसार – "नट वर्तमान में भूमिहीन मजदूर हैं, परंपरागत रूप से व्यावसायिक कलाबाज, नाचनेवाले, गानेवाले हैं। पहले राजाओं के साम्राज्य में उनको अपनी कला द्वारा प्रसन्न करते थे। ... ज्यादातर दूसरों के खेतों में मजदूरी करते हैं, कुछ अभी भी परंपरागत कलाबाजी का कार्य करते हैं। इनकी महिलाओं के एक भाग ने देह व्यापार अपना लिया है।"[21]

नटों की इसी प्रकार की अर्थव्यवस्था या आर्थिक जीवन को 'कब तक पुकारुं' चित्रित करता है। कजरी, प्यारी, सौनो, बेला, रामा की बहू आदि सभी पेट पालने,

जीवन की सुरक्षा आदि के लिए देह व्यापार करती हैं। सौनो भीख मांगती है, खिलौने बनाती है, सुखराम–कजरी मिलकर तमाशा दिखाते हैं, सुखराम, प्यारी, इसीला व सौनो मिलकर करतब दिखाते हैं, सुखराम व इसीला इलाज द्वारा आजीविका चलाते हैं, शहद बेचते हैं, सुखरामनटों का राजा चोरी व सेंधमारी भी करते हैं। इस प्रकार नटों का आर्थिक जीवन यथार्थ रूप में चित्रित किया है जो आर्थिक साधनों की अनिश्चितता और निम्न आर्थिक स्तर को चित्रित करता है।

'शैलूष' में स्थिति भिन्न है, यहां करीमन का कबीला चोरी आदि करता है पर जुड़ावन का नहीं। यहां भी नट भूमिहीन हैं और जमीन को लेकर ही संघर्ष होता है पर यहां उनके व्यवसाय पर दृष्टिपात नहीं किया गया है। लल्लू नट इलाज जानता है पर आर्थिक उपयोग नहीं है फिर यहां के नट डॉक्टर पर ज्यादा विश्वास करते हैं। सब्बो मौसी को कमालपुर के डॉक्टर की दवा दी जाती है। जुड़ावन का इलाज भी डॉक्टर करता है। हां एकाध जगह सूचना के तौर पर जरूर बताया गया है – "गिद्ध, भूचेंगा और दूसरे पंछी जिनसे ये तेल बनाते थे। उसे सब्बो जानती है। गाठिया वालों के टेहुने पर तेल रखा जाए तो तलुए में बूंद झलकती है। ये सब धोखाधड़ी के खम्भे थे। गठिया, कमर दर्द से पीड़ित लोग ऊंचे दामों पर खरीदते थे शिलाजीत, कस्तूरी, मदनमस्त आदि बेचना क्या अपराध था? सब जानते हैं कि ये सब बीमार मर्दों को फंसाने के लिए बोले जाते थे।"[22] ये सब सब्बो मौसी सोचती है जो उनके तीस–चालीस साल पहले के व्यवसाय थे, जिन्हें सब्बो ने छुड़ा दिया, वह सोचती है – "तूने सब रुकवा दिया। नट तो दूर नट छोकरियों के वे काम भी रोक दिए जिन्हें उनकी मांएं, दादियां युग–युग से करती रही हैं यानि हमल गिराने और हमल को बचाने की अचूक दवाएं दोनों होती थी उनके पास। नामर्दी दूर करने की तरह बांझपन मिटाने की दवाएं बेचती थीं ये छोकरियां।"[23] ये नटों की चालीस साल पूर्व की स्थिति की सूचना है। लेखक ने सूचनात्मक तौर पर इनके व्यवसाय का जिक्र किया है पर चित्रण नहीं किया। अमरित कहता है – "हम लोग बहुत गरीब हैं, इसीलिए खेलकूद, रस्सी पर चलना आदि अनेकों करतब दिखाकर रोटी कमाते हैं।"[24] लेखक इनके आर्थिक साधनों की वर्तमान स्थिति की कोई जानकारी नहीं देता।

नटों की आर्थिक स्थिति का चित्रण भी कल्पनाशील है। वह तीस साल पहले की स्थितियों का चित्रण करता है, कल्पनाप्रेरित व विरोधाभास भी प्रकट करता है। इनकी तीस साल पहले की स्थिति जिसमें – "ये गिलहरी, चूहे, उदविलाब, गिरगिट, कांटेदार साही, मेंढक, नेवले सियार यानी सब कुछ खाकर पचा लेते थे। साल में तीन चार महीने तो ऐसे आते थे जब इन्हें उपवास पर उपवास करने पड़ते थे।"[25] इनकी आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि – "जुड़ावन के घर में बाजरे की आधी टुक्की लिट्टी भी नहीं मिलती, मुकुल रोटी के लिए तरसता सो जाता है। आज तीन दिन से बेला ने कुछ नहीं खाया, जुड़ावन रोज निर्जला एकादशी के व्रत कर रहा

है।"[26] ये नट इतने गरीब हैं लेकिन इनके पास बकरियां, सुअर, मुर्गियां व भैंसे हैं, सोने के ताबीज पहनते हैं, शादी के समय कीमती गहनें, हीरे के हार व 1000 रू. मेहर के देते हैं ये सब उनकी हीन आर्थिक स्थिति पर सवाल उठाते हैं।

पात्रों की वेशभूषा, खाद्य पदार्थ आदि से भी आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। 'कब तक पुकारुं' में पोशाक आपसी ईर्ष्या का कारण बनती है। वे जूठन बटोरकर खाना नहीं चाहते उन्हें जब पोशाक और अच्छा खाना मिलता है तो वे प्रसन्न होते दिखाई देते हैं जबकि 'शैलूष' के पात्र 1000 रू. की मेहर और हीरे का नेकलेस देखकर भी किसी प्रकार का आश्चर्य का भाव नहीं दिखाते वे इसे साधारण मानते हैं जो उनकी आर्थिक स्थिति और मनोस्थिति संबंधी विरोधी स्थिति को प्रकट करता है। इनके पास इलेक्ट्रॉनिक टेपरिकॉर्डर है, वे सर्जरी करवाना चाहते हैं। लेखक पाठकों की सहानुभूति पाने के लिए कहता है कि वे गरीब हैं पर उपन्यास में उनकी स्थिति भिन्न है जो यथार्थ से दूर लगती है।

इस प्रकार 'शैलूष' में नटों का आर्थिक जीवन यथार्थ से दूर चित्रित है। यहां स्त्रियां ना देहव्यापार करती हैं, ना हमल का कार्य, यहां पुरुष चोरी आदि करना तो दूर इलाज करना भी छोड़ चुके हैं। ये कार्य ये तीस साल पहले करते थे अब नहीं। वास्तव में मौसी इस कबीले को मूल संस्कृति से दूर करती प्रेरित होती है यह यथार्थ नहीं है क्योंकि पीपुल ऑफ इंडिया के अनुसार आज भी वे गरीब हैं, भिक्षावृत्ति करते हैं, इलाज करते हैं और आज भी इनकी स्त्रियों का एक भाग देहव्यापार करता है।

धार्मिक जीवन से संबंधित यथार्थ:

आर्थिक स्थिति के साथ नटों की अपनी विशिष्ट धार्मिक रीतियां व परंपराएं होती हैं। ज्यादातर नटों पर हिंदुओं का प्रभाव है या कहें हिंदू धर्म को मानते हैं। इनके अपने स्थानीय देवता हिंदू देवताओं के साथ–साथ पूजे जाते हैं।

'कब तक पुकारुं' के नटों पर हिंदू धर्म का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। ये हनुमान, विष्णु, शिव को मानते चित्रित है इसके साथ धर्म के कर्मकाण्डी स्वरूप के अंतर्गत विशिष्ट पूजा पद्धति, जादू, बलि आदि का भी चित्रण मिलता है 'कब तक पुकारुं' नटों की धार्मिक मान्यताओं, शगुन–अपशगुन, पुनर्जन्म, बैकुंठ, कर्मफल आदि का चित्रण करता है। सुखराम चंदन मेहतर से दारोगा पर हांडी छुड़वाता है। सुखराम हनुमान जी को सिंदूर चढ़ाने की बात करता है। उनकी मान्यताओं के संदर्भ में स्वप्न दर्शन और भूतप्रेत संबंधी मान्यताओं को भी लेखक ने समाहित किया है।

अधूरे किले में भूत, बावड़ी में गुर्जरी की आत्मा का बिल्ली बनकर आना, ठकुरानी की आत्मा आदि समस्त मान्यताओं का चित्रण मिलता है। इस प्रकार 'कब

तक पुकारुं' नटों के धार्मिक जीवंन पर हिंदू प्रभाव और उनकी विशिष्ट स्थिति का यथार्थ परिचय देता है। जहां वे अपने स्थानीय लोक देवता को मानते हैं और ईदगाह संबंधी मान्यता रखते हैं।

'शैलूष' उपन्यास हिंदू व मुस्लिम नटों का चित्रण कर उनको दो संप्रदायों में बांट देता है। लेखक स्थानीय देवता और उनके पूर्वजों को देवता के रूप में चित्रित करता है यहां ये दैतराबीर, मानबाबा, नथिया बनजारिन आदि नटों के पूर्वजों को मानते प्रतीत होते हैं। इसके अलावा मरी मसान, गोम्या आदि की पूजा का भी चित्रण मिलता है। इस नथिया बनजारिन, मान गुरु, मखदूम सांई, दैतराबीर आदि को हिंदू व मुस्लिम दोनों नट मानते हैं और उनकी कसम खाते हैं क्योंकि ये इनके पूर्वज हैं जो इस नट समुदाय की उद्‌गम संबंधी एकता का प्रतीक है। सुरसती माता, काली, दुर्गा आदि में विश्वास भी. दर्शाया गया है। लल्लू नट यद्यपि मुस्लिम है पर वह रामचरितमानस को कंठस्थ किए हुए है।

लेखक ने नटों की विशिष्ट पूजा पद्धति का भी चित्रण किया है – "कंडों का अहरा बनाकर लल्लू नट ने उसमें आग डाली। मिट्‌टी की हांडी चढ़ा दी गई। हांडी में दूध और चावल था। हांडी की गरदन पर कनइल की माला थी। संदूर और घी फेंटकर एक दीया में रख दिया। उसी से कबीले के हर परिवार के सरगना का नाम ले लेकर टीका गया।"[27] यह मानबाना की पूजा है इसी प्रकार नथिया बनजारिन की पूजा – "नारियल को लाल कपड़े में लपेट दिया और अहरे से आग लेकर दूसरा हवनकुण्ड बनाया। सब तरह के विधि विधान के साथ नथिया देवी का पूजन होने लगा... जुड़ावन के कबीले की औरतें और छोकरियां जुबेदा और ताहिरा एक साथ स्वर में स्वर मिलाकर गाने लगीं।"[28] मरी मसान की विशिष्ट पूजा, विशिष्ट प्रार्थना और विशिष्ट मंत्र का भी उल्लेख – "जप गुरु मान महावीर हम त्वार ख्वाहो द्‌वातो हैं। तुमने हर विपद माय हमारो रच्छा करी है। आज त्वार सरन में आयो हैं। जुड़ावन के कबीले के सारे पुतौना सरदार और तिरिया और छोकरिया हमार रच्छा करो। महाप्रभु मान गुरु की शरण। ग्रहण करो महावीर या है लवंग और गुड़ की धार, दुशमन को भंग करो महावीर।"[29] इसी के साथ लेखक ने नटों के अंधविश्वासों का भी चित्रण किया है जो सुरजितवा नट के लड़के के बीमार होने पर मरी मसान की पूजा और सुअर की बलि के संदर्भ में सामने आता है।

लेखक ने नटों में प्रचलित दोष सिद्धि परीक्षा का चित्रण किया है। उनकी धार्मिक मान्यताओं, कुल देवताओं, उनकी पूजा पद्धति आदि का चित्रण किया है। इसमें भी लेखक आदर्शवादी व कल्पनाप्रवण है इसी कारण कुछ प्रसंगों में यथार्थ से दूर हो गया है। वहां दोषसिद्धि का चित्रण है पर परीक्षा सावित्री की दिखाई गई है नटों की नहीं। नटों के बदलते समय को चित्रित किया है जिसके पीछे सुधारवादी

दृष्टिकोण है जहां जुड़ावन मरी मसान की पूजा का विरोध करता है वह उसे ठग विद्या कहता है। जबकि उन्हीं के समुदाय का एक हिस्सा इसको मानता हैं इस प्रकार यहां के नटों के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक जीवन में आ रहे परिवर्तन लेखक चित्रित करता है जिसके पीछे सावित्री ब्राह्मणी के विचार हैं, अन्यथा आज भी नट इन्हीं संस्कारों को अपनाते हैं उनकी स्थिति में खास परिवर्तन नहीं आया है।

सावित्री शास्त्रों का उदाहरण देती है, छुआछूत नहीं करती, हिंदू–मुस्लिम को समान मानती है पर उसके संस्कार पूरी तरह ब्राह्मण परंपरा के ही हैं इसी कारण वह मांस–मदिरा आदि का विरोध करती है, नटों को छुड़ा देती है और स्वयं यह विचार रखती है कि "तुलसी की कंठी लेने से लाभ क्या जब मछली, अण्डे आदि खाने वाले परिवार में ही रहना है।"[30] लेखक जहां हिंदू मुसलमानों में एकता व परस्पर संबंध चित्रित करता है। वहां हिंदू नट मुस्लिम को अपवित्र मानते हैं। वे सोचते हैं कि किसून भगवान अपवित्र हो जाएंगे इसके वहां जाने से। इसी प्रकार का दृष्टिकोण मुस्लिम नटों का हिंदू नटों के प्रति है – "ताहिरा आपा आपको शर्म आनी चाहिए कि आपने काफिरों को पुकारा।"[31] इस प्रकार यद्यपि लेखक विशिष्ट पद्धति और लोक देवता (पूर्वज) आदि के संदर्भ में इनकी यथार्थ स्थिति का चित्रण करताहै पर खाद्य संबंधी मामलों में उस पर सावित्री का दृष्टिकोण हावी प्रतीत होता है ये संस्कार सावित्री के हैं जिनके कारण नट मांस मदिरा छोड़ देते हैं और इसी प्रकार हिंदू–मुस्लिम संबंधों के संदर्भ में भी लेखक की स्थिति भ्रम की है, विरोधाभासी है।

राजनीतिक जीवन 'कब तक पुकारुं' व 'शैलूष' दोनों ही आंशिक चित्रित हैं दोनों जगहों पर पंचायत का प्रावधान है पर 'कब तक पुकारुं' में पंचायत के निर्णय अप्रत्यक्ष रूप में सामने आते हैं और वहां जाति पंचायत का जिक्र है जबकि 'शैलूष' की पंचायत ग्राम पंचायत है जहां ब्राह्मण, नट सभी उपस्थित होते हैं। 'शैलूष' में कबीले के मुखिया का चित्रण है करीमन, जुड़ावन, बसावन आदि इसी तरह कबीलों के सरदार हैं। यह यथार्थ स्थिति है क्योंकि इनमें कबीला व्यवस्था पाई जाती है। 'कब तक पुकारुं' कबीले के स्तर पर मुखिया का चित्रण नहीं करता पर जनजातीय राजा (मुखिया) की व्यवस्था का चित्रण अवश्य करताहै। इस प्रकार राजनीतिक रूप से आंशिक चित्रण मिलता है पर यथार्थ है।

इस प्रकार कथानक के स्वरूप और आधार के संदर्भ में स्पष्ट है कि 'कब तक पुकारुं' का आधार यथार्थ है वहां के नटों का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन पीपुल ऑफ इंडिया, राजस्थान की जातियां, ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया और क्रूक के चित्रण के साथ यथार्थ जीवन के अनुसार है। जबकि 'शैलूष' के चित्रण में कल्पना अधिक प्रतीत होती है यथार्थ की जगह।

इस संदर्भ में विचारणीय है कि 'शैलूष' का कबीला वास्तव में नट कबीला नहीं है वह कबीला तीस–चालीस साल पहले नट कबीला था। उसकी आदिवासी मान्यताएं और संस्कार बदल चुके हैं जिनके मूल में सावित्री ब्राह्मणी का सुधारवादी दृष्टिकोण है जिसके तहत उसने इनके आर्थिक व्यवसाय छुड़वा दिए, इनकी शादी व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया, इनके खाद्य को बदल दिया। वह इनको नट नहीं रहने देना चाहती जिसके पीछे उसका दृष्टिकोण नटों को हीन मानना है तभी तो वह सुधार करती है और साथ ही सोचती है कि मुकुल और बकुल को इतना पढ़ाएगी कि वे नटों से नफरत करेंगे उन्हें कोई नट नहीं कह सकेगा।

वास्तव में यह नटों का जीवन नहीं है और न ही इसकी अपनी विशेषता है। अगर नट की बजाय कोई और नाम रख दिया जाए अर्थात कथा पूरी वही रहे केवल नट शब्द को हटाकर कंजर, चमार, सांसी या कोई भी जाति शब्द रख दिया तो भी कोई खास फर्क नहीं पड़ेगा क्योंकि नटों के जीवन की किसी विशिष्टता का यहां चित्रण नहीं है।

कथानक के स्वरूप में संदर्भ में विचारणीय है कि यहां नटों की यथार्थ स्थिति (जिसके अनुसार वे आज भी अपने आर्थिक स्तर में, सामाजिक स्थिति में परिवर्तन नहीं कर पाए उनका जीवन आज भी संघर्षरत है) का चित्रण नहीं है। यहां नटों की संघर्षपूर्ण स्थिति का चित्रण न कर पुलिस कलेक्टर आदि का हर कदम पर सहयोग दिखाया है। कथानक के स्वरूप की कल्पना इस रूप में प्रकट होती है कि जुड़ावन के कबीले के लल्लू को कोई गीत गाकर पहले की घटना की पूर्व सूचना दे देता है, सावित्री को पूर्वाभास हो जाता है वह पहले से ही दुश्मन की क्रियाविधि जो भविष्य में गर्भ में होती है, पहचान लेती है।

इस प्रकार नटों का जीवन चित्रित न कर लेखक ने कल्पना का सहारा लिया है उसने अपनी दृष्टि के अनुसार इनको सभ्यता की मुख्य धारा में लाने के नाम पर सावित्री ब्राह्मणी के संस्कारों से युक्त दिखाया है जहां ये नट न तो विवाह संस्कार परंपरागत ढंग से करते हैं, न ये मांस मदिरा प्रयोग करते हैं, न ये आर्थिक व्यवसाय (परंपरागत) अपनाते हैं। लेखक ने आदर्श स्थिति चित्रित करने और इस कबीले को मिसाल बनाने के दृष्टिकोण से (जिसका वह बार–बार उपन्यास में जिक्र करता है) प्रेरित होकर उपन्यास लिखा है जो यथार्थ से दूर हैं इस प्रकार जहां 'कब तक पुकारुं' का नट कबीला और उनका जीवन यथार्थ है उसके कथानक का आधार यथार्थ है 'शैलूष' के कथानक का आधार कल्पना है, जिसके मूल में आदर्शवादी, सुधारवादी दृष्टि है।

कोई यह भी कह सकता है कि यह नटों का आज का जीवन है 60 के दशक के जीवन से परिवर्तित। लेकिन इसे परिवर्तित जीवन कहकर इनकी यथार्थ

स्थिति को छिपाया नहीं जा सकता जो आज भी शोषित हैं जो आज भी परंपरा निर्वाह करती है। इस प्रकार यह यथार्थ आधारित न होकर कल्पना आधारित चित्रण है।

कब तक पुकारुं और शैलूष : नटों के वर्तमान और भविष्य संबंधी दृष्टिकोण

नटों के वर्तमान और उनके भविष्य के संदर्भ में दोनों लेखकों का दृष्टिकोण भिन्न है। जिसके पीछे उनकी विचारधारा है। 'कब तक पुकारुं' की रचना और नटों के वर्तमान के संदर्भ में लेखक का दृष्टिकोण यथार्थवादी है। लेखक नटों के वर्तमान जीवन के माध्यम से ग्रामीण यथार्थ के अंतर्गत शोषण के विविध पहलुओं की अभिव्यक्ति करता है। लेखक वर्तमान के संदर्भ में यथार्थवादी है इनके भविष्य के संदर्भ में उनका दृष्टिकोण आशावादी है वे मानते हैं कि शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। 'शैलूष' के नटों के वर्तमान के संदर्भ में लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवाद प्रेरित सुधारवादी है वह नटों के यथार्थ जीवन से ज्यादा उन्हें मिसाल बनाना चाहता हे।

'कब तक पुकारुं' के नटों का वर्तमान शोषित है। उनके पास न जमीन है, न खेत है, न व्यवस्थित घर है और न निश्चित व्यवसाय। वे आजीविका और जीवन की सुरक्षा के लिए भटकते व हीन कर्म (तथाकथित सम्य समाज की नजर में) करते प्रतीत होते हैं। लेखक का दृष्टिकोण यथार्थपरक है इसी कारण वह वहां के समाज को दो वर्गों में बांटकर न केवल पात्रों को वर्ग चेतना युक्त करता है, वरन वर्गवैषम्य का भी चित्रण करता है। लेखक केवल वर्ग वैषम्य का चित्रण नहीं करता वह उसके कारणों व साधनों की भी जांच करता है, चित्रण करता है। इस समाज में जहां ब्राह्मण, ठाकुर तथा दारोगा आदि तथाकथित उच्च जाति के लोग नटों का आर्थिक, सामाजिक, दैहिक शोषण करते हैं वहां नटों का व्यथित जीवन पुकार उठता है – "तूने यह संसार ऐसा क्यों बनाया है। जहां आदमी मरता है तो इसके लिए दर्द तक नहीं होता।"[32] यह प्रार्थना ईश्वर से की जाती है क्योंकि उस समाज में उनकी सुनने वाला कोई नहीं है जहां मदद के लिए जाते हैं तो उनकी औरतों से बलात्कार किया जाता है। ये नट वर्तमान से इतने पीड़ित हैं कि ये बंबई, अहमदाबाद जाकर मजदूरी करना चाहते हैं, ये वहां से पलायन करना चाहते हैं कि क्योंकि ये मानते हैं कि व्यवस्था परिवर्तन संभव नहीं है। इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' के रचनाकार का दृष्टिकोण इनके वर्तमान के प्रति यथार्थवादी है।

'शैलूष' उपन्यास का नटों के वर्तमान संबंधी दृष्टिकोण भिन्न है। 'कब तक पुकारुं' में अस्तित्व के लिए संघर्ष चित्रित किया गया है वहीं 'शैलूष' में लड़ाई जमीन की है। 'कब तक पुकारुं' में जीवन यथार्थ की कठोर भूमि से लिए गए पात्र हैं जिनका बहुआयामी शोषण होता है जबकि 'शैलूष' के नटों का शोषण जमीन के

मुद्दे पर ही माना जा सकता है। 'कब तक पुकारुं' के नटों की लड़ाई तथाकथित उच्च जातियों के साथ सरकारी अमले से भी हैं क्योंकि वे भी शोषण में बराबर के हिस्सेदार हैं जबकि 'शैलूष' में धुरफेंकन आर्थिक शोषण करना चाहता है और यहां सरकारी अफसर, दारोगा, कलेक्टर आदि इनके सहायक हैं वे इनकी बातों पर ज्यादा विश्वास करते हैं, वे इनके कहने मात्र से कैदियों को छोड़ देते हैं, वे पहली मुलाकात से पहले ही अभिभूत हो जाते हैं। इस प्रकार आदर्श स्थिति का चित्रण है जो वास्तविकता से काफी दूर है। 'कब तक पुकारुं' जातिगत, आर्थिक व दैहिक शोषण और हीन सामाजिक आर्थिक स्थिति का चित्रण करता है। इनके पास साधनों का अभाव है इसी कारण सर्दी से बचने के लिए देह की गर्मी का उपयोग करते हैं। 'शैलूष' के नटों की स्थिति इससे भिन्न है वे कहने को तो गरीब हैं पर उनके सोने के ताबीज, 1000 रू. मेहर, हीरों का नेकलेस आदि द्वारा उनकी भिन्न आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है।

'शैलूष' और 'कब तक पुकारुं' के लेखकों का दृष्टिकोण भिन्न है और यह भिन्नता इस संदर्भ में भी उजागर होती है जहां 'शैलूष' का रचनाकार तथाकथित सभ्य समाज का नैतिकतावादी दृष्टिकोण लेकर चलता है वहीं 'कब तक पुकारुं' का रचनाकार यथार्थवादी दृष्टिकोण। 'कब तक पुकारुं' का रचनाकार तथाकथित सभ्य समाज के नीति–नियमों के आधार पर इनकी संस्कृति का मूल्यांकन कर इनको हीन या श्रेष्ठ सिद्ध नहीं करता जबकि 'शैलूष' रचनाकार का इनकी संस्कृति को तथाकथित सभ्य समाज के नैतिकता व सभ्यता आदि प्रतिमानों पर आंकता है।

'शैलूष' का रचनाकार इस नट कबीले को आदर्श रूप में प्रस्तुत करता है। वह चाहता है कि यह समाज लोगों के लिए मिसाल बने इसी कारण वह सावित्री ब्राह्मणी के माध्यम से इनको संस्कारित करने का कार्य करता है। वास्तव में उसका तथाकथित सभ्य समाज के प्रतिमानों को आधार मानना ही इसके मूल में है। सावित्री ब्राह्मणी जो कहने को नटी है पर वह अपने ब्राह्मणी संस्कारों व संस्कृति को (जो इन नटों की संस्कृति से भिन्न है) इन पर थोपती है और अपनी उसी संस्कृति के नियमों के आधार पर आंककर इनका शुद्धिकरण करना चाहती है। इसी कारण वह उनकी विवाह परंपरा में परिवर्तन करती है, वह उनके आर्थिक साधनों, देह व्यापार आदि पर अंकुश लगाती है, वह उनके शराब, मांस, अंडा आदि खाने पर रोक लगाती है। इस प्रकार वास्तव में यह लेखक का नैतिकतावादी दृष्टिकोण है जो इन नटों को असंस्कृत या असभ्य मानकर सभ्यता के उच्च जातियों के प्रतिमानों को आधार मानता है। वह नटों को असभ्य समझकर इनकी संस्कृति को सभ्यता के नाम पर विगलित कर देना चाहता है इस मंतव्य को पूरा करती है सावित्री ब्राह्मणी।

संस्कृतिकरण या सभ्यता के नाम पर नटों को अपनी मूल संस्कृति से च्युत करना इसी नैतिकतावादी दृष्टिकोण का परिचायक है। सावित्री मौसी के संस्कार उसे मिसाल बनाने के चक्कर में नट ही नहीं रहने देते। रूपा कहती है – "यह आदिवासियों का कबीला रहा होगा, चालीस–पचास साल पहले। अब तो यह बिल्कुल बदल गया है, अपने पुरखों के रवाजों को। इसीलिए न तो यहां शराब पीकर गठबंधन होते हैं और न ही रात बीतने पर तलाक।"[33] वास्तव में ये अपने संस्कार भूल चुके प्रतीत होते हैं यहां नट सभ्यता की दौड़ में आए प्रतीत होते हैं फलतः उनकी स्थिति एक बार फिर त्रिशंकु सी हो गई है जहां न तो वे 'सभ्य' बन पाए न ही अपनी संस्कृति को जीवित रख पाए प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार नटों के आर्थिक जीवन, उनके सामाजिक संस्कार, उनके खाद्य संबंधी मामलों, उनकी इलाज संबंधी अवधारणा, पूजा पाठ के रूप में धार्मिक जीवन सब पर संस्कारवादी दृष्टि हावी है। इस दृष्टि के पीछे मूल कारण है कि लेखक इनको हीन संस्कृति व असभ्य मानता है इसी कारण [illegible] एक संस्कृति (जो तथाकथित सभ्य समाज की है) के अनुसार इनको भी ढालना चाहता है। यह उसी प्रकार का कृत्य है जैसा कुछ लोग सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर करते हैं। नटों की संस्कृति के प्रति घृणा का भाव जाने–अनजाने सावित्री के विचारों से प्रकट होता है – "मैं सोचती थी इनको भीख मांगने से, बंदरों की तरह उछल कूद दिखाकर पैसे बटोरने की जहालत से छुड़ा पाऊंगी।"[34] इसी प्रकार "मैं सोचती थी कि कुछ जमीन जायदाद हो जाए तुम्हारे पास तो इन दोनों को इतना पढ़ाऊंगी कि ये नटों जैसे नाम से घृणा करेंगे। .. बकुल और मुकुल का नाम सुनकर सोच भी नहीं पाएगा कि ये शैलूष पुत्र हैं।"[35]

इस प्रकार इनके तमाशा करने के कर्म को वह हीन मानती है तथा नटों में अपने नाम से ही घृणा पैदा करवाना चाहती है। यह दृष्टिकोण जातिवादी या वर्णव्यवस्थावादी दृष्टिकोण है जो जन्म के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन करता है कि वह नीच है या उच्च। लेखक से पूछना चाहिए कि क्या नट नाम कहे जाने से कोई नीच हो जाता है और शैलूष कहने से उच्च? यह दृष्टिकोण इनकी पहचान भी मिटा देना चाहता है जो सांस्कृतिक विगलन के साथ साथ नाम को भी मिटा देना चाहता है जिसके पीछे लेखक यह मानकर चलता है कि ये संस्कृति के तत्व नहीं बल्कि इनके अंधविश्वास हैं।

लेखकों के विचारों से भी उनके दृष्टिकोण का ज्ञान होता है यहां 'शैलूष' के रचनाकार भूमिका में लिखते हैं – "मैं किसी जाति पर लदे रूढ़ियों के निरर्थक बोझ को जबर्दस्त झटका मार कर चकनाचूर करने के प्रयास में तल्लीन हूं और रहूंगा।"[36] 'कब तक पुकारुं' के रचनाकार का दृष्टिकोण भिन्न है – "एक ही जीवन में

कितने–कितने स्तर हैं। एक ही संस्कृति में कितनी छायाएं हैं। एक ही हवा के कितने झोंके हैं। सचमुच कैसा विचित्र है यह भारत जो इतने भेदों के होते हुए भी एक कहलाता है।"[37] इस प्रकार परस्पर भिन्न दृष्टिकोण है जहां 'कब तक पुकारुं' भिन्न–भिन्न संस्कृतियों के पृथक अस्तित्व की बात करता है वहीं 'शैलूष' का रचनाकार एक ही संस्कृति को आधार मानता है उसी के आधार पर नटों को असभ्य मानकर उनका शुद्धिकरण या संस्कृतिकरण करता है। जातिगत श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए वे उन्हें आल्हा–ऊदल के वंशज, राजपूत, बनाकर, शैलूष आदि बताते हैं जबकि रांगेय राघव संस्कृति के महासमुद्र की बात कर सभी संस्कृतियों के अस्तित्व के साथ ही आदिवासी संस्कृति को किसी भी आधार पर आर्य संस्कृति से हीन नहीं मानते हैं वे भारत की संस्कृति निर्माण में आदिवासियों का भी योगदान मानते हैं। 'शैलूष' का रचनाकार आदिवासियों को असभ्य मानकर चलता है। वह सावित्री के माध्यम से सबका संस्कृतिकरण करता है, शुद्धिकरण करता है – "नट हमेशा से जरायमपेशा रहे, पर पता नहीं पिछले तीस सालों में कौन सा जादू कर दिया सब्बो ने कि कोई भी छोरा या छोरी सामने पड़ा सौ का नोट भी हो तो उसकी ओर देखेगा भी नहीं। हर नट्टिन को उसने एक शीशी दी, कि छोरा या छोरी जो भी पैदा हो उसकी घुट्टी में इस शीशी का जल मिलाना ही है। वह इस जल को गंदे कार्यों से रोकने वाला पंचामृत कहती है।"[38] शुद्धिकरण के इस दृष्टिकोण के कारण ही लेखक यथार्थ से दूर होकर कल्पनापरक् आदर्श चित्रण करता है।

नटों के वर्तमान के संदर्भ में 'कब तक पुकारुं' का दृष्टिकोण समझौतावादी माना जाता है क्योंकि लेखक नटों के शोषण के बावजूद, वर्गवैषम्य और वर्गसंघर्ष की स्थितियों के बावजूद विद्रोह का स्वर नहीं दिखाता। इसका मूल कारण भी यथार्थपरक दृष्टिकोण है क्योंकि सदियों से पीड़ित इस जाति द्वारा विद्रोह करना इतना आसान नहीं था। यह शोषण उसकी जीवनचर्या का अंग बन चुका था। इसी कारण वे मारे–पीटे जाने के बावजूद जमींदारों को माई–बाप, अन्नदाता कहते थे जो उपन्यास में लेखक ने चित्रित भी किया है। इस प्रकार यथार्थवाद का ही परिणाम है उनका यह दृष्टिकोण। परिस्थितियां धीरे–धीरे बदलती हैं जो लोग कभी विद्रोह की नहीं सोचते थे उनके मानस में भी सवाल उठने लगते हैं, वे भी विरोध करते हैं। यह स्थिति चमारों द्वारा रूस्तम के घर में आग लगाने और सुखराम द्वारा थोड़े बहुत संघर्ष के रूप में प्रकट होती है। सभी मामलों में लेखक का नजरिया यथार्थपरक ही है।

नटों के भविष्य को लेकर भी दोनों विद्वानों के दृष्टिकोण व मान्यताएं भिन्न हैं। 'शैलूष' में सावित्री कहती है – "इन दोनों को इतना पढ़ाऊंगी कि नटों जैसे नाम से घृणा करेंगे। भविष्य में जब कोई इनका नाम पूछेगा तो खुशी से भर

जाएगा। बकुल और मुकुल नाम सुनकर सोच भी नहीं पाएगा कि ये शैलूषपुत्र हैं।"[39] जिलाधीश के माध्यम से भी लेखक का दृष्टिकोण प्रकट होता है – "तुम लोगों को दुनिया में कोई ताकत हरा नहीं सकती। एक ओर बंजारा संस्कृति है दूसरी ओर मौसी का संस्कार, तुम लोगों को इतना मोहक बना चुका है कि आदिवासी अमर रहेंगे। वे लड़ेंगे, मरेंगे पर अपना हक भी वसूलेंगे।"[40]

'कब तक पुकारुं' का लेखक नटों के भविष्य को लेकर आश्वस्त है। वह सोचता है कि भविष्य में इनका न तो शोषण होगा, न इनके साथ जातिभेद होगा। इनकी स्थिति बदल जाएगी। "शोषण की घुटन सदा नहीं रहेगी, वह मिट जाएगी सदा के लिए मिट जाएगी।"[41] सुखराम से भी कहता है – "तुम देखते रहोगे और यह सब बदल जाएगा... आगे चलकर सब मिट जाएगा।"[42] जिस दिन ये जान जाएंगे कि मनुष्यत्व क्या है उस दिन नया मनुष्य उठ खड़ा होगा।"[43]

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' में नटों के वर्तमान के संदर्भ में लेखक का दृष्टिकोण यथार्थवादी है वह तथाकथित सभ्य समाज के नैतिकता संबंधी प्रतिमानों से दूर, संस्कृतियों के सहअस्तित्व की मान्यता का दृष्टिकोण है। वह मानवतावादी दृष्टिकोण है जो सबको समान मानता है जो शोषितों को उच्च मानवीय गुणों से पूर्ण मानता है वह इनके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन का, शोषण के विविध पहलुओं का यथार्थवादी दृष्टिकोण से चित्रण करता है और भविष्य के प्रति आश्वस्त है कि एक दिन शोषण नहीं होगा, जातिभेद आदि सब मिट जाएगा। 'शैलूष' का नटों के वर्तमान संबंधी और भविष्य संबंधी दृष्टिकोण आदर्शवाद, नैतिकता के अनुप्राणित और पोषित है। यह नटों के जीवन से दूर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर संस्कृतियों को मिटा देने वाला दृष्टिकोण है। इनका दृष्टिकोण सुधारवादी है और सुधार का आधार है तथाकथिंत सभ्य समाज के नीति–नियम। वह नटों की आदर्श स्थिति प्रस्तुत करता है उन्हें मिसाल और 'भारत की भविष्यत् पीढ़ी' बनाना चाहता है और इसी चक्कर में उनके मूलस्वरूप को नष्ट कर देता है। इनकी विशिष्टता को चित्रित करना भूल जाता है।

पात्र योजना और तुलनात्मक अध्ययन

'कब तक पुकारुं' के पात्र लेखक की विचारधारा के वाहक हैं, उन पर वर्ग दृष्टि हावी है लेकिन फिर भी वे मूल रूप से जीवन यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े पात्र हैं। 'कब तक पुकारुं' के पात्र विशिष्ट हैं और इसी विशिष्टता के संदर्भ में ही आंचलिक हैं। 'शैलूष' के पात्र लेखक की आदर्शवादी संस्कारशील दृष्टि से प्रेरित हैं। वे नट हैं उनमें नटों की विशिष्टता नहीं है अपितु वे अपनी विशिष्टता को या तो भुला चुके हैं या भुला देना चाहते हैं।

'कब तक पुकारुं' के पात्र शोषकों व शोषितों में आसानी से विभाजित किए जा सकते हैं। यहां निरोती ब्राह्मण, ठाकुर (नरेश के पिता), नरेश की मां, हरनाम ठाकुर आदि उच्च जातियों के लोग और उनके साथ सरकारी अमला–दारोगा रूस्तम खां, दारोगा, दरबार साहब, तथा इनके सहायक बांके व चक्खन जैसे लोग शोषक हैं। जब कि सुखराम, प्यारी, कजरी, रामा की बहू आदि नट, चमारवाड़ा के चमार, धूपो चमारिन, कंजर, गड़रिया, चंदा आदि शोषित पात्र हैं। लेखक ने शोषकों द्वारा शोषितों के बहुआयामी शोषण के चित्र प्रस्तुत किए हैं। शोषक पात्रों को अमानवीय चित्रित किया है और शोषितों को मानवीय और इसी मानवीयता और अमानवीयता के द्वन्द्व के संदर्भ में पात्रों का चरित्र विकास किया है। शोषित पात्र शोषकों के प्रति भी मानवीय दृष्टिकोण अपनाते प्रतीत होते हैं, सुखराम रूस्तम खां का इलाज करता है। डाकू व लारेंस से सूसन की रक्षा सुखराम व कजरी करते हैं, जबकि लारेंस व सूसन के पिता की नजर में वे हीन हैं। शोषक पात्रों की अमानवीयता इस अर्थ में है कि वे प्यारी, कजरी, सौनो, बेला, कंजरियों आदि का शारीरिक शोषण करते हैं, सुखराम व अन्य नटों का सामाजिक व आर्थिक शोषण करते हैं। नरेश की मां द्वारा चंदा को पीट–पीट कर बेहोश कर दिया जाता है। पुलिस द्वारा नटों को जूतों से पीटना, मिर्च भर देना, चींटे कटवाना, पूरे के पूरे नट समुदाय व चमारवाड़े को पीटना आदि इसी शोषण के अमानवीय व्यवहार के रूप हैं। शोषकों का अमानवीय व्यवहारे इस रूप में भी प्रकट होता है कि शोषितों द्वारा इन पर उपकार किए जाने के बावजूद ये अपना वर्ग चरित्र दिखाते हैं। रूस्तम खां इसी तरह का पात्र है जो जब तक इलाज करवाता है तब तक चुप रहता है इलाज होते ही सुखराम को मारना चाहता है। 'कब तक पुकारुं' में पात्र मानवता के उच्च गुणों से पूर्ण दिखाए गए हैं उनके यहां स्त्रियां देह और आत्मा में भेद करती हैं और प्रेम को ही सबसे बड़ा मूल्य माना जाता है इसी तरह सुखराम भी प्रेम पर बल देता है उसे प्यारी का शरीर, स्तन, जांघों से कुछ ज्यादा लगता है जबकि अमानवीय पात्र उसे गिद्ध की तरह मांस समझते हैं और नोचने में ही विश्वास रखते हैं। उच्च मानवीय गुणों के कारण ही ये प्रेम के चलते दूसरे का हित देखते हैं प्यारी कजरी को सौत के रूप में इसीलिए स्वीकार करती है क्योंकि कजरी ने 'सुखराम को वह सब दिया जो प्यारी न दे सकी जब वह सुखराम के पास नहीं थी।' प्यारी सुखराम के लिए रखैल बनना स्वीकार करती है ताकि जूठन न बीननी पड़े, ताकि पुलिस अत्याचार न करे। बेला का चरित्र भी इसी प्रकार का है जो त्याग करती है पति व बच्चे के लिए। कजरी भी सुखराम की सहभागिनी बनकर प्रत्येक परिस्थितियों में उसका साथ देती प्रतीत होती है। इस प्रकार लेखक ने मानवीय रूप में इनका चित्रण किया है। पात्रों पर लेखक की विचारधारा का प्रभाव है। वे वर्ग चेतना युक्त हैं उनको अपनी हीन स्थिति ही नहीं उसके कारणों का भी ज्ञान है। वे जानते हैं कि शोषक कौन है। कजरी कहती भी है कि 'दुनिया में कितनी चीजें हैं पर हमें नहीं।' सुखराम भी सोचता है कि 'हमने

मानुस देह पाई है फिर क्यों जुल्म होते हैं?' इस प्रकार के सवाल उठाते हैं, वर्ग चेतना युक्त है पर फिर भी विद्रोह नहीं कर पाते हैं। यद्यपि संघर्ष की एकाध स्थिति का लेखक ने चित्रण किया है पर मुखर विद्रोह कहीं भी नहीं है इसका कारण है कि 'कब तक पुकारुं' के पात्र जातीय संस्कार युक्त यथार्थवादी पात्र हैं।

'कब तक पुकारुं' की कथा सुखराम–कजरी–प्यारी के इर्द–गिर्द घूमती है। सुखराम का चरित्र भी यथार्थवादी है। वह प्रारंभ में वर्ग चेतनायुक्त दिखाया गया है, जिसके मानस में द्वन्द्व चलता रहता है। वह कभी स्वयं को ठाकुर मानता है कभी नट। यह द्वन्द्व उसकी हीन सामाजिक स्थिति से उत्पन्न है जिसके पीछे शायद उसकी यही सोच है कि ठाकुर बनने पर उसका शोषण नहीं होगा उस पर नटों जैसे अत्याचार नहीं होंगे, उसे सामाजिक जहालत नहीं सहनी पड़ेगी। सुखराम नट है और नटों के समस्त संस्कार उसमें व्याप्त हैं वह आजीविका चलाने के लिए कला–करतब करता है, वह पैतृक व्यवसाय–इलाज करता है, वह शहद बेचता है। उसकी वेशभूषा नटों की अपनी वेशभूषा है इसके साथ ही उसकी धार्मिक मान्यताएं, ईश्वर की आस्था, शगुन आदि सभी उसे नट सिद्ध करते हैं। वह स्वयं को ठाकुर मानता है पर अंत में नट मानने पर मजबूर होता है उसका भ्रम टूट जाता है और इसी संदर्भ में वह जीवन यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़ा प्रतीत होता है क्योंकि वास्तविक जीवन में ऐसा ही होता है।

'शैलूष' की स्थिति भिन्न है यह उपन्यास आदर्शवाद से प्रेरित हैं यहां वे जन्म के आधार पर नट हैं पर संस्कार के आधार पर नहीं, वे या तो अपने संस्कार भूल चुके हैं या भूलना चाहते हैं। नटों की विशिष्टता यहां नहीं है। सावित्री के चरित्र के आगे सबका चरित्र छिप–सा जाता है। यहां प्रमुख पात्र सावित्री, बसावन, जुड़ावन, लल्लू, ननकू, रूपा, जाहिरा, करीमन, सलमा, परताप, कुबेरसिंह, धुरफेंकन, सूरजभान सिंह कलेक्टर आदि हैं।

सावित्री केंद्रीय पात्र है जिसके इर्द–गिर्द कथा घूमती है। वह जन्म से ब्राह्मणी है पर नट जुड़ावन से प्रेम कर वह नटनी बन जाती है पर उसके संस्कार ब्राह्मणी के ही रहते हैं और उन्हीं संस्कारों के आधार पर वह नटों के उस कबीले का संस्कृतिकरण करती है। लेखक का दृष्टिकोण उसे अंत तक 'नटनी' नहीं बनने देता। उसका कहना है कि वह नट्टिन नहीं नटी है। 'नट्टिन नहीं हुजूर मैं नटी हूं।.. नटी तो वह है हुजूर जो अपने हाथ में लिपटे तागे को उतार दे तो जिंदा लगती, नाचती, गाती, लड़ती–झगड़ती, पुतलियां काठ के खिलौने बन जाएगीं। नट्टिन का अर्थ होता है झगड़ा करने, कठमुल्लापन में जीने वाली गंदी औरत।'[44] तात्पर्य यह है कि लेखक सावित्री को नटनी होते हुए भी उससे भिन्न दिखाना चाहता है और वास्तव में वह नटी ही है क्योंकि सारे कबीले को वह कठपुतलियों की तरह

नचाती है और उसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं करता अर्थात् वह उनका स्वरूप निर्धारित करने वाली है। यह नटी अपना संस्कार और सभ्यता का सुधारवादी दृष्टिकोण नट्टिनियों पर थोपती है। इसे वह स्वयं भी स्वीकारती है – "तूने सब रूकवा दिया। ... सच के रास्ते चलकर जीने के लिए तूने क्या दिया इन्हें। सही है कि तू इन्हें जरायमपेशे से अलग करके संस्कृति की मुख्यधारा में शामिल होने का पाठ पढ़ा रही है... अंधविश्वास को तू कुरेद–कुरेद कर निकालती रही और उस दिन का इंतजार करती रही कि नटों का घर हो, थोड़ी जमीन हो ताकि वे सभ्य बन सकें।"[45] यह लेखक का भी दृष्टिकोण है। देखा जाए तो लेखक का मूल नजरिया सावित्री के माध्यम से प्रकट होता है वह स्वयं इनको मुख्यधारा में लाने के नाम पर ऐसा करता है और शुद्धतावादी दृष्टिकोण के चलते इन्हें असभ्य करार देता है।

सावित्री का चरित्र आदर्शवादी है और विरोधाभासी है। वह जुड़ावन से प्रेम करती है पर उसका प्रेम पवित्र है, वह संतान नहीं चाहती। जुड़ावन की पत्नी उसकी पवित्रता का प्रमाण देती है – "यह तो बेला जानती है कि दीदी और तुम्हारे बीच क्या संबंध था। कहूं तो यह आदमखोर दुनिया नहीं मानेगी कि दीदी एकदम अकलंक रही। उन्होंने तुम्हारी प्रार्थनाएं ठुकरा दी यह कहकर कि जुड़ावन देह से ऊपर भी एक प्रेम होता है।"[46] उसके मन में ब्राह्मण परिवार छोड़कर नटी बनने का पश्चाताप भी है जो जाने–अनजाने प्रकट होता है। "मैं यह सह लूंगी कि मैं पतिता हूं। लोग बदचलन कहें इसकी मुझे कोई चिंता नहीं पर मैं यह नहीं सह पाऊंगी कि मेरे बच्चों को लोग दोगला कहें।"[47] इसी पवित्रतावादी दृष्टिकोण के कारण ही वह पुजारी को फूल छूने से मना करती है कि पूजा करनी है। वह परताप के घर इसीलिए नहीं जाती क्योंकि मांस मदिरा सेवन करता है। उसका मानना है कि – "तुलसी की कंठी लेने से लाभ क्या, जब मछली, गोश्त, अण्डे खाने वाले परिवार में ही रहना पड़े।"[48] इसी पवित्रतावादी दृष्टिकोण को वह नटों पर थोपती है वह औरतों को पंचामृत देती है जिसे घुट्टी के समय पिलाने को कहती है ताकि संतान संस्कारवान हों। वह नटों व उनकी स्त्रियों को सभ्यता के नाम पर बहुत से संस्कार भुलाती है आर्थिक विकास, सामाजिक संस्कार, शादी संस्कार, मांस–मदिरा सेवन आदि मामलों में यह बदलाव सामने आता है। नट स्त्रियां उसकी आज्ञा का पालन करती हैं उसकी आज्ञा मानना सबका परम ध्येय माना जाता है। "रूपा हुजूर मौसी की खास भतीजी है... अगर उसे मौसी ने अपनी कसम न दिलाई होती तो रूपा आपके दर्जन पर सरकारी अफसरों को स्वर्ग में पहुंचा चुकी होती।"[49] इसी प्रकार "चुप बे सुअरों मेरे हाथ बांध दिए हैं चाची ने कसम दिलाकर वरना तुझे एक सेकण्ड में बता देती कि नट छाकरियां क्या होती हैं।"[50] इसी प्रकार जब वह कबीले से बाहर जाती है, नाराज होती है, तो सारा कबीला भूखा रहता है, उसे मनाता, पांव पड़ता है। इसी का परिणाम है कि उसके चरित्र के सामने अन्य चरित्र धूमिल पड़ गए हैं उनका विकास नहीं हो पाया। वह अतिमानवीय चरित्र चित्रित की गई है जिसको

घटनाओं का पूर्वाभास होता है वह योजनाएं बनाती हैं जिसका क्रियान्वयन ननकू, अमरित आदि का कार्य है। वह विशिष्ट व्यक्तित्व है जिससे कलेक्टर, पुलिस अफसर बिना मिले ही प्रभावित हो जाते हैं, वे उसे संस्कारवान महिला कहते हैं। उसे किसी द्वारा पतिता कहा जाना बुरा लगता है। इस प्रकार विचित्र विरोधाभासी स्थिति उभरती है जहां एक तरफ वह स्वयं को पतिता कहती है वहीं दूसरा कहने पर वह दुःखी होती है और उसे इसका पश्चाताप भी होता है, "तुम्हारी मौसी बुढ़िया, कमजोर, शक्ति से हीन कुछ कर सकने में असमर्थ पतिता ब्राह्मणी।"[51] इस प्रकार 'शैलूष' का केंद्रीय पात्र सावित्री है जो आदर्शवाद से प्रेरित है, उसकी अति मानवीय विशेषता उजागर की गई है और उसका विरोधाभासी चरित्र है। वह नटों के जीवन को बदलना चाहती है। वह कल्पना पर आधारित पात्र है।

'कब तक पुकारुं' के पात्र यथार्थवादी तो हैं ही साथ ही जातीय संस्कारों से युक्त भी हैं। कजरी, प्यारी, सौनो, बेला, चंदा, रामा की बहू, मंगू, इसीला आदि इसी तरह के पात्र हैं इनके अलावा धूपो चमारिन, रूस्तम खां, दरबार साहब, ठाकुर साहब आदि सभी ग्रामीण यथार्थवादी पात्र हैं। नटों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन, मान्यताएं, विश्वास आस्थाएं इन पात्रों के माध्यम से ज्ञात होती है। बेला, सौनो, प्यारी, कजरी, मंगू की पत्नी आदि देहव्यापार करती हैं। सुखराम, प्यारी, कजरी ही नहीं धूपो चमारिन, चंदन मेहतर, दीना चमार, आदि पात्र भी अपनी सांस्कृतिक स्थिति व मान्यताओं को यथार्थ रूप में चित्रित करते हैं। चंदा का चरित्र बदलते भारत में या कहें आजाद भारत में नट स्त्री की स्थिति का परिचायक है।

'शैलूष' के पात्र जातीय संस्कार युक्त नहीं हैं वे नट नहीं हैं और न नट रहना चाहते हैं। पात्र यथार्थ से दूर हैं। न ये जातीय संस्कार युक्त यथार्थवादी पात्र हैं न वर्गीय चरित्र। धुरफेंकन ब्राह्मण है वह जमीन को हड़पना चाहता है इसके लिए भिन्न–भिन्न हथकण्डे अपनाता है परंतु शायद यह लेखक का आग्रहशील दृष्टिकोण है कि वह यथार्थ रूप में उभर नहीं पाता, वह हर बार पिटता है, उसकी योजनाएं ठप्प हो जाती हैं, वह करीमन नट, चमारों को इनके खिलाफ भड़काता है, पंडितों की पंचायत बुलाता है सावित्री को लज्जित करने हेतु पर हर जगह सावित्री और जुड़ावन के कबीले के सहायक और समर्थक उपस्थित होते हैं जो पुलिस, कलेक्टर, सुरेंद्र शुक्ल, डीआईजी आदि के रूप में हैं।

इसी प्रकार जुड़ावन व बसावन हैं वे कबीले के सरदार हैं पर उनका व्यक्तित्व भी प्रभावी नहीं है। उनके ही कबीले द्वारा उनकी पिटाई होती है। यह यथार्थ से दूर हैं। लल्लू नट इसका महत्वपूर्ण पात्र है जो नटों की कुछ विशेषताएं लिए हुए है वह इनका विशिष्ट पुजारी है, पूजा करता है वह हिंदू–मुस्लिम एकता चाहता है और उसका प्रतीक वह स्वयं है, परंतु वह भी सावित्री को देवी मानता है

उसकी आज्ञा मानता है, निर्णय उसी पर छोड़ देता है। इस प्रकार सावित्री के बाद महत्वपूर्ण चरित्र यही है पर इसका भी विकास नहीं।

इसके अतिरिक्त परताप का हृदय परिवर्तन, कलेक्टर का मौसी के प्रति व्यवहार, अमरित का मुस्लिम से शादी करना, सुरेंद्र शुक्ल का जाति संबंधी दृष्टिकोण, ताहिरा–जाहिदा का हिंदू कबीले का स्वीकार, करीमन का विरोधी दृष्टिकोण आदि भी महत्वपूर्ण हैं पर सभी सावित्री के चरित्र के समक्ष उभर नहीं पाते वे सहायक मात्र बन कर रह जाते हैं।

इसी संदर्भ में विचारणीय है कि 'कब तक पुकारुं' के पात्र यद्यपि विचारधारा से प्रभावित हैं परंतु फिर भी लेखक की विचारधारा पात्रों के चरित्र विकास में बाधक नहीं बनी है वहां चरित्रों का स्वाभाविक विकास है। जो सुखराम के संदर्भ में खास प्रकट होता है जबकि शैलूष में आग्रहशील दृष्टिकोण है जो सावित्री को महान मानता है और धुरफेंकन की योजनाएं सदैव असफल दिखाता है। वह सावित्री के अतिमानवीय चरित्र की सृष्टि करता है।

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' के पात्र विचारधारात्मक हैं। वहां केंद्रीय पात्र सुखराम, प्यारी व कजरी हैं। इन पात्रों के माध्यम से इनके जातीय संस्कार उभरते हैं। प्रत्येक पात्र यथार्थवादी हैं और किसी न किसी विशिष्टता का उद्‌घाटन करता है। नटों की विशिष्टताएं इनके व्यवहार द्वारा ज्ञात होती हैं। इन नटों की संस्कृति बेला, सौनो, इसीला की पहली पीढ़ी से सुखराम–कजरी–प्यारी की दूसरी पीढ़ी से होते हुए चंदा की तीसरी पीढ़ी तक जीवित है और पात्र जातीय संस्कार युक्त यथार्थवादी हैं। लेखक ने चरित्रों का स्वाभाविक विकास दिखाया है, उन्हें जातीय संस्कारों से युक्त दिखाया है उन पर विचारधारा का भी प्रभाव है पर हावी नहीं है। 'शैलूष' के पात्र आदर्शवादी, यथार्थ से दूर, स्वाभाविकता का हनन करने वाले हैं। सावित्री के अतिमानवीय चरित्र के सामने किसी का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। इस प्रकार पात्र स्वाभाविक नहीं है।

आंचलिकता के संदर्भ में 'कब तक पुकारुं' व 'शैलूष' का मूल्यांकन

आंचलिकता आजादी के बाद की परिस्थिति की उपज है। आजादी के बाद लेखकों का ध्यान पिछड़े व अपरिचित अंचलों की तरफ गया और उन्होंने उन्हें साहित्य का विषय बनाकर साहित्य जगत से परिचय कराया। पिछड़े अंचलों के साथ जनजातियों के जीवन चित्रण (विशिष्ट) को भी आंचलिकता की एक कोटि के रूप में बाद के दिनों में माना गया। जनजातियों का अपरिचित जीवन उनके अंचल के संदर्भ में ही प्रकट होता है इसी कारण इसे आंचलिकता की कोटि माना गया।

'कब तक पुकारुं' व 'शैलूष' दोनों उपन्यास अपनी विषयवस्तु का आधार इन्हीं जनजातियों को बनाते हैं। दोनों उपन्यास भिन्न–भिन्न क्षेत्रों के नटों का जीवन चित्रण करते हैं। नटों के जीवन चित्रण के संदर्भ में दोनों ही उपन्यास आंचलिक माने जा सकते हैं लेकिन नटों के जीवन की विशिष्टता और उनके जीवन को समग्रता में चित्रित करने के संदर्भ में दोनों की आंचलिकता में भेद है।

'कब तक पुकारुं' राजस्थान के भरतपुर जिले के वैर गांव के करनटों को कथा का आधार बनाता है तो 'शैलूष' की कथा रेवतीपुर और कमालपुर के नटों पर है। कथानक के आधार पर देखा जाए तो आंचलिक उपन्यासों में केंद्रीय कथा का अभाव, अवांतर कथाओं की भरमार आदि को आंचलिकता का आधार माना जाता है जिनका मूल मंतव्य अंचल का समग्रता में चित्रण करना होता है। प्रत्येक अवांतर कथा अंचल की किसी खास विशेषता को उजागर करती हैं। 'कब तक पुकारुं' व 'शैलूष' दोनों ही केंद्रीय कथा वाले उपन्यास हैं अर्थात् दोनों में केंद्रीय कथा का अभाव नहीं है यहां कथागत बिखराव की जगह जीवनगत बिखराव दिखाई देता है जो केंद्रीय कथा और किसी कथानक को आधार बनाकर उसकी विशेषताओं के आलोक में अंचल का चित्रण करता है। सुखराम, प्यारी व कजरी आदि नटों और 'शैलूष' में लल्लू नट सावित्री आदि के माध्यम से नटों की और उस अंचल की विशिष्टता उद्घाटित की गई है। 'कब तक पुकारुं' के रचनाकार इस अंचल के नटों को विशिष्ट मानते हैं व अन्य नटों से भिन्न मानते हैं अतः उनकी भिन्नता को उजागर कर वे इसे आंचलिक सिद्ध करते हैं। बाद के दिनों में मछुआरों, गोंड, भील आदि के जीवन पर लिखे गए उपन्यासों को भी आंचलिक माना गया था क्योंकि जनजाति के साथ–साथ उस अंचल की विशेषता भी उभर कर आती है। 'कब तक पुकारुं' इसी कोटि का आंचलिक उपन्यास है और 'शैलूष' भी।

'कब तक पुकारुं' में कथा सुखराम–कजरी–प्यारी के इर्द–गिर्द घूमती है ये केंद्रीय पात्र हैं और इनकी कथा केंद्रीय कथा है। लेखक इनके माध्यम से उस अंचल की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थिति का चित्रण करता है। नटों के जीवन के साथ–साथ वह कंजर, चमार आदि के जीवन का भी चित्रण करता है और नटों, चमारों, ठाकुरों, ब्राह्मणों, सरकारी अफसरों के व्यवहार और परस्पर संबंधों के आलोक में अंचल का चित्रण करता है। 'कब तक पुकारुं' नटों के विशिष्ट जीवन का चित्रण करता है इनके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक जीवन, मान्यताओं आदि का चित्रण करता है इसके साथ ही वह मेहतर, कंजर, चमार, आदि समाजों का भी चित्रण करता है, उनकी मान्यताओं का चित्रण है। लोक का प्रतिनिधित्व करने वाले समाजों का जीवन उनकी विशिष्टताओं के साथ उद्घाटित करता है। 'शैलूष' नटों के जीवन तक ही सीमित है और नटों की विशेषताओं का चित्रण भी वहां नहीं है। वहां का नट कबीला, स्वयं के संस्कार भुला चुका है या भुला देना

चाहता है। उनके जीवन से नटों की किसी भी विशिष्टता का ज्ञान नहीं होता, वहां नटों के स्थान पर कोई और नाम रख देने पर भी खास फर्क पड़ता प्रतीत नहीं होता। लल्लू नट व करीमन के कबीले के माध्यम से संस्कारों की हल्की फुल्की झलक मिलती है और इसी कारण यह उसी मात्रा में आंचलिक है। यहां विशिष्ट जनजाति और उसके अंचल के अन्य समाजों से व्यवहार के संदर्भ में अंचल का चित्रण नहीं मिलता। यहां का जीवन यथार्थ से दूर प्रतीत होता है। 'शैलूष' में चित्रित जीवन नटों का जीवन नहीं है वह सावित्री के संस्कारों का जीवन है। यहां उनके जातीय संस्कार प्रकट नहीं होते। इस प्रकार जनजातियों के विशिष्ट जीवन का समग्रता में अंचल संबंधित यथार्थ जीवन का 'शैलूष' में अभाव है जबकि 'कब तक पुकारुं' इन्हीं आधारों पर इससे श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है।

जहां तक अवांतर कथाओं की भरमार की बात है वह न तो 'कब तक पुकारुं' में है और न ही 'शैलूष' में। लेकिन 'मैला आंचल' की आंचलिकता से भिन्न 'कब तक पुकारुं' में कुछेक अवांतर कथाएं भी मिलती हैं। जिनके माध्यम से अंचल के जीवन को समझा जा सकता है। धूपो चमारिन प्रसंग, चंदन मेहतर प्रसंग, डाकू प्रसंग, दीना चमार की कथा का प्रसंग, चंदा प्रसंग आदि सभी के माध्यम से अंचल के जीवन को समझा जा सकता है प्रत्येक प्रसंग किसी न किसी खास आंचलिक विशिष्टता का उद्घाटन करता है। 'शैलूष' में अवांतर कथाओं का अभाव है यहां प्रत्येक जगह सावित्री मौसी उपस्थित है और नटों के अलावा अन्य किसी समाज का जीवन चित्रण नहीं मिलता। घुरफेंकन का भी जीवन चित्रित नहीं है वह ऐसा पात्र है जिसका उसकी पृष्ठभूमि से संबंध नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' व 'शैलूष' दोनों ही उपन्यासों में केंद्रीय कथा है और अवांतर कथाओं की भरमार नहीं है, परंतु नटों के जीवन और उनकी आंचलिक विशिष्टता का विषय और अन्य समाजों के आपसी संबंधों से अंचल का जीवन चित्रण आदि इनमें आंचलिकता के स्तर का भेद करते हैं। 'कब तक पुकारुं' आंचलिक ठहरता है 'शैलूष' आंशिक आंचलिक। इसी कारण राधेश्याम कौशिक कहते हैं – "नटों के जीवन का चित्रण जितने विस्तृत रूप में इस 'कब तक पुकारुं' उपन्यास में हुआ उतना किसी भी हिंदी उपन्यास में नहीं हुआ है।"[52]

आंचलिकता की दूसरी कोटि पात्र योजना या चरित्र चित्रण है। इन उपन्यासों की पात्र योजना भिन्न होती है। यहां केंद्रीय चरित्र का अभाव होता है और चूंकि अंचल ही नायक होता है और अंचल ही विशेषताओं का चित्रण लक्ष्य होता है अतः पात्रों की भीड़ भी होती है। प्रत्येक पात्र किसी खास विशिष्टता का उद्घाटन करता प्रतीत होता है।

'कब तक पुकारुं' व 'शैलूष' दोनों की पात्र योजना इस तरह की नहीं है वहां न तो केंद्रीय पात्र का अभाव है न ही पात्रों की भीड़। लेकिन लक्ष्य चूंकि अंचल का जीवन चित्रण है और उसके लिए जितने पात्रों की आवश्यकता है वह 'कब तक पुकारुं' में है। वहां नटों का विशिष्ट जीवन प्यारी, कजरी, सुखराम, रामा की बहू, बेला, सौनो, इसीला, चंदा आदि के माध्यम से प्रकट होता है तो लोक का निर्माण करने वाले अन्य समाजों का जीवन चित्रण धूपों चमारिन, चंदन मेहतर, कंजर, दीना चमार, चमारवाड़े के चमार आदि के माध्यम से होता है। इसी प्रकार उस अंचल के उच्च वर्ग का जीवन और उसकी मानसिकता का चित्रण ठाकुर, नरेश के पिता, दरबार साहब, निरोती ब्राह्मण, बांके आदि के माध्यम से किया गया है। इन समस्त जातियों के पारस्परिक संबंधों और व्यवहार के आलोक में अंचल का जीवन उभर कर आता है। प्रत्येक पात्र किसी न किसी खास समुदाय की तथा उस अंचल की खास विशिष्टता का उद्घाटन करता है। इस रूप में वह आंचलिक है। लोक का चित्रण यथावत किया गया है और लोक में ही आंचलिकता का स्तर सर्वाधिक होता है उन्हीं के व्यवहार से अंचल की विशिष्टता उद्घाटित होती है। सुखराम केंद्रीय पात्र है मानसिक द्वन्द्व पर आधारित पात्र है वह स्वयं को ठाकुर मानता है पर जीवन यथार्थ के कारण अंत में स्वयं को नट मान लेता है, उसका दृष्टिकोण पलायनवादी है। कजरी, प्यारी, सौनो, बेला, चंदा आदि नट समाज में और उस अंचल में स्त्रियों की स्थिति का ज्ञान करवाती है। प्यारी रखैल बनने की मजबूरी, चंदा सामाजिक मान्यता, कजरी पुनर्विवाह व तलाक, सौनो नाता प्रथा व अनमेल विवाह की नटों की विशिष्टताओं को उजागर करती है। धूपो चमारिन, चमारवाड़ा आदि के साथ चंदन मेहतर और रूस्तम, ठाकुर, दरबार साहब, निरोती ब्राह्मण सभी अपने–अपने समाज के साथ अंचल की विशिष्टता भी उद्घाटित करते हैं। 'शैलूष' की पात्र योजना भिन्न है जिस जनजातीय जीवन के चित्रण को आंचलिकता का आधार माना गया, उसका यहां अभाव प्रतीत होता है। ननकू, लल्लू, बसावन, जुड़ावन, सावित्री, अमरित, सलमा, ताहिरा, परताप, धुरकेंकन, कुबेरसिंह आदि पात्र हैं पर उनकी आंचलिक और सामाजिक विशेषता उजागर नहीं होती। लल्लू के चरित्र से नटों की परंपराओं का ज्ञान अवश्य होता है पर बाकि सब का जीवन और उनकी विशेषता कहीं भी उजागर नही है। इनकी लड़ाई परती तक ही सीमित रह गई है इसके अलावा जीवन के भिन्न पक्षों का, संस्कृति का, त्यौहार का, मान्यताओं का कहीं भी चित्रण नहीं मिलता। सारे पात्र सावित्री के संस्कारों से प्रभावित हैं उसके चरित्र के सामने किसी का भी स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है। न यहां लोक का निर्माण करने वाला समाज चित्रित है न उनके माध्यम से अंचल का विशिष्ट जीवन। 'शैलूष' परती की कथा कहता है और उस परती भूमि के लिए उपजे संघर्ष का अंचल की भिन्न विशेषताओं से कोई लेना देना नहीं है। आंचलिक उपन्यासों में प्रत्येक पात्र आंचलिक जीवन की किसी खास विशेषता का उद्घाटन करता है। 'कब तक पुकारुं'

में ऐसा है पर 'शैलूष' से ज्यादातर पात्र बोझ हैं वे सावित्री की आज्ञा मानने तक सीमित है। इस प्रकार 'शैलूष' पात्रों के द्वारा अंचल की विशिष्टता को उद्‌घाटित करने में असमर्थ रहा है दूसरी बात यह भी है कि नटों का जीवन भी विशिष्टता व यथार्थ रूप में चित्रित नहीं किया गया, जबकि 'कब तक पुकारुं' में आंचलिकता के मूल लक्ष्य को प्रतिपादित करने वाले पात्र हैं। अतः वह आंचलिक उपन्यास सिद्ध होता है।

आंचलिकता का तीसरा आधार वातावरण व देशकाल को माना जाता है। उपन्यास जिस अंचल का चित्रण करता है उसका, उसके पात्रों का, उस समाज का न केवल प्राकृतिक, सामाजिक वरन् ऐतिहासिक परिवेश का चित्रण करना इस दृष्टि से अनिवार्य होता है। परिवेश का चित्रण जहां अंचल को हमारे सामने सजीव व साकार कर देता है वहीं उसकी स्वाभाविकता और प्रभावाभिव्यंजकता में भी वृद्धि होती है। वह स्थायी प्रभाव डालता है। आंचलिक उपन्यासों का मूल लक्ष्य अंचल का चित्रण होता है और अंचल का चित्रण समग्रता में प्रभावी रूप से करने के लिए मूल दृष्टि पार्श्व पर रखी जाती है। परिवेश के संदर्भ में ही पात्रों का व अंचल की विशिष्टता का उद्‌घाटन किया जाता है। परिवेश के सामाजिक व प्राकृतिक आदि दो भेद किए गए हैं। सामाजिक परिवेश के अंतर्गत अंचल के विभिन्न समाजों, लोकों आदि का सामाजिक जीवन चित्रित किया जाता है इसके अंतर्गत उनके संस्कार, उनकी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक स्थिति, मान्यताओं, विश्वास, आस्थाओं, लोकगीतों, लोककथाओं, रीतियों, वार्ताओं आदि का चित्रण किया जाता है और विभिन्न समाजों के परस्पर संबंधों का चित्रण किया जाता है। प्राकृतिक परिवेश के अंतर्गत अंचल के प्राकृतिक वातावरण का चित्रण लक्ष्य होता है। वातावरण चित्रण पात्रों से संबद्ध होता है। परिवेश का चित्रण पात्रों के चारित्रिक विकास के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण करता है।

'कब तक पुकारुं' में न केवल सामाजिक वरन् प्राकृतिक वातावरण का भी चित्रण किया गया है। वहां नट, कंजर, चमार, मेहतर, गड़रिया आदि लोक समाज व ठाकुर, ब्राह्मण, यादव, गुर्जर, पुलिस आदि समाजों के विश्वास, मान्यताओं, आस्थाओं के साथ परस्पर संबंधों पर भी नजर डाली गई है। उच्च वर्ग द्वारा निम्नवर्ग का सामाजिक, आर्थिक अर्थात् विविधवर्णी शोषण चित्रित किया गया है। इसी के साथ प्रत्येक समाज के संस्कार व रीतियों का भी चित्रण मिलता है। 'शैलूष' में चित्रण नटों तक ही सीमित है यहां करीमन नट के कबीले के संस्कार, रीतियों का भी ज्ञान नहीं होता, लल्लू नट के माध्यम से नटों का जीवन प्रकट होता है परंतु अंचल के अन्य समाजों, उनकी सामाजिक स्थिति, परस्पर व्यवहार का चित्रण नहीं मिलता। केवल धुरफेंकन द्वारा शोषण व उसकी मानसिकता का ही चित्रण मिलता है। पण्डितों की पंचायत भी लेखक अपने उद्‌देश्य 'पवित्रता–अपवित्रता निर्णय' के लिए

करवाता है। मुस्लिमों के प्रति घृणा और उनके ब्राह्मण सभा में उपस्थित होने से बवाल होना आदि सामाजिक परिवेश का आंशिक चित्र उपस्थित करते हैं। लल्लू नट के माध्यम से नटों के आंशिक सामाजिक जीवन का चित्रण मिलता है। यहां नटों की सामाजिक स्थिति का चित्रण भी आंशिक है। उस अंचल की आंशिक विशेषताएं उजागर होती हैं। सावित्री पर ही कथा आधारित है उसके पार्श्व पर नजर नहीं गई है। उसे पवित्र मानें या अपवित्र लेखक सारे उपन्यास में इसी का निर्णय करता रहता है।

प्राकृतिक परिवेश के अंतर्गत देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि 'कब तक पुकारुं' में जहां पहाड़, जंगल, झील, ग्राम की नीरवता, पहाड़ के पशु पक्षी, डांग प्रदेश आदि का चित्रण मिलता है जो उस अंचल की प्राकृतिक पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं जिनका चरित्र विकास से भी संबंध है। नटों की सारी संस्कृति जंगल पर ही निर्भर होती है, पहाड़ की दुर्गमता और डांग प्रदेश के डाकुओं का चित्रण प्राकृतिक वातावरण को साकार करता है जिनका चरित्र विकास में योगदान है। कजरी का पति की सहभागिनी वाला चरित्र पहाड़ की चढ़ाई और डांग प्रदेश को पार करने के संदर्भ में ही विकसित होता है। 'शैलूष' का रचनाकार रेवतीपुर व कमालपुर के साथ बनारस भी जाता है वह तीनों जगहों का वर्णन करता है पर प्राकृतिक परिवेश के नाम पर परती का चित्रण ही उसका लक्ष्य है उसी में नटों के डेरे का वर्णन करता है – "आमने–सामने युद्ध के लिए खड़े नटों और चमारों ने देखा कि सती मैया के चौरे से लेकर परती के दक्खिनी छोर तक करीब एक दर्जन रावटियां खड़ी हैं। दरवाजों पर भैंसों के पडुए बंधे थे।"[53] इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' में जहां सामाजिक व प्राकृतिक परिवेश का चित्रण उसे आंचलिक उपन्यास सिद्ध करता है वहीं 'शैलूष' का सामाजिक परिवेश नटों के अलावा पार्श्व का चित्रण नहीं करता, वहां प्रकृति चित्रण परती तक ही सीमित रह जाता है। एक दो प्रसंगों से सामाजिक परिवेश प्रकट भी होता है जैसे ब्राह्मण सभा, मुस्लिमों व नटों के प्रति दृष्टिकोण पर वे आंशिक ही हैं अतः इसे आंशिक आंचलिक उपन्यास मान सकते हैं।

सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश के साथ आंचलिक उपन्यास अपनी ऐतिहासिक स्थिति से भी संबंधित दिखाया जाता है। 'कब तक पुकारुं' परतंत्र भारत और आजादी के दो वर्ष बाद तक की कथा कहता है इस दौरान वह अपराधी जनजाति अधिनियम और उसके प्रभावों को अप्रत्यक्ष रूप से नटों के जीवन संदर्भ में चित्रित करता है। गुलाम भारत में नटों का जीवन और आजाद भारत में नटों का जीवन उनके ऐतिहासिक परिवेश को अर्थात उस परिवर्तन को चित्रित करता है जो आजादी के बाद आया साथ ही उस परिवर्तन को भी जो आजादी के बावजूद नहीं आया अर्थात् चंदा नरेश प्रसंग का सामाजिक परिवर्तन। जिसकी अपेक्षा थी। 'शैलूष' 1989 में प्रकाशित है। यहां लेखक अपने समय से जुड़ा है उसका नटों पर प्रभाव

चित्रित करता है इसी कारण नट अनशन करते हैं, साक्षात्कार देते हैं, पुलिस व जिलाधीश से इनकी पहचान है निश्चित ही यह आजाद भारत की पहचान है। वह नटों के जीवन में आए परिवर्तन का चित्रण करता है पर परिवर्तन कितना यथार्थ है यह विचारणीय है। इस प्रकार आंचलिक जीवन में ऐतिहासिक घटनाओं व समयगत परिवर्तन का चित्रण दोनों उपन्यासकार करते हैं पर कोटि भिन्न है।

आंचलिकता के अंतर्गत भाषा पर भी विचार किया जाता है। अंचल का प्रभावी चित्रण आंचलिक भाषा के संदर्भ में ही किया जा सकता है इसी से पात्रों का स्वाभाविक रूप सामने आता है। उस क्षेत्र की बोली–बानी, गीत, कथाओं, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का चित्रण अंचल को जीवंत कर देता है पर भाषा के संदर्भ में दृष्टिकोण संतुलित होना चाहिए स्थानीय भाषा में लिखित साहित्य स्थानीय स्तर तक ही रह जाएगा और अतिप्रयोग दुर्बोध हो जाएगा जबकि स्थानीय भाषा का अभाव स्थानीय रंगत नहीं लाएगा। इस कारण संतुलित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। जहां लोकमतों, मुहावरों, लोकोक्तियों, गीतों आदि का प्रयोग स्थानीय भाषा में ही होना चाहिए क्योंकि इनका अनुवाद उस अंचल को मूल रूप से प्रकट नहीं कर पाएगा और साथ ही इनका मूल रस भी क्षीण हो जाएगा।

'कब तक पुकारुं' आंचलिक भाषा के संबंध में इसी संतुलित दृष्टिकोण का परिचायक है वहां मुहावरे, लोकोक्तियां, कुछ स्थानीय शब्दों का प्रयोग स्थानीय भाषा – जो ब्रज, राजस्थानी मिश्रित हिंदी है – में किया है ताकि स्थानीय रंगत बनी रहे और अन्य संदर्भों में भाषा साहित्यिक हिंदी ही है। लेखक की कमी केवल गीतों के अनुवाद के संदर्भ में दिखाई देती है।

'शैलूष' के रचनाकार भाषा संबंधी अपने दृष्टिकोण को पहले ही स्पष्ट कर देते हैं – "पूर्वांचल की सौंधी महक तो ज्यों की त्यों बरकरार है। इसमें सिर्फ भाषा को इस तरह ढाला गया है कि वह अमृतसर से असम, कश्मीर से कन्याकुमारी तक जो लोग हिंदी जानते हैं, उन तक मेरी और आपकी व्यथा पहुंच सके।"[54] इसी का प्रभाव है कि उनकी भाषा भोजपुरी के निकट है। इसमें स्थानीय प्रयोग भी है – रूपा कहती है – "ऊ कौन सा अरथ है चाची?"[55] सलमा कहती है – "क्यों तुम मुझे नहीं न पहचान पाए, तुम अदने लोगों को क्या पहचानोगे।"[56] इसके साथ ही लिंग संबंधी गड़बड़ी का स्थानीय प्रभाव भी परिलक्षित होता है। लेखक नटों को अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कराते भी दिखाया है जैसे लेक्चर, ड्युटी, ह्विस्की, ट्युबवेल।

लेखक ने नटों को अंग्रेजी के स्पष्ट उच्चारण करते दिखाया है जो वास्तविकता से थोड़ा दूर है। लेकिन भाषा का पूरबीपन बरकरार है इसी कारण क्लेक्टर को कलेक्टरवा, शुक्ल को सुकुल, सुरजीत को सुरजितवा, लल्लू को ललवा कहा गया है।

भाषा की पात्रानुकूलता भी महत्वपूर्ण होती है एक ही अंचल में रहने वाले भिन्न–भिन्न समुदायों की बोली भिन्न–भिन्न हो सकती है और उसी प्रकार व्यक्ति विशेष की भी। 'कब तक पुकारुं' का सुखराम भिन्न भाषा प्रयुक्त करता है जो गाली प्रधान जातीय है, रूस्तम उर्दू बोलता है, ठाकुर की भाषा भिन्न है, इसी प्रकार सूसन व लारेंस आदि की भाषा का उच्चारण अंग्रेजी पुट लिए है। 'शैलूष' की भाषा भी पात्रानुकूल प्रतीत होती है। सलमा, नासिर, करीमन, दारोगा आदि की भाषा में अरबी–फारसी शब्द हैं तो सावित्री मौसी संस्कृत का अध्ययन किए हुए है उसकी भाषा में संस्कृत शब्द मिलते हैं लेकिन यहां भी लेखक का दृष्टिकोण उसे विशिष्ट बनाता है वह संस्कृत, हिंदी, उर्दू तीनों का अच्छा प्रयोग जानती है। तीनों भाषाएं बोलती है – "मजहब के नाम पर किसी के साथ ऐसा सलूक नहीं होना चाहिए जो गैरवाजिब हो।"[57] संस्कृत के छंदों का भी वह प्रयोग करती है। ताहिरा की भाषा – "मेरे हम अकीद.. मैं मानती हूं कि बरहमनों ने गैरवाजिब सलूक किया है पर क्या हमें बचाना मटरू और रज्जब के कबीलेदार जुड़ावन न आए होते तो हम वहशियाने माहौल से कभी बाहर नहीं निकल पाते।"[58]

'शैलूष' में गीतों के रूप में कबीर के पद व अन्य गीत हैं। गीत स्थानीय भाषा में ही दिए गए हैं और साथ ही अनुवाद भी कर दिया गया है। अनेक अवसरों पर फिल्मी गीतों का भी प्रयोग किया है।

"केकरे धरे रोटिया मांगे जाइ रे/ जरत वा छुतिया/ कइसे के दूधवा पियाइं रे रोवत वा लरिका।"[59] नथिया बनजारिन के लिए गीत – "कंवरु देसवा में चालेली भगवती पहुंचेली मलिया अवास हो/ किया मोर सेवक बांधे देत धरण किया जोहे बटिया हमार हो।"[60] आल्हा का भी उल्लेख किया है लेखक ने – "बजो नगाड़ा जब लश्कर में छत्री सभी भये हुशियार/ दगी सलामी आल्हा दल में तोपन बती दई लगाय।"[61] फिल्मी गीत – "जिसकी बीवी मोटी उसका भी बड़ा भाग है/ सर के नीचे डाल लिया तकिये का क्या काम है।"[62] इस प्रकार गीतों का प्रयोग स्थानीय भाषा में किया है लोकोक्तियां व मुहावरे भी स्थानीय भाषा में ही वर्णित हैं। इसी प्रकार हरामजादियों, सालियों आदि गालियों का भी प्रयोग है।

आंचलिक भाषा के संदर्भ में संतुलित दृष्टिकोण यद्यपि उपन्यासकार अपनाते हैं। परंतु 'कब तक पुकारुं' में गीतों का अनुवाद कर देना अनुचित जान पड़ता है जबकि 'शैलूष' के उपन्यासकार का गीत संबंधी भाषिक दृष्टिकोण उचित है। आंचलिक भाषा के आधार पर दोनों उपन्यास आंचलिक हैं।

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' और 'शैलूष' का आंचलिक मूल्यांकन करने पर ज्ञात होता है कि 'शैलूष' यद्यपि भाषा के संदर्भ में उचित दृष्टिकोण अपनाता है तथापि कथानक, अंचल का जीवन चित्रण, नटों के जीवन यथार्थ का चित्रण उनकी

परंपराओं का चित्रण, परिवेशगत चित्रण आदि संदर्भ में कमजोर साबित होता है जबकि 'कब तक पुकारुं' एक आंचलिक उपन्यास, क्योंकि वह जनजाति के संपूर्ण जीवन का अंचल के संदर्भ में वैशिष्ट्य चित्रित करता है, उसका परिवेश साकार करता है, वह पात्र योजना जातीय संस्कार युक्त यथार्थ रखता है। 'कब तक पुकारुं' एक आंचलिक उपन्यास सिद्ध होता है जबकि 'शैलूष' आंशिक आंचलिक।

पाठक समुदाय और दोनों उपन्यास

उपन्यास अंततः एक कला रचना है। इस कारण इसकी पाठक समुदाय के प्रति भी जिम्मेदारी रहती है। पाठक समुदाय के लिए ही रचना की जाती है। इस आधार पर उपन्यास की प्रभावाभिव्यजंकता या प्रभावीपन, स्वाभाविकता, संवेदनशीलता महत्वपूर्ण होती है क्योंकि पाठक समुदाय पर असर इन्हीं का पड़ता है। इस प्रकार पठनीयता, प्रभावीपन और संवेदनशीलता के आलोक में इनका मूल्यांकन किया जा सकता है।

प्रभावीपन के संदर्भ में बाधक तत्व असंगत तथ्य, प्रसंगविहीन चर्चा या टिप्पणियां, पुनरावर्ति तथा अविश्वसनीयता आदि को माना जा सकता है। ये कथा विकास में बाधा डालते हैं और प्रभावीपन भी कम करते हैं। पठनीयता के संदर्भ में भाषा पर चर्चा की जा सकती है और संवेदनशीलता के संदर्भ में प्रसंगों के चित्रण में लेखकीय लगाव, मार्मिक व यथार्थ चित्रण आते हैं।

पठनीयता और प्रभावीपन में बाधक असंगत तथ्यों और घटनाओं की भरमार 'कब तक पुकारुं' में नहीं है। वहां कुछ आलोचकों के अनुसार नीरस वर्णन है – "'कब तक पुकारुं' में एक ओर संवेदनात्मक हृदयग्राही और मार्मिक स्थल हैं, दूसरी ओर अनावश्यक विस्तार भी।... कजरी–सुखराम, कजरी–प्यारी की चुहन और निस्सार बतियाने में, दीना द्वारा कही दीर्घ कथा में तथा डाकू प्रसंग में अनावश्यक विस्तार है। लेखक ने जिस क्षिप्रता और विस्फोट के साथ कथा का आरंभ किया था उसका अंत तक निर्वाह नहीं कर पाया।"[63] लाल साहब सिंह कहते हैं – "उपन्यास में खटकने वाली बात है चंदा व नरेश की कहानी जो अनावश्यक रूप से जोड़ी हुई लगती है।"[64] कुछ अंश तक इन कथनों में सत्यता है पर पूर्ण नहीं। अचंलिक उपन्यासों की कथा रचना विस्तार पूर्ण होती है वहां कसावट की जगह बिखराव होता है तथा मंथर गति से जीवन का आनंद लेती हुई आंचलिक विशेषता प्रकट करती आगे बढ़ती है फिर लोकमत, लोकविश्वास आदि के लिए भी इन प्रसंगों का प्रयोग जरूरी है। प्राकृतिक वर्णन के प्रसंग लंबे अवश्य हैं पर परिवेश चित्रण तथा घटना के प्रभावी बनने के लिए उनका वर्णन जरूरी है। चंदा नरेश प्रसंग आजादी के बाद की सामाजिक स्थिति पर व्यंग्य के रूप में दिखाया गया है। यह उन आकांक्षाओं पर व्यंग्य रूप में प्रदर्शित है जो मानती थी कि एक दिन सब बदल

जाएगा। कजरी–प्यारी की चुहल नटों की संस्कृति और उनके चारित्रिक विकास के लिए जरूरी है उन्हीं बातों के आधार पर उनका सुखराम के प्रति समर्पित, सहभागिनी का चरित्र सामने आता है। प्राकृतिक परिवेश का जो वर्णन अनावश्यक विस्तार माना जाता है उस संदर्भ में विचारणीय है कि परिवेश के चित्रण के बिना कथा प्रभावी नहीं हो सकती अतः यह जरूरी है। यहां इनके विस्तृत वर्णन हैं पर नीरस नहीं है। पठनीयता और प्रभावीपन में बाधक तत्वों में लेखक की टिप्पणियां अवश्य समाहित की जा सकती हैं। कभी कभी ये चरित्र के विकास में भी बाधा बनी है पर ऐसे प्रसंग आंशिक ही हैं ज्यादातर जगह टिप्पणियां लेखक की संवेदनशीलता के कारण उपजे भावोद्‌गार हैं। प्रभावीपन के लिए चरित्र विकास और कथानक में स्वाभाविकता का अंश होना चाहिए वहां अविश्वसनीय वर्णन नहीं होने चाहिए। रांगेय राघव के पात्र जीवन यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े प्रतीत होते हैं। सुखराम का स्वयं को ठाकुर मानना और परिस्थिति से संघर्ष करना, अंत में स्वयं को नट मानना संक्षेप में कहें तो ठाकुरत्व व नटत्व का द्वन्द्व उसके चरित्र को यथार्थ बनाता है। सुखराम जब चंदा की हत्या करता है तो वह परिस्थिति से हारा हुआ प्रतीत होता है चूंकि व्यावहारिक जगत में ऐसा होता है अतः चरित्र विकास स्वाभाविक है यथार्थपरक है। कजरी, प्यारी, सौनो, बेला व धूपो आदि सभी पात्र जातीय संस्कारों से युक्त जीवन यथार्थ का चित्रण करने वाले स्वाभाविक पात्र हैं। चरित्र के साथ कथानक भी यथार्थपरक है। नटों के जीवन का यथार्थ चित्रण उसे प्रभावी बनाता है। 'कब तक पुकारुं' में पठनीयता में बाधक तत्वों, दोहराव, क्लिष्ट भाषा, प्रसंग विहीन चर्चा का भी अभाव है।

संवेदनशीलता के धरातल पर अगर देखा जाए तो 'कब तक पुकारुं' पाठकीय संवेदना ग्रहण करने में सक्षम प्रतीत होता है। नटों के जीवन को जिस यथार्थ के साथ उभारा गया है, उनके शोषण को उनकी दीन–हीन दारुण दशा को जिस रूप में पाठक समुदाय के समक्ष रखा गया है उससे संवेदना ग्रहण किए बिना पाठक नहीं रह पाता। शोषण के अमानवीय चित्रों और शोषकों के अमानवीय चरित्र के साथ दीन हीन शोषितों की आर्थिक स्थिति शोषण, अत्याचार आदि के बावजूद मानवीय गुणों का चित्रण पाठक समुदाय की संवेदना ग्रहण करता है। कजरी का त्याग, प्यारी का रखैल बनने को विवश होना फिर पीड़ा भोगना, रामा की बहू की मजबूरी, बेला की व्यथा व विवशता, सुखराम व अन्य नटों की पिटाई, धूपो चमारिन का बलात्कार, चमारों की पिटाई उनके मिर्च भर देना, चंदा को पीट–पीट कर बेहोश कर देना जहां शोषकों के अमानवीय कृत्यों की मुंह बोलती तस्वीर है वहीं इन शोषितों की व्यथा व विवशता का हृदय संवेदी चित्र भी। इस प्रकार संवेदनशीलता ग्रहण करने में उपन्यास सक्षम है।

'कब तक पुकारुं' का प्रभावीपन और संवेदनशीलता तथा स्वाभाविकता इस बात से भी जानी जा सकती है कि 'कब तक पुकारुं' की रचना के बाद ही नटों के जीवन को अनेक रचनाकारों ने कथा का आधार बनाया, 'कब तक पुकारुं' का दूरदर्शन पर धारावाहिक रूप में प्रदर्शन और उसकी दर्शकों में प्रसिद्धि भी इसके प्रभावीपन व पाठकीय संवेदना का प्रमाण है। इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' पठनीयता, प्रभावीपन व संवेदनशीलता के आधार पर उत्तम उपन्यास है।

'शैलूष' को इन्हीं प्रतिमानों पर आंका जाए तो ज्ञात होता है कि वहां असंगत तथ्यों की भरमार है वहां लेखक के कथन और चित्रण में अंतर है इसी कारण प्रभावीपन और स्वाभाविकता में बाधा पहुंचती है। उदाहरणार्थ लेखक ने नटों को गरीब बताया है पर उनके पास भैंसें, बकरियां, पैसे, टेपरिकॉर्डर और हीरे का नेकलेस है, वे सर्जरी की बात करते हैं इससे कहीं भी प्रतीत नहीं होता कि वे गरीब हैं। सावित्री का चरित्र भी इसी प्रकार है एक तरह वह मजहब जात–पांत आदि को नहीं मानती दूसरी तरफ वह मांस–मदिरा वाले घर में रहना नहीं चाहती वह पुजारी के छुए फूल भी प्रयोग में नहीं लाना चाहती। एक तरफ नटों में हिंदू–मुस्लिम संबंध होते हैं, उनकी परंपरा बताई गई है वहीं आपस में नफरत भी चित्रित है जिस आधार पर यह कबीला मिसाल नहीं रहता। अविश्वसनीय प्रसंगों में सावित्री का लोगों पर प्रभाव भी देखा जा सकता है वहां लेखक परताप का हृदय परिवर्तन दिखाता है। सूरजभान सावित्री को गाली देता है, नौजादिक व उसके साथियों को न छोड़ने की बात करता है पर सावित्री के जाने के बाद बिना कारण छोड़ देता है। इसी प्रकार के असंगत चित्रण उपन्यास की प्रभावाभिव्यंजकता व स्वाभाविकता में बाधा उत्पन्न करते हैं।

उपन्यास की स्वाभाविकता में पात्रों का भी योगदान रहता है। अविश्वसनीय प्रसंगों और अतिमानवीय कृत्यों का चित्रण कथा को तिलस्मी तो बना सकता है यथार्थ का पुट न होने से वह स्वाभाविक नहीं बन पाता फलतः प्रभावी भी नहीं हो पाता। सावित्री के चरित्र के बारे में देखा जा सकता है। चरित्रों की वर्णनात्मकता उपन्यास कला में उचित नहीं मानी जाती। 'शैलूष' का रचनाकार पहले से ही विचार बनाकर चलता है कि सावित्री पवित्र है, निष्कलंक है वह बार–बार कहता भी है जबकि सावित्री के चरित्र से स्पष्ट होना चाहिए न कि लेखक के कथन से। इसी प्रकार सावित्री का चरित्र अतिमानवीय या अविश्वसनीय है उसे घटना का पूर्वाभास होता है। वह नौजादिक व कुबेर के बीच की बात नहीं जानती पर भी उसे पता चल जाता है कि सलमा व रहमान का नाम उसने नहीं लिया, वह करीमन का पीछा करता रहा। इस प्रकार वह अतिमानवीय चरित्र चित्रित हैं। कबीला उसे देवी, माता, रक्षक, लक्ष्मी आदि कहकर पैर छूता है। उसे सारा महकमा, पुलिस आदि सच्चरित्र

मानते हैं। उसका सम्मान करते हैं। इस प्रकार सावित्री का चरित्र अस्वाभाविक है इसी कारण प्रभावी नहीं है। वह यथार्थ से दूर है।

पठनीयता में भी 'शैलूष' में अनेक प्रसंगों का बार–बार चित्रण और अनावश्यक कथनों का चित्रण मिलता है। मौसी को वह बार–बार पवित्र बताता है और भिन्न–भिन्न उदाहरणों से यह सिद्ध करने के लिए प्रसंग गढ़ता है जो अनावश्यक है। बार–बार कबीला सावित्री को मनाता है, पैर छूता है, लेखक बार–बार सावित्री के गुणों की प्रशंसा करवाता है। इसी प्रकार छूरा फेंकने की प्रतियोगिता की पुनरावर्ति और उसके साथ उन्हीं कथनों की भरमार कथा विकास में बाधा उत्पन्न करती है।

संवेदनशीलता के लिए चरित्र और कथा यथार्थपरक होने चाहिए। 'कब तक पुकारुं' की तरह 'शैलूष' पाठकों की संवेदना ग्रहण नहीं कर पाता इसका कारण है कि प्रथमतः वह शोषण नहीं दिखाता वह जमीन संबंधी संघर्ष का ही चित्रण करता है और दूसरे नटों के जीवन का चित्रण आदर्शपरक है वास्तविकता से दूर है वहां स्वाभाविकता का अभाव है, वहां अविश्वसनीय प्रसंग है। जैसे नट इतने सुधर गए हैं कि 100 रूपये का नोट पड़ा हो तो कोई नहीं उठाएगा, मौसी के कहने पर पात्र आत्मरक्षा के लिए भी शस्त्र नहीं उठाएंगे क्योंकि मौसी ने मना किया है। इस प्रकार नटों के जीवन का यथार्थ चित्रण न करना, शोषण का चित्रण न करना और स्वाभाविकता का अभाव आदि इसे 'कब तक पुकारुं' से कम प्रभावी सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' और 'शैलूष' दोनों ही उपन्यास नटों के जीवन पर आधारित होने के बावजूद अनेक भिन्नता लिए हुए हैं। हर दृष्टि से 'कब तक पुकारुं' 'शैलूष' से श्रेष्ठ सिद्ध होता है। 'कब तक पुकारुं' नटों के जीवन का चित्रण समग्रता से करता है यह उनकी विशिष्टताओं का अंचल के संदर्भ में चित्रण करता है। 'शैलूष' के नटों का चित्रण आदर्शवादी है वे मिसाल बनने के चक्कर में अपने संस्कार भूलते प्रतीत होते हैं उनकी अपनी कोई विशिष्टता प्रकट नहीं होती। वे सभ्यता के नाम पर अपनी मूल संस्कृति को नष्ट करने में लगे हैं। इस संदर्भ में लेखकों का दृष्टिकोण भी भिन्न है। 'कब तक पुकारुं' यथार्थवादी दृष्टि पर आधारित है वहां विचारधारा का प्रभाव है पर कथा व चरित्र विकास स्वाभाविक है। 'शैलूष' में आदर्शवादी – पवित्रतावादी दृष्टिकोण है अतः नट कबीले का चित्रण कल्पना पर आधारित है दोनों उपन्यासों के चरित्र भी भिन्न–भिन्न हैं। यद्यपि दोनों में केंद्रीय नायक है पर सुखराम आदि जीवन यथार्थ युक्त स्वाभाविक पात्र हैं वे जातीय संस्कार युक्त हैं जबकि सावित्री का चरित्र अतिमानवीय, अविश्वसनीय है वह हिटलर को भी जानती है, लौहिया के विचारों से भी अवगत दिखाई देती है। आंचलिकता के आधार पर देखा जाए तो 'कब तक पुकारुं' व 'शैलूष' दोनों में केंद्रीय कथा है परंतु

जनजाति जीवन का चित्रण करने के कारण वे आंचलिक हैं। 'कब तक पुकारुं' केंद्रीय कथा व सुखराम आदि के माध्यम से अंचल का विशिष्ट जीवन चित्रण करता है जो नटों के साथ पार्श्व पर भी दृष्टि रखता है 'शैलूष' नटों तक सीमित रह गया है। प्राकृतिक, सामाजिक के साथ ऐतिहासिक परिवेश का चित्रण भी आंचलिक है 'कब तक पुकारुं' वैर अंचल के सामाजिक परिवेश, प्राकृतिक परिवेश और आजादी के बाद की और पहले की ऐतिहासिक स्थिति का चित्रण करता है 'शैलूष' प्राकृतिक परिवेश के नाम पर परती और सामाजिक परिवेश के नाम पर बसावन के कबीले का जीवन चित्रित करता है। भाषा के संदर्भ में 'कब तक पुकारुं' व 'शैलूष' दोनों आंचलिकता का संतुलित दृष्टिकोण अपनाते हैं जहां 'शैलूष' में पूरबी की सौंधी महक है, 'कब तक पुकारुं' वैर की भाषा ब्रज राजस्थानी मिश्रित है। संतुलित दृष्टिकोण मुहावरों, लोकोक्तियों, नामों, खास शब्दों, उच्चारण व गीतों आदि के संदर्भ में प्रकट होता है। 'कब तक पुकारुं' के उपन्यासकार ने गीतों का अनुवाद कर उसकी प्रतीति में बाधा उत्पन्न कीं है।

पठनीयता, स्वाभाविकता, प्रभावीपन, संवेदनशीलता की दृष्टि से भी 'कब तक पुकारुं' ज्यादा श्रेष्ठ उपन्यास है।

विचारणीय बात यह है कि 'शैलूष' 1989 में प्रकाशित हुआ और 'कब तक पुकारुं' 1957 में। 'शैलूष' का कबीला तीस साल पहले नट कबीला था अब बदल चुका है उसके संस्कार बदल चुके हैं। 'कब तक पुकारुं' का रचनाकार नटों के विकास के लिए शिक्षा को जरूरी मानता है 'शैलूष' के पात्र शिक्षित हैं या फिर सावित्री जो शिक्षित है का उन पर प्रभाव है अर्थात शिक्षा उसके विकास का आधार बनी है। 'शैलूष' का उपन्यासकार 'कब तक पुकारुं' की कला संबंधी बहस को ध्यान में रखकर रचना करता है इसी कारण वह उन प्रसंगों को दूर कर देता है जो विवाद का विषय थे उदाहरणार्थ – भाषा व गीत। वह गीतों का मूल स्वरूप व अनुवाद दोनों रखता है नैतिकता और देहव्यापार संबंधी बहस से बचने के लिए उन्हें हटा देता है और इसी चक्कर में वह कुछ कल्पनाशील विचार भी जोड़ देता है जैसा कि नटों का चूहा, सांप, गिलहरी, आदि खाना। नट शिकार करते हैं पर चूहे या सांप नहीं खाते। इस प्रकार 'शैलूष' की कलात्मकता 'कब तक पुकारुं' की कोटि की नहीं है वह उससे प्रभावित जान पड़ती है फिर भी प्रभावी नहीं है।

संदर्भ

1 शिवप्रसाद सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
2 शिवप्रसाद सिंह, अरूणेश नीरन, पृ.9
3 रांगेय राघव का रचना संसार –. गोविंद रजनीश, पृ.101 (लेख–गोविंद रजनीश)
4 शैलूष – शिवप्रसाद सिंह, पृ.74
5 वही, पृ.255
6 वही, पृ.135
7 वही, पृ.179
8 वही, पृ.48
9 वही, पृ.52
10 वही, पृ.242
11 वही
12 वही, पृ.243
13 वही, पृ.258
14 आधुनिक हिंदी उपन्यास : सं. नरेन्द्र मोहन, पृ.175
15 खण्ड चार, क्रूक, पृ.62
16 शैलूष – शिवप्रसाद सिंह, पृ.3
17 वही, पृ.3
18 वही, पृ.16
19 वही, पृ.245
20 वही, पृ.187
21 पीपुल ऑफ इंडिया – के.एस. सिंह, पृ.692
22 शैलूष – शिवप्रसाद सिंह, पृ.128
23 वही, पृ.129
24 वही, पृ.105
25 वही, पृ.128
26 वही, पृ.71
27 वही, पृ.131
28 वही
29 वही
30 वही, पृ.80
31 वही, पृ.118
32 कब तक पुकारु, रांगेय राघव, पृ.268'
33 शैलूष – शिवप्रसाद सिंह, पृ.187
34 वही, पृ.69
35 वही, पृ.68
36 वही, (भूमिका से पृ.XIV)
37 धरती मेरा घर : रांगेय राघव, पृ.18
38 शैलूष – शिवप्रसाद सिंह, पृ.91
39 वही, पृ.68
40 वही, पृ.203
41 कब तक पुकारु, रांगेय राघव, पृ.446
42 वही, पृ.354
43 वही, पृ.446

[44] शैलूष – शिवप्रसाद सिंह, पृ.181
[45] वही, पृ.129
[46] वही, पृ.62
[47] वही, पृ.66
[48] वही, पृ.80
[49] वही, पृ.120
[50] वही
[51] वही, पृ.77
[52] आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि – वसंत शंकर मुद्गल, पृ.100
[53] शैलूष – शिवप्रसाद सिंह, पृ.68
[54] वही, (भूमिका से, पृ.XV)
[55] शैलूष – शिवप्रसाद सिंह, पृ.5
[56] वही, पृ.3
[57] वही, पृ.74
[58] वही, पृ.189
[59] वही, पृ.128
[60] वही, पृ.131
[61] वही, पृ.149
[62] वही, पृ.259
[63] रांगेय राघव का रचना संसार – सं. गोविंद रजनीश, पृ.105
[64] रांगेय राघव और उनके उपन्यास – लाल साहब सिंह, पृ.110

उपसंहार

आदिवासी भारत में सदैव शोषण का शिकार रहे हैं। आर्यों के भारत आगमन से इनका 'पलायन का इतिहास' शुरू होता है। समय–समय पर भिन्न–भिन्न जातियों द्वारा इन्हें दुर्गम प्रदेशों में पलायन के लिए विवश किया जाता है। कुछ लोग पलायन कर जंगल, पर्वत आदि दुर्गम स्थानों की शरण लेते हैं। उनकी भूमि को सभ्य मानी जाने वाली संस्कृति के प्रतिनिधि मनु द्वारा यज्ञ से रहित अपवित्र भूमि की संज्ञा दी जाती है और पवित्र तथा बसने योग्य बनाने के लिए आर्य उन आदिवासियों की भूमि (जो विन्ध्याचल से हिंद महासागर तक रह जाती है) पर भी अतिक्रमण करते हैं और उन्हें वहां से भी भगाया जाता है। जो भागने में असमर्थ रहते हैं या भागना नहीं चाहते, उन्हें वर्णव्यवस्था के चतुर्थ सोपान पर रखा जाता है। उनका कार्य तीन तथाकथित उच्च वर्णों की सेवा व मनोरंजन रह जाता है। जनजातियां सदैव सभ्य समाज के शोषण का शिकार रहीं, वे सदैव चाहती रहीं कि तथाकथित सभ्य समाज उन्हें स्वीकार करे, उनका भी जीवन सम्मानजनक हो पर तथाकथित सभ्य समाज ने उन्हें स्वीकार नहीं किया, उन्होंने जाति च्युत लोगों को भी इसी श्रेणी में रखा इससे स्पष्ट होता है कि इनके प्रति उनका दृष्टिकोण हिकारत भरा था। ये जनजातियां तथाकथित सभ्य समाज के धुरे पर बसी रही, उन्हें हाशिए की जिंदगी बितानी पड़ी, हिंदू वर्ण में तो दूर उन्हें गांव से भी बाहर रखा गया।

वैसे तो जनजातियों का प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता क्योंकि इतिहास सदैव विजयी जातियों का लिखा जाता है और उन्हीं के पक्ष में लिखा जाता है फिर भी इनके इतिहास पर और इतिहास में इनकी स्थिति पर विचार किया जा सकता है। ये आदिवासी सदैव हाशिए पर रहे और इनको मानवेत्तर माना गया। दानव, दैत्य, राक्षस आदि नामों व जनजातियों का अर्थ बर्बर, असभ्य मान लिया गया इनको मानवेत्तर सिद्ध कर दिया गया।. विभिन्न राजपूतों, मराठों, मुगलों ने इनके राज्य छीने, इन्हें जंगलों में भगाया। ब्रिटिश काल में इनको एक और नाम दे दिया गया जिसका प्रभाव इन पर आज तक व्याप्त है। वह अंग्रेजों की पृथक्करण की नीति का परिणाम था और उसमें सहयोग दिया तथाकथित उच्च जातियों ने। 1871 के अपराधी जनजाति अधिनियम के तहत इनको जन्मजात अपराधी मान लिया गया। इन जनजातियों में पैदा होना ही अपराधीपन का सूचक माना गया और इन अधिनियमों के तहत सुधार के नाम पर पशुवत व्यवहार किया गया, इन्हें बाड़ों में बंद रखा जाता था, दिन में कई बार हाजिरी लगानी पड़ती थी, किसी को भी अपराधी मानकर बिना अपराध साबित किए जेल में बंद कर दिया जाता था। 6 से 16 वर्ष तक के निरीह बच्चों को मां बाप से दूर रखा जाता है। इस प्रकार इन जनजातियों में जन्म लेना ही इनके लिए ईश्वर के कोप के समान हो जाता था।

भारत आजाद हुआ पर इनकी इस स्थिति में परिवर्तन 1952 में हुआ। ये उसी समय आजाद हुए। यद्यपि इनको अपराधी नाम से मुक्त कर दिया गया पर

अधिसूचित या विमुक्त नाम देकर एक श्रेणी बना दी गई जो इनको तथाकथित सभ्य समाज से पृथक करती है। आजादी इनके लिए महत्वपूर्ण नहीं थी क्योंकि इसका इनकी जिंदगी पर असर नहीं पड़ा। सरकार ने आरक्षण की व्यवस्था की। लेकिन उनमें भी इनके साथ अन्याय हुआ, इनको इनका हक नहीं मिला। बहुत सी ऐसी जातियों को जनजातियां मान लिया गया जो पहले न कभी जनजाति थी न उनका जीवन इतना पिछड़ा था और बहुत सी जनजातियों को सूची से बाहर रख दिया गया। साथ ही भिन्न–भिन्न राज्यों की सूची में एक जाति की ही भिन्न स्थिति इस व्यवस्था का खुलासा करती है। इसी प्रकार वर्तमान समय में भी इनका शोषण बंद नहीं हुआ। अभी भी इन्हें इनकी जमीन से बेदखल किया जा रहा है, वनोपज लेने से मना किया जा रहा है, संस्कृतिकरण के नाम पर इनकी सभ्यता व संस्कृति को नष्ट किया जा रहा है। इनको बांग्लादेशी, घुसपैठिए आदि कहकर अपने ही देश में बेगाना करार दिया जा रहा है। वैसे यह स्थिति इनके लिए नई नहीं है, सदियों से ये अपनी जमीन से बेदखल किए जाते रहे हैं और अपने देश में ही बेगाने करार दिए जाते रहे हैं। इस प्रकार इनका इतिहास शोषण का इतिहास रहा है पलायन का इतिहास रहा है जो आज भी जारी है।

राजस्थान की नट, बंजारा, कंजर, सांसी, भील, मीणा आदि जनजातियों को अपराधी जनजाति अधिनियम के अंतर्गत शामिल किया गया था। इनका जीवन और विशिष्टताएं भौगोलिक कारकों से प्रभावित हैं। राजस्थान की ज्यादातर जनजातियां हिंदू मान्यता में विश्वास करती हैं। इनका सामाजिक जीवन, संस्कार, पारिवारिक ढांचा, सामाजिक स्थिति और इनके समाज में नारी की स्थिति सभी विशिष्ट हैं और अन्य समाजों से भिन्न हैं। आर्थिक जीवन, व्यवसाय, आर्थिक स्तर का भेद भी परिलक्षित होता है। यह आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन का भेद जनजाति से जनजाति और जनजाति से सभ्य समाज दोनों के संदर्भ में है।

'कब तक पुकारुं' इन्हीं राजस्थानी जनजातियों में एक नट जनजाति के जीवन को कथा का आधार बनाता है। लेखक उनकी शोषित व व्यथित जिंदगी का चित्रण करता है। नट जनजाति पर हिंदी साहित्य में लिखा यह पहला उपन्यास है। जिसके पीछे लेखक का मंतव्य संघर्षरत मनुष्य की पीड़ा का चित्रण करना रहा है। संघर्षरत मनुष्य की पीड़ा का चित्रण लेखक 'धरती मेरा घर' में भी करता है। इनकी विशिष्ट संस्कृति का चित्रण लेखक भिन्नता में एकता की संस्कृति के संदर्भ में करता है। संस्कृतियों का सहअस्तित्ववादी दृष्टिकोण इनके मूल में है जहां ये इन जनजातियों की अपनी विशिष्टता का यथार्थ चित्रण करते हैं नैतिकतावादी (तथाकथित सभ्य समाज के) दृष्टिकोण से रहित होकर।

संघर्षरत मनुष्य की पहचान और मानवतावादी दृष्टि, पीड़ित के लिए हृदय को सलाने का दृष्टिकोण 'कब तक पुकारुं' की रचना का कारण बनता है। आर्यों की वर्ण और जाति की व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक श्रेष्ठता के सिद्धांत को चुनौती देता है उनका साहित्य जो विभिन्न दक्षिण भारतीय व्यक्तियों – रामानुज, शंकराचार्य

आदि की जीवनी के माध्यम से प्रकट होता है, जो द्रविड़ संस्कृति का समर्थन करता है, जो दक्षिण की उत्तर पर सांस्कृतिक विजय का प्रतीक बनकर आता है। उनका मानना है कि भारतीय संस्कृति आर्यो की ही दी हुई नहीं है उसमें बहुत कुछ आर्येतर भी है। लेखक अपने साहित्य के माध्यम से आदिवासी संस्कृति के अस्तित्व और भूमिका का प्रतिपादन करता है।

'कब तक पुकारुं' इसी आर्येत्तर संस्कृति का जीवन चित्रण करता है तथा तथाकथित सभ्य समाज के हाशिए पर बसी शोषित व पीड़ित, संघर्षरत नट जाति के लिए हृदय की वेदना उड़ेलता है।

नट जनजाति पर आधारित यह उपन्यास राजस्थान के भरतपुर के वैर ग्राम को कथा का आधार बनाता है। इसमें नटों का जीवन समग्रतापूर्ण व यथार्थ रूप में चित्रित है। यह इनकी भिन्न व विशिष्ट संस्कृति का चित्रण करता है जो इनके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन के संदर्भ में प्रकट होती है।

इस नट जनजाति की सामाजिक स्थिति सदैव उपेक्षित व हीन रही है। 'कब तक पुकारुं' इनकी इसी हीन सामाजिक स्थिति का चित्रण करता है। सभ्य समाज ने इन्हें कभी नहीं स्वीकारा, ये सदैव हिकारत की दृष्टि से देखे गए, इनको स्पर्श करना, इनके द्वार पर बैठना उचित नहीं माना जाता। 'कब तक पुकारुं' इसी यथार्थ स्थिति का चित्रण करता है। वहां इन नटों को ब्राह्मण, यादव, ठाकुर, गुर्जर व चमार आदि हिकारत की दृष्टि से देखते हैं। धूपो चमारिन द्वारा नट को भाई बनाना भी उपहास का कारण बनता है। समाज में इनकी इज्जत नहीं है। इनकी इसी सामाजिक स्थिति का कारण व परिणाम शोषण है। इनकी स्त्रियों की सभ्य समाज की नजर में स्थिति अच्छी नहीं है वे इन्हें कामव्यापार का आधार मानते हैं वे इन्हें 'रण्डी' कहते हैं। इनकी स्त्रियों का भी शोषण किया जाता है। उनकी इज्जत लूटी जाती है, उनको उठा ले जाते हैं। पुलिस व तथाकथित उच्च वर्ग दोनों इनके शोषण में बराबर के भागीदार बनते हैं। पुलिस इनकी स्त्रियों को पाने के लिए इन्हें जेल में बंद कर देती है। इनकी स्त्रियों का देहशोषण न केवल पुलिस करती है वरन् तथाकथित उच्च जातियां भी करती हैं। पुलिस से नट भागते फिरते हैं। वे इन पर झूठा आरोप लगा कर जेल में बंद कर देते हैं, चीटियों से उनको कटवाते हैं, कील लगे जूतों से पिटाई करते हैं। इस प्रकार इनका सामाजिक, आर्थिक, दैहिक शोषण किया जाता है। शोषण के विविध पहलुओं का यथार्थ चित्रण किया है लेखक ने।

जनजातीय समाज में स्त्रियों की स्थिति ज्यादा स्वतंत्र होती है। यह स्वतंत्रता इस रूप में प्रकट होती है कि ये पति के बराबर होती हैं, ये पति का 'दाब' नहीं सहती। तलाक, पुनर्विवाह, नाता आदि की इन्हें भी छूट है। ये पुरुष के साथ पशुवत जीवन बिताने के लिए बाध्य नहीं हैं। जनजातीय समाज की स्त्रियां पातिव्रत्य धर्म की शास्त्रोक्त मान्यता को चुनौती देती प्रतीत होती हैं। ये पतियों को गाली भी देती हैं, मारती भी हैं। बेला, कजरी, प्यारी, सौनो, रामा की बहू आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। जनजातीय समाज की स्त्रियों की यह स्वतंत्र और विशिष्ट स्थिति काम संबंधों में भी

प्रकट होती है। नट स्त्रियां काम संबंधों को बुरा नहीं मानती। वहां परपुरुष से संभोग बुरा नहीं माना जाता। इनकी नैतिकता या पवित्रता की अवधारणा सभ्य समाज की अवधारणा से भिन्न है। परपुरुष से संभोग का कारण सांस्कृतिक ही नहीं है इसका कारण आर्थिक, सामाजिक व जीवन की रक्षा भी है। ये पुत्र या पति की रक्षा करने, उन पर अत्याचार न होने देने व आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए ऐसा करती प्रतीत होती हैं। यहां पवित्रता का आधार काम संबंधों को नहीं माना जाता, जनजातीय संस्कृति इसकी छूट देती है इसी कारण इनमें सामान्य व्यभिचार के आधार पर पति अपनी पत्नी को तलाक नहीं दे सकता। वह रखैल बनकर वापस आई औरत को भी स्वीकार करता है। यहां स्त्रियां देह व मन को भिन्न–भिन्न मानती हैं। वे संबंध का आधार मन को मानती हैं। मन से जुड़ना ही रिश्तों का आधार रहता है। इसी कारण ये पति के लिए जो देह से ज्यादा मन से संबंधित होता है त्याग करती हैं, रखैल बनती हैं, सहायक बनती हैं, अरमान पूरे करवाती हैं। 'कब तक पुकारुं' नटों की सामाजिक स्थिति और तथाकथित सभ्य समाज और नट समाज में नारी की स्थिति का यथार्थ चित्रण करता प्रतीत होता है।

सामाजिक जीवन के अंतर्गत सामाजिक संस्कारों का भी वर्णन किया गया है जो हिंदुओं से प्रभावित है और फिर भी विशिष्ट है। यहां हिंदुओं की तरह 16 संस्कार तो नहीं होते पर खास संस्कार – जन्म, विवाह, मृत्यु आदि होते हैं इनका ढंग विशिष्ट होता है, मंत्रों का प्रयोग न होकर गीतों का प्रयोग होता है। पुरोहित ब्राह्मण न होकर जमाई या जाति का वृद्ध व्यक्ति होता है।

'कब तक पुकारुं' सामाजिक संस्कारों में विवाह व मृत्यु का चित्रण करता है। जनजातीय समाज में प्रचलित कन्यामूल्य, तलाक, पुनर्विवाह आदि का चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। वहीं मृत्यु यात्रा में उच्चारित पद, दाह संस्कार, बैकुण्ठ संबंधी मान्यता, कपालक्रिया आदि नटों की सामाजिक संस्कार संबंधी अवधारणा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं।

'शैलूष' भी नटों के जीवन पर आधारित उपन्यास है पर उसका चित्रण यथार्थपरक न होकर काल्पनिक है। यहां स्त्रियां पवित्रता का आचरण करती हैं, समाज में इनकी स्थिति हीन व शोषित नहीं चित्रित की गई है। यहां पितृसत्तात्मक व्यवस्था का दर्शन होता है। नारी स्वतंत्रता का चित्रण यहां नहीं मिलता यहां काम संबंध बुरे माने गए हैं। सभ्यता का आवरण ओढ़कर लेखक ने इनके सामाजिक जीवन को काल्पनिक बना दिया है। यहां संस्कारों का वर्णन आदर्शवादी हैं, वे पुरानी परंपराओं को तोड़ते या छोड़ते प्रतीत होते हैं। पण्डित–पुरोहितों का विरोध, मंत्र विरोध आदि की भी काल्पनिक स्थिति है क्योंकि इनमें इनका प्रयोग नहीं होता फिर विरोध किसका होगा। शैलूष का सामाजिक जीवन नटों के वास्तविक जीवन से दूर चित्रित है वह काल्पनिक है, आदर्शवादी है।

'कब तक पुकारुं' नटों के आर्थिक जीवन का भी चित्रण करता है। इनके पास न खेत है, न जमीन, वे किसानों से भी बदतर स्थिति में हैं। 'कब तक पुकारुं'

में नटों का राजा कहता है कि 'कोई हम पर विश्वास नहीं करता। हम चोर समझे जाते हैं।' यही कारण है कि जब कोई मजदूरी नहीं देता तो ये मजबूर होकर चोरी करते हैं, इनकी स्त्रियां देह व्यापार करती हैं। नटों की अर्थव्यवस्था और आर्थिक स्तर का लेखक यथार्थ चित्रण करता है। नटों का निश्चित व्यवसाय नहीं होता, ये इलाज करते, जड़ी बूटी एकत्र कर बेचते , शहद बेचते, मजदूरी करते चित्रित किए गए हैं फिर भी कुछ परंपरागत व्यवसाय जैसे कलाबाजी, तमाशा, जादू आदि का चित्रण किया गया है। औरतें भीख मांगती हैं। इस प्रकार आर्थिक साधनों की अनिश्चितता और हीन आर्थिक स्थिति इनकी अर्थव्यवस्था को भिन्न रूप देती है जिसके तहत इनके पास संग्रहण के लिए कुछ नहीं रहता। सुबह से शाम तक इनका प्राथमिक लक्ष्य उदरपूर्ति होता है। लेखक इनकी वेशभूषा व खानपान से भी इनकी आर्थिक स्थिति का चित्रण करता है जहां वेशभूषा और खाना इनके लिए आपसी ईर्ष्या का कारण बनता है और एक स्वप्न भी होता है। इनकी हीन आर्थिक स्थिति को लेखक ने इस रूप में चित्रित किया है कि वस्त्राभाव के कारण ये लोग सर्दी से बचने के लिए देह की गर्मी (संभोग) का प्रयोग करते हैं। इस विपन्न स्थिति के बावजूद नट जश्न के मौकों में शराब पीते हैं, मांस खाते हैं, जश्न मनाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि स्थिति में परिवर्तन संभव नहीं है फिर खुशी के क्षण क्यों छोड़े जाएं? लेखक नटों के आर्थिक जीवन का चित्रण करता है। 'शैलूष' में भी नटों का आर्थिक जीवन लेखक ने चित्रित किया है। उन्होंने बताया है कि वे गरीब हैं उनके पास साधन नहीं हैं पर लेखक के कथन और चित्रण में अंतर पाया जाता है। इन नटों के पास भैंसे, बकरियां हैं, ये सोने के ताबीज, अंगूठियां पहनते हैं, हीरे के नेकलेस सगाई में देते हैं, 1000 रू.मेहर देते हैं, सर्जरी कराना चाहते हैं, इनके पास अत्याधुनिक टेपरिकॉर्डर है। शैलूष नटों के व्यवसाय की भी जानकारी नहीं देता। यहां एकाध जगह सूचना के तौर पर अवश्य बताया गया है पर चित्रण कहीं नहीं है। सावित्री मौसी ने इनको कला करतब दिखाने से मना कर दिया है। लेखक का आदर्शवादी दृष्टिकोण सावित्री मौसी के रूप में दिखाया गया है। स्त्रियां परंपरागत व्यवसाय छोड़ चुकी हैं, पुरुष न इलाज करते हैं न कला करतब। लेखक का संस्कृतिकरण का दृष्टिकोण कथानक पर हावी है इसी कारण नटों की अर्थव्यवस्था और आर्थिक जीवन का यथार्थ चित्रण उभर कर नहीं आता।

धार्मिक जीवन का चित्रण भी 'कब तक पुकारुं' में किया गया है। उन पर हिंदुओं का प्रभाव और उनकी विशिष्टता जो देवता, मान्यता आदि संदर्भ में प्रकट होती है का चित्रण किया गया है। इन्होंने हिंदू प्रभाव से ही राम, शिव, हनुमान, काली, दुर्गा आदि को अपनाया और उपन्यास में इन देवताओं के प्रति नटों की आस्था यथार्थ चित्रण का ही रूप है। विशिष्टता पूर्वजों की आत्माओं में विश्वास आदि संदर्भ में प्रकट होती है। धार्मिक मान्यताओं और विश्वास में पुनर्जन्म, मृत्योपरांत जीवन, कर्मफल, बैकुण्ठ, शगुन आदि का चित्रण मिलता है। स्वप्न का कारण ईश्वर का कोप माना जाता है, अधूरी इच्छा रहने पर व्यक्ति भूत बनता है या पुनर्जन्म होता है, ये मान्यताएं उपन्यास में विविध प्रसंगों द्वारा प्रकट की गई है।

जैसे – ठकुरानी की आत्मा। मनौतियों का भी चित्रण किया गया है। इसी प्रकार विशिष्ट पूजा पद्धति, विशिष्ट मंत्र विधान रूस्तम पर हांडी चलाना, आत्मा द्वारा सहायता करना और कुपित होने पर बलि या मनौती करना भी इस उपन्यास में चित्रित है। 'शैलूष' उपन्यास 'कब तक पुकारुं' के नटों के धार्मिक यथार्थपरक जीवन से भिन्न काल्पनिक दृष्टिकोण पर आधारित नजर आता है। यहां नथिया बनजारिन, मानबाबा, दैतरावीर आदि कुल देवता या पूर्वजों पर विश्वास प्रकट किया गया है, इसी प्रकार मरी मसान की पूजा पर भी विश्वास है पर साथ ही ये आदर्शवादी नट प्रतीत होते हैं जो मरीमसान की पूजा को ढोंग मानते हैं और ओझा को मारकर भगा देते हैं। इस प्रकार यहां नटों का धार्मिक जीवन उभरकर नहीं आया है। लेखक ने नथिया बनजारिन, मान बाबा की पूजा अवश्य चित्रित की है पर नटों का यह आदर्श जीवन यथार्थ से दूर प्रतीत होता है।

नटों के जीवन के अंतर्गत राजनीतिक जीवन के संदर्भ में 'कब तक पुकारुं' राजा, नटों की पंचायत की व्यवस्था का चित्रण करता है जिसका कार्य तलाक करवाना, भोज की व्यवस्था करना, जश्न मनाना, कबीले के नियमों का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था करना है। पंचायत के कार्य अप्रत्यक्ष रूप से सामने आते हैं, कजरी–कुर्री तलाक और कजरी-सुखराम का नाता और तत्पश्चात भोज, सौनो को वापस पाने के संदर्भ में इसकी भूमिका प्रकट होती है। 'शैलूष' कबीला व्यवस्था का चित्रण करता है जहां जुड़ावन, बसावन, करीमन आदि कबीले के सरदार हैं। लल्लू नट पुरोहित है। इस प्रकार नटों की राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण किया गया है। सावित्री का चरित्र नटों की संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में सर्वश्रेष्ठ चित्रित किया गया है।

इस प्रकार नटों के धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक जीवन के साथ उनकी संस्कृति के अन्य तत्वों, लोक तत्वों आदि के आधार पर उपन्यासों का विश्लेषण किया जाए तो प्रकट होता है कि 'कब तक पुकारुं' नटों के गीत, संस्कार, उनकी भाषा, लोककथा, जश्न, मांस–मदिरा भोजन आदि का समग्रतापूर्ण चित्रण करता है जबकि शैलूष में गीत मिलते हैं, जश्न मिलता है पर लोककथा, उनके खाद्य, संस्कारों का चित्रण नहीं है और प्रभावी नहीं है।

इस प्रकार 'कब तक पुकारुं' नटों के जीवन को समग्रता में यथार्थपरक दृष्टिकोण से चित्रित करता है वह उनकी सामाजिक स्थिति, सामाजिक व्यवस्था, मान्यताओं, संस्कारों व तथाकथित सभ्य समाज व उनके स्वयं के समाज में नारी की स्थिति पर विचार करता है। लेखक उनके आर्थिक जीवन, आर्थिक साधनों के साथ उनके आर्थिक स्तर का यथार्थपरक चित्रण करता है। वह उनके धार्मिक जीवन, मान्यता आदि का चित्रण करता है। लेखक 'कब तक पुकारुं' में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन का यथार्थपरक समग्रतापूर्ण चित्रण करता है, वह शोषण के आर्थिक ही नहीं विविध पहलुओं का चित्रण करता है। यह 'शैलूष' के कल्पनाप्रवण चित्रण से अधिक प्रभावी जान पड़ता है।

'कब तक पुकारुं' के नटों के जीवन चित्रण में महत्व लेखक के दृष्टिकोण का है। लेखक नटों का जीवन चित्रण उन्हीं की मान्यताओं, संस्कृति, सभ्यता आदि के संदर्भ में करता है वह उन पर नैतिकता वादी पवित्रतावादी दृष्टिकोण लागू नहीं करता। लेखक इनके जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण अपनाकर चित्रण करता है। लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी नहीं है जो यथार्थ को छिपाता हो, इनके समाज की विशेषताओं को छिपाता हो। 'शैलूष' का उपन्यासकार नैतिकतावादी, आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रभावित है इसी कारण वह नटों की मूल संस्कृति को नहीं उभारता वह सभ्यता की मुख्य धारा में लाने के नाम पर उनकी मूल संस्कृति नष्ट करता है जिसके पीछे लेखक का दृष्टिकोण प्रकट होता है। लेखक इनको असभ्य मानता है इसी कारण सभ्य बनाने पर जोर देता है। रांगेय राघव उन्हें तथाकथित सभ्य समाज के प्रतिमानों पर आंककर अनैतिक, असभ्य, अपवित्र नहीं कहते। वे प्रत्येक संस्कृति को महान मानते हैं, वे सांस्कृत्किक सहअस्तित्व के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। 'शैलूष' का रचनाकार जब रूपा से कहलवाता है कि यह आदिवासी कबीला तीस साल पहले रहा होगा अब ये अपनी रीतियां भूल चुका है, इससे उनका आदिवासी समाज के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है वे सभ्यता की मुख्यधारा में लाने के नाम पर इनकी संस्कृति को असभ्य, अनैतिक, अपवित्र मानकर मिटाना या बदलना चाहते हैं। यह लेखक का आग्रहशील दृष्टिकोण है जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की विचारधारा से प्रभावित जान पड़ता है। भारत विविध संस्कृतियों के संगम का देश है यहां पर समय–समय पर अनेक बाहरी व्यक्ति आए। उनकी संस्कृति का यहां की संस्कृति से संपर्क हुआ और इस प्रकार भारतीय संस्कृति का निर्माण किसी एक संस्कृति से न होकर अनेक संस्कृतियों के संगम से हुआ। भारत की संस्कृति विविधता में एकता की संस्कृति है फिर किसी एक संस्कृति को आधार मानकर उसी के प्रतिमानों पर अन्य संस्कृतियों को आंकना, उन्हें असभ्य कहना कहां तक उचित है? क्या जरूरी है इन संस्कृतियों को अन्य संस्कृति के प्रतिमानों के आधार पर बदलना? क्या भिन्न संस्कृतियों वाले इस देश में कोई संस्कृति अपना पृथक स्वायत्त अस्तित्व बरकरार नहीं रख सकती? 'कब तक पुकारुं' लेखक के स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचायक है जो नटों की भिन्न संस्कृति को उनकी समस्त विशेषताओं, चाहे वो तथाकथित सभ्य समाज की नजर में नैतिक हों या अनैतिक, पवित्र हो या अपवित्र, के साथ चित्रित करता है। लेखक उन पर पवित्रता का आवरण नहीं डालता। 'शैलूष' का रचनाकार पवित्रतावादी दृष्टिकोण के कारण इनके वास्तविक जीवन को प्रकट नहीं करता। वह दिखाता है कि यहां स्त्रियां पर पुरुष से काम संबंध बनाना तो दूर इतना कहने मात्र पर घर छोड़ने पर उतारु हो जाती हैं। ये इतने 'सुधर' गए हैं कि 100 का नोट पड़ा हो तो भी नहीं उठाएंगे। लेखक इनका परंपरागत व्यवसाय भी इसीलिए छुड़वा देता है क्योंकि उनकी नजर में वे असभ्यता का कारण है, प्रमाण है। वह तथाकथित सभ्य समाज की संस्कृति को इन पर आरोपित करता है और इनके जीवन को उनकी मान्यतानुसार बदलना चाहता है। इस कारण उसका चित्रण यथार्थ नहीं हो पाता और आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण प्रभावी भी नहीं हो

पाता। लेखक का दृष्टिकोण उन लोगों का दृष्टिकोण है जो इन्हें वनवासी कहकर इनके साथ असभ्य, जंगली, बर्बर आदि विशेषण जोड़ देना चाहते हैं, जो इन्हें सभ्यता की मुख्य धारा में लाने के नाम पर इनकी संस्कृति को नष्ट करना चाहते हैं। सावित्री सभ्य समाज की प्रतिनिधि है उसका दृष्टिकोण लेखक का दृष्टिकोण है। यह तथाकथित सभ्य समाज की नैतिकता का दृष्टिकोण है जिसकी 'कब तक पुकारुं' ने अवहेलना की है।

उपन्यास का संबंध अपने काल से होता है। आंचलिक उपन्यास आजादी के बाद की परिस्थितियों की उपज है। स्वतंत्रता के उपरांत भारतीय समाज ने विशिष्ट रूप ग्रहण किया इसी का परिणाम था कि साहित्य में भी परिवर्तन आया। स्वतंत्रता से पूर्व का साहित्य राष्ट्रीय आंदोलन से संबंद्ध रहा उनका लक्ष्य भिन्न था। स्वतंत्र्योत्तर युग के साहित्य में नया स्वर उपस्थित हुआ। यह नया स्वर अपरिचित और अनजाने क्षेत्रों और जनजीवन के परिचय से संबंधित था। जनजीवन के अंतर्गत जनसामान्य का चित्रण व जनजाति का चित्रण दोनों शामिल किए गए। मूल लक्ष्य अंचल का चित्रण था। अंचल का परिवेश और परिवर्तन का प्रभाव चित्रित करना उपन्यासकारों का लक्ष्य हो गया। रेणू ने आंचलिकता शब्द का पहली बार प्रयोग 'मैला आंचल' में किया, जिसमें किसी अंचल के जीवन को समग्रता में चित्रित करना लक्ष्य माना गया। इसके चित्रण के लिए अनुभव की प्रामाणिकता या भोगे हुए यथार्थ पर जोर दिया गया। रांगेय राघव 'कब तक पुकारुं' इसी दिशा में प्रयास है। इसमें सर्वप्रथम नटों जैसी शोषित, अभिशप्त जाति का जीवन चित्रण किया गया। लेखक ने ही इनकी वेदना को साहित्य जगत में उड़ेला। इनके माध्यम से अंचल का विशिष्ट जीवन चित्रित किया गया। लेखक भरतपुर के वैर अंचल को कथा आधार बनाता है। उन्होंने वहां का जीवन देखा, परखा व भोगा था सुखराम जैसे पात्र उसके जाने बूझे थे। वैर अंचल को कथा का आधार उन्होंने 'कब तक पुकारुं' ही नहीं अनेक अन्य रचनाओं में भी बनाया जिनमें 'धरती मेरा घर', 'गदल' आदि प्रमुख हैं। वहां के न केवल प्राकृतिक वरन् सामाजिक परिवेश का भी चित्रण किया। आंचलिक उपन्यास में अंचल के जनजीवन का चित्रण समग्रता में करना होता है। प्रथमतः तो नट जनजाति के अपरिचित जीवन का समग्रता में चित्रण अर्थात् उनके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक जीवन और मान्यताओं, सुख–दुख के क्षणों का, गीतों–त्यौहारों, खान–पान, वेशभूषा, आचार–विचार का चित्रण किया इस कारण आंचलिक उपन्यास है। इसी के साथ लोक का प्रतिनिधित्व करने वाली अन्य तथाकथित निम्न जातियों या समाजों का भी जीवन चित्रित किया उनकी मान्यता, विश्वास, आचार विचार, आस्था आदि के साथ समग्रता में। इसी संदर्भ में उन्होंने वहां के सामाजिक व प्राकृतिक परिवेश का यथार्थ चित्रण किया। सामाजिक परिवेश के अंतर्गत नट, कंजर, चमार, मेहतर आदि समाजों का चित्रण और ठाकुर, ब्राह्मण, यादव, गुर्जर, दारोगा, (सरकारी अमला) आदि का चित्रण और परस्पर संबंधों में व्यवहार का चित्रण किया। नटों, कंजरों, चमारों का आर्थिक, सामाजिक, दैहिक शोषण चित्रित किया। नटों के लोक जीवन, आचार–विचार, जनपदीय संस्कृति,

अंधविश्वास, भाषा, सामाजिक भीरूता, शोषण, लोकगीत आदि का चित्रण सामाजिक परिवेश के अंतर्गत किया। प्राकृतिक परिवेश के अंतर्गत वहां के नदी, पहाड़, झील, जंगल आदि का चित्रण किया। जंगल उनके जीवन का अभिन्न अंग है, जंगल व पहाड़ आदि का चित्रण चारित्रिक विकास के संदर्भ में किया। जंगल में शिकार करना, शहद इकट्ठा करना सुखराम आदि की अर्थव्यवस्था व बहादुरी का चरित्र चित्रित करता है। पहाड़ व डाँग क्षेत्र में इनका सहयोगी व कर्मठ चरित्र प्रकट होता है। अतः प्राकृतिक परिवेश का चरित्र विकास से संबंध है। 'कब तक पुकारुं' का परिवेश ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है यह गुलाम भारत व आजाद भारत की परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करता है। इस प्रकार उपन्यास परिवेश के आधार पर भी आंचलिक प्रतीत होता है।

'शैलूष' उपन्यास नटों के जीवन पर आधारित अवश्य है पर नटों का जीवन यथार्थवादी व समग्रतावादी दृष्टिकोण से चित्रित नहीं है और नटों के साथ पार्श्व में अन्य जातियों का या कहें लोक का प्रतिनिधित्व करने वाली जातियों का जीवन चित्रण नहीं है। लेखक की दृष्टि केवल नटों तक ही सीमित है। इस कारण आंचलिकता की कला में कमी प्रतीत होती है। सामाजिक परिवेश के अंतर्गत यहां ब्राह्मणों की महासभा, ब्राह्मण–नट संबंधों का वर्णन है, नट–चमार संबंधों का वर्णन है पर वह सामाजिक परिवेश से भिन्न है। वहां प्राकृतिक परिवेश के रूप में परती का ही चित्रण है। सामाजिक परिवेश में उसी परती पर दूसरी जगह से आए नटों (मुस्लिम) व चमारों तथा जुड़ावन के कबीले के आपसी संबंधों का चित्रण है। इसे इस अंचल का सामाजिक परिवेश नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आंचलिक कथानक और परिवेश के संदर्भ में 'कब तक पुकारुं' 'शैलूष' से श्रेष्ठ रचना है।

आंचलिक उपन्यासों के अंतर्गत पात्रों का चरित्र चित्रण लक्ष्य होता है उपन्यासकार का। परंतु केंद्रीय पात्र या नायक युक्त आंचलिक उपन्यास भी पाए जाते हैं मूल चीज अंचल का चित्रण है फिर चाहे वह पात्रों की भीड़ द्वारा हो या कुछ समाजों के प्रतिनिधि पात्रों के जीवन चरित्र द्वारा। 'कब तक पुकारुं' में नट, कंजर, चमार, अहीर, ब्राह्मण, ठाकुर आदि पात्र हैं और उनके माध्यम से अंचल का जीवन सजीव होता है। पात्रों की भीड़ रखने का उद्देश्य अंचल की समस्त विशेषताओं का चित्रण करना होता है प्रत्येक चरित्र किसी खास विशिष्टता (आंचलिक) का उद्घाटन करता है। 'कब तक पुकारुं' सीमित पात्र संख्या द्वारा भी यह कार्य पूरा करता है। सुखराम नटों का जीवन चित्रण करता है उसका चरित्र शोषित है, वह मनोद्वन्द्व की स्थिति का पात्र है जो ठाकुरत्व व नटत्व के द्वन्द्व में उलझा हुआ है वह मारा–पीटा जाता है, वह नटों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक ही नहीं मनोस्थिति का भी चित्रण करता है। यहां उनकी मान्यता है कि शायद ठाकुर बन जाने से उनका सामाजिक शोषण नहीं होगा। कजरी के माध्यम से नटों की नाता प्रथा, पुनर्विवाह, तलाक संबंधी नारी की स्वतंत्र स्थिति का ज्ञान होता है, प्यारी रखैल बनकर नटों की इस विचित्र व्यवस्था का दिग्दर्शन कराती है। रूस्तम खां शोषक पात्र है जो गुलाम भारत के पुलिस का

प्रतिनिधि है जो इस प्रकार शोषण किया करते थे। निरोती ब्राह्मण व ठाकुर उन पात्रों में से है जो समाज की नजर में पवित्र रहना चाहते हैं और पीठ पीछे अनैतिक कार्य करते हैं। चंदा आजाद भारत की अपरिवर्तनशील स्थिति (उस अंचल में) का चित्रण करती है। सुखराम उन लोगों का प्रतिनिधि है जो परिस्थिति को बदलने के लिए संघर्ष करते हैं और अंत में विवश होकर स्वयं परिस्थिति को स्वीकार कर लेते हैं। चंदा की हत्या इसी का परिणाम है। इसी प्रकार धूपो चमारिन, चंदन मेहतर, दीना चमार, चमारवाड़े की औरतें सभी चरित्र उस अंचल का चित्रण करते हैं। उस अंचल की सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, राजनीतिक व धार्मिक स्थिति का चित्रण करने में सहायक हैं ये पात्र। इस प्रकार आंचलिकता की चरित्र संबंधी अवधारणा यह उपन्यास पूरी करता है। शैलूष में भी आंचलिकता पात्र संबंध में विचारणीय है यहां पात्र नट हैं और उनके अतिरिक्त मुस्लिम नटों का चित्रण किया गया है पर अंचल की अन्य जातियों का चित्रण वहां नहीं है वहां पात्र आदर्शवाद से प्रेरित व काल्पनिक है यथार्थ नहीं है, इसी कारण आंचलिक नहीं है।

आंचलिकता भाषा के संदर्भ में भी देखी जा सकती है। 'कब तक पुकारुं' के रचनाकार ने आंचलिक भाषा का चित्रण किया अवश्य है पर संतुलित दृष्टिकोण से। उसने स्थानीय भाषा का अति प्रयोग कर उपन्यास को दुर्बोध नहीं बनाया। यहां मुहावरों, लोकोक्तियों, कुछ खास स्थानीय शब्दों के उच्चारण के संदर्भ में स्थानीय प्रभाव देखा जा सकता है जबकि गीतों का अनुवाद कर लेखक ने अंचल की मूल गंध से उन्हें दूर कर दिया है। 'शैलूष' का रचनाकार 'कब तक पुकारुं' की भाषा संबंधी बहस से परिचित रहा होगा इसी कारण पहले से ही वह गीतों को मूल भाषा के साथ अनुवाद में भी प्रकट करता है। 'कब तक पुकारुं' की भाषा पात्रानुकूल भी है वहां सुखराम की भाषा रूस्तम की भाषा से भिन्न है वहां कजरी की भाषा नरेश की मां की भाषा से भिन्न है। इसी प्रकार वहां पात्रों की भाषा उनकी मानसिक और सामाजिक स्थिति के अनुसार है जिसमें जातीय संस्कारों का भी प्रभाव है। 'कब तक पुकारुं' आंचलिक उपन्यास है परंतु इसकी आंचलिकता 'मैला आंचल' की आंचलिकता से भिन्न है। यहां 'मैला आंचल' की तरह स्थानीय बोली और लोकमतों का आग्रह नहीं है। हां प्रयोग है लेकिन इतना ज्यादा नहीं है। यहां पात्रों की भीड़ नहीं है, केंद्रीय नायक का अभाव भी नहीं है पर फिर भी अंचल का चित्र प्रस्तुत होता है। यहां का परिवेश, कथानक सभी 'मैला आंचल' से भिन्न है पर अंचल का जीवंत और वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करता है। इसी कारण उपन्यास आंचलिक सिद्ध होता है।

विचारधाराविहीन साहित्य की कल्पना भ्रम है। साहित्य के विषय चयन से लेकर रचना के निर्माण तक विचारधारा का प्रभाव रहता है। साहित्य की संवेदना और रूप दोनों का स्वरूप विचारधारा से प्रभावित होता है। यह अकारण नहीं है कि रांगेय राघव नट, गाडिया लोहार, आदि को कथा का आधार बनाते हैं और उनके जीवन के यथार्थ को चित्रित करते हैं, इसके पीछे उनकी विचारधारा है जो मार्क्सवाद से प्रभावित है। इनकी विचारधारा निम्नवर्ग या शोषित के प्रति हृदय सलाते रहने की भावना से युक्त है। लेखक इसी के प्रभाव से संघर्षरत मनुष्य का

चित्रण और उसकी मुक्ति की आकांक्षा करता है। 'कब तक पुकारुं' के निर्माण में इसी का प्रभाव है। यहां पात्र स्पष्टतः दो वर्गों शोषित व शोषक में चित्रित किए गए हैं। शोषकों में तथाकथित उच्च वर्ग के ठाकुर, हरनाम सिंह, दरबार साहब, निरोती ब्राह्मण आदि हैं तो सरकारी अमले में दारोगा, रूस्तम खां व उनके सहायक बांके आदि हैं। वहीं शोषितों में नट सुखराम, कजरी, प्यारी, मंगू, चमारवाड़ा व धूपो चमारिन, गडरिया आदि हैं।

शोषकों द्वारा शोषितों का शोषण किया जाता है जो सामाजिक, आर्थिक, दैहिक होता है। छुआछूत, बलात्कार, पैसे न देना, जेल में बंद कर देना, चंदा को मारा पीटा जाना, गड़रिए का खेत काटना आदि इसी शोषण के रूप हैं। लेखक ने वर्ग वैषम्य व वर्ग चेतना का भी चित्रण किया है। दोनों वर्गों की विषमता का यथार्थ चित्रण किया है जहां शोषकों के पास रहने, खाने और तमाम तरह की सुविधांए हैं वहीं इन शोषितों में नटों के पास सर्दी से बचने का साधन तक नहीं है इसी कारण शरीर की गर्मी का उपयोग करते हैं, उनके पास खाने को कुछ नहीं है फलतः चोरी करते हैं, स्त्रियां देह व्यापार करती हैं। पात्र वर्ग चेतना युक्त हैं कजरी, प्यारी, सुखराम सभी जानते हैं कि उनकी सामाजिक स्थिति क्या है और शोषक कौन हैं? वे सवाल उठाते हैं – 'मनुष्य जन्म पाया है फिर हम पर जुल्म क्यों होते हैं?' वे उस भविष्य की कामना करते हैं जहां पुलिस नहीं होगी वे स्वयं पुलिस बनना चाहते हैं, ठाकुर बनना चाहते हैं ताकि शोषकों के अमानवीय व्यवहार से मुक्ति पा सकें। लेखक शोषकों को अमानवीय रूप में प्रस्तुत करता है और शोषितों को मानवीय। शोषित सुखराम रूस्तम का इलाज करता है, सूसन को बचाता है कजरी भी बचाती है पर शोषक व्यक्ति अमानवीय है लारेंस व सूसन के पिता भारतीयों को हीन मानते हैं। रूस्तम जब तक इलाज होता है चुप रहता है फिर सुखराम को मारना चाहता है, चंदा को नरेश की मां द्वारा पीट–पीट कर बेहोश कर देना, लहूलुहान कर देना इसी अमानवीयता का उदाहरण है। मुक्ति की आकांक्षा के कारण ही पात्र पलायन करना चाहते हैं सुखराम अहमदाबाद चला जाना चाहता है ताकि इस माहौल से मुक्ति मिले। इस प्रकार वर्गीय विचारधास का प्रभाव परिलक्षित होता है।

विचाधारा के प्रभाव का तात्पर्य यह नहीं होता कि कथानक या चरित्र पर वह हावी हो जाए और उसके स्वाभाविक विकास में बाधक बने। 'कब तक पुकारुं' का लेखक इस संदर्भ में सजग है वह शोषण का चित्रण करता है, सवाल उठाए जाने का चित्रण करता है, वर्ग चेतना व वर्ग वैषम्य का चित्रण करता है संघर्ष की शुरुआत का भी चित्रण करता है पर संघर्ष या क्रांति द्वारा व्यवस्था परिवर्तन वह नहीं दिखाता क्योंकि कथानक यथार्थपरक है वह नटों के जीवन पर आधारित है अतः उसे नटों की यथार्थ स्थिति को ध्यान में रखना पड़ता है जो इस क्रांति के लिए तैयार नहीं है जो इस शोषण की अमानवीय अवस्था के बावजूद जमींदारों को माई बाप, अन्नदाता आदि कहते हैं। लेखक ने कथानक व चरित्र का स्वाभाविक विकास दिखाया है। सुखराम मानवतावादी पात्र है वह ठाकुरत्व और नटत्व के द्वन्द्व में जीता है स्वयं को ठाकुर मानता है पर.अंत में उसके ठाकुरत्व का अभिमान टूट जाता है

उसे स्थिति को स्वीकार करना पड़ता है वह स्वयं को नट मान लेता है। यह स्थिति स्वाभाविक है क्योंकि वास्तविक जीवन में ऐसा ही होता हैं चंदा की हत्या करना भी चरित्र का स्वाभाविक विकास ही है। सुखराम जैसे न जाने कितने लोग लड़ते हैं, पिटते हैं, मरते हैं पर इस व्यवस्था को बदल नहीं पाते। इस प्रकार चरित्र व कथानक यथार्थ है, स्वाभाविक है।

पाठक समुदाय के प्रति लेखक की जिम्मेदारी होती है इसी कारण वह उपन्यास को पठनीयता की दृष्टि से, स्वाभाविकता की दृष्टि से, प्रभावीपन व संवेदनशीलता की दृष्टि से श्रेष्ठ बनाना चाहता है। वह पाठक समुदाय को प्रभावित करना चाहता है। पठनीयता में बाधक तत्व असंगत प्रसंग, भाषा की दुरुहता, स्वाभाविकता का अभाव, असंगत टिप्पणियां, प्रसंग विहीन चर्चा और अतिआदर्शवाद आदि है। 'कब तक पुकारुं' का चित्रण अविश्वसनीय न होकर जीवन यथार्थ का चित्रण है, यहां कथानक व चरित्र स्वाभाविक है, वे जातीय संस्कार युक्त हैं, लेखक ने 'कब तक पुकारुं' की रचना यथार्थवादी दृष्टिकोण से की है इसी कारण 'कब तक पुकारुं' प्रभावी बन पाया है और इसका प्रभाव ही माना जाएगा कि 'कब तक पुकारुं' के बाद नट जीवन पर साहित्य लिखा जाने लगा। पाठक समुदाय जिस रचना से संवेदना ग्रहण करता है वह रचना की श्रेष्ठता की सूचक मानी जाती है। 'कब तक पुकारुं' शोषितों की करुण कथा को साहित्य रचना का आधार बनाकर यथार्थवादी दृष्टिकोण से उनका जीवन चित्रण करता है। 'कब तक पुकारुं' शोषितों के 'पीड़ित मन की दमघोंटू पुकार' के रूप में आता है जहां सदियों से शोषित इस जनजाति के प्रति अमानवीय व्यवहार पाठकों के संवेदनशील हृदय को उद्वेलित करता है। लगता है लेखक ने नटों के जीवन का चित्रण कर इस स्थिति से उनकी मुक्ति हेतु नटों की ओर से पुकार लगायी है कि मुक्ति को 'कब तक पुकारुं'? कब मिलेगी मुक्ति? कब वह दिन आएगा कि हमारा भी कोई होगा, कब हमारी स्थिति सुधरेगी?

'कब तक पुकारुं' संवेदना व शिल्प दोनों स्तर पर श्रेष्ठ उपन्यास सिद्ध होता है। नटों के शोषित जीवन को यथार्थ रूपमें चित्रित करना साहित्य व समाज के लिए लेखक का अमूल्य योगदान है।

ग्रंथ–सूची

रांगेय राघवः	कब तक पुकारुं	राजपाल एंड संस, नई दिल्ली	संस्करण 1999
रांगेय राघवः	धरती मेरा घर	राजपाल एंड संस, नई दिल्ली	संस्करण 1960
शिवप्रसाद सिंह	शैलूष	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	1995 द्वितीय

हिंदी

1. अतुलवीर अरोड़ा	आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिंदी उपन्यास	पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब	1974 प्रथम
2. अमर सिंह जगराम लोधा	प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यासों में सामाजिक चेतना	अमर प्रकाशन, अहमदाबाद,	1981 प्रथम
3. अमर सिंह राठौड़ व आशुतोष (सं.)	राजस्थान सुजस संचय	सूचना एवं जनसंपर्क निदेशालय, जयपुर	1998
4. अरुणेश नीरन (सं)	शिवप्रसाद सिंह	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	प्रथम 1994
5. अरुणा कुमारी सिंह	जनजातीय समाज में स्त्रियां	रावत प्रकाशन, जयपुर	1991
6. उर्मिला भटनागर	हिंदी उपन्यास सहित्य में दांपत्य चित्रण	अर्चना प्रकाशन, जयपुर	1991
7 कुसुम मेघवाल	हिंदी उपन्यास और दलित नारी	संघी प्रकाशन, जयपुर	1991 प्रथम
8. कुंवरपाल सिंह	मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और हिंदी कथा साहित्य	धरती प्रकाशन, बीकानेर	1984
9. खलील अब्बास सिद्दिकी (अनु. नारायण प्रसाद श्रीवास्तव)	भारत के आदिवासी	भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण, कलकत्ता	1984 प्रथम

10. गोविन्द रजनीश	रांगेय राघव का रचना संसार	मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड	1982 प्रथम
11. चंद्रेश्वर कर्ण	आंचलिक हिंदी कहानी	चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद	1977 प्रथम
12. चंद्रकांत वांदिवडेकर	उपन्यास स्थिति और गति	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1993
13 द्वारका प्रसाद वर्मा	रांगेय राघव का कथा साहित्य और हिंदी क्षेत्र का जनजीवन	अकादमिक एक्सेलेंस	2003 प्रथम
14. दुर्गेश नंदिनी प्रसाद	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में पुरुष पात्र	गीता प्रकाशन, हिंदी बुक सेंटर, हैदराबाद	1993 प्रथम
15. देवराज उपाध्याय	कथा साहित्य : मेरी मान्यताएं	सौभाग्य प्रकाशन, इलाहाबाद	1975 प्रथम
16. नदीम हसनैन	जनजातीय भारत	जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स	1990
17 नवनीत पी. ठक्कर	रांगेय राघव के जीवनीपरक उपन्यास	शांति प्रकाशन, रोहतक हरियाणा	1990 प्रथम
18 नरेंद्र मोहन (सं.)	आधुनिक हिंदी उपन्यास	मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड	1975 प्रथम
19. बंशीधर	हिंदी के आंचलिक उपन्यास सिद्धांत और समीक्षा	भाषा प्रकाशन, दिल्ली	1983 प्रथम
20. बजरंग लाल लोहिया	राजस्थान की जातियां	विशाल भारत बुक डिपो, कलकत्ता	1954
21. मधुरेश	रांगेय राघव	साहित्यकार सिरीज, साहित्य अकादमी प्रकाशन	1999–2000
22. मैनेजर पाण्डेय	अनभै साचा	पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली	2002

23. मैनेजर पाण्डेय	शब्द और कर्म	वाणी प्रकाशन,	1997
24. मैनेजर पाण्डेय	साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका	हरियाणा ग्रंथ अकादमी	1989
25. यशवंत जाधव	बंजारा जाति : समाज और संस्कृति	वाणी प्रकाशन दिल्ली	1992
26. रत्नाकर भेंगटा व सी आर बिजोय	भारत के आदिवासी	मायनॉरिटी राइट्स ग्रुप इंटरनेशनल रिपोर्ट	हिंदी अनुवाद 2001
27. रांगेय राघव	गोरखनाथ व उनका युग	आत्माराम एंड संस, दिल्ली	1963 प्रथम
28. राजीव लोचन शर्मा	जनजातीय जीवन और संस्कृति	सहचारी प्रकाशन, कानपुर	1967
29. राजेंद्र प्रसाद मिश्र	आंचलिकता की कला और कथा साहित्य (रेणु व गोपीनाथ महांती के संदर्भ में)	प्राची प्रकाशन, नई दिल्ली	1989
30. राजेंद्र मिश्र व प्रह्लाद तिवारी	बीसवीं सदी के चर्चित उपन्यास	तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली	2003 प्रथम
31. राजेंद्र यादव	औरों के बहाने	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली	1981 प्रथम
32. रामदरश मिश्र	आज का हिंदी साहित्य संवेदना व दृष्टि	अभिनव प्रकाशन	1975
33. रामदरश मिश्र (सं.)	हिंदी उपन्यास के सौ वर्ष	गिरनार प्रकाशन, गुजरात	1984 प्रथम
34. रामदरश मिश्र	हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	1968 प्रथम
35. रामदरश मिश्र व ज्ञानचंद गुप्त (सं.)	हिंदी के आंचलिक उपन्यास	वाणी प्रकाशन	1984 प्रथम
36. रामशरण शर्मा	शूद्रों का प्राचीन इतिहास	मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड	1979 प्रथम हिंदी संस्करण

37	रैल्फ फॉक्स	उपन्यास और लोकजीवन	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	1980 अनुवाद
38	लाल साहब सिंह	रांगेय राघव और उनके उपन्यास	अनुपमा प्रकाशन, बम्बई	1972 प्रथम
39	विमलशंकर नागर	हिंदी के आंचलिक उपन्यास : सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भ	प्रेरणा प्रकाशन, मुरादाबाद,	1986 द्वितीय
40	विजयशंकर उपाध्याय व विजय प्रकाश शर्मा	भारत की जनजातीय संस्कृति	मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल	2002
41	विवेकी राय	स्वातंत्र्योतर हिंदी कथा साहित्य और ग्राम जीवन	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	1974
42	वेद प्रकाश अमिताभ	हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में मूल्य संक्रमण	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1997 प्रथम
43	शंकरलाल जायसवाल	हिंदी गद्य साहित्य पर समाजवाद का प्रभाव	सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद	1973
44	शंकर वसंत मुद्गल	हिंदी के महाकाव्यात्मक उपन्यास	चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर	1992 प्रथम
45	शंकर वसंत मुद्गल	महाकाव्यात्मक उपन्यासों की शिल्पविधि	चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर	1994 प्रथम
46	शंभु सिंह	रांगेय राघव और आंचलिक उपन्यास	सुशील प्रकाशन, अजमेर	1979 प्रथम
47	शिव प्रसाद सिंह	मेरे साक्षात्कार	किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली	1993 प्रथम
48	शोभानाथ पाठक	भीलों के बीच बीस वर्ष	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली	1983
49	संतोष कुमारी जैन	आदिवासी भील मीणा	यूनीक ट्रेडर्स, जयपुर	1994

50.	सच्चिदानंद राय	हिंदी उपन्यास सांस्कृतिक व मानवतावादी चंतना	बनारस हिंदू विश्वविद्यालय "शोध प्रबध"	1979
51.	सच्चिदानंद राय	स्वातंत्र्योतर हिंदी उपन्यास : अभियान की दिशा		
52.	सच्चिदानंद वात्त्यायन 'अज्ञेय'	सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस	1986 द्वितीय
53	सुनीता त्यागी	हिंदी उपन्यास : आधुनिक विचारधाराएं	साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली	1978 प्रथम
54.	सुलोचना रांगेय राघव	रांगेय राघव ग्रंथावली	राजपाल, नई दिल्ली	1982 प्रथम
55.	सुलोचना रांगेय राघव	रांगेय राघवः एक अंतरंग परिचय	राजपाल, नई दिल्ली	
56	सुलोचना रांगेय राघव	भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र	रावत प्रकाशन, जयपुर	
57	ह.क. कड़वे	हिंदी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृति	अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर	1978 प्रथम
58	त्रिभुवन सिंह	हिंदी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग	हिंदी प्रचारक संस्थान वाराणसी	1973
59	ज्ञानचंद गुप्त	आंचलिक उपन्यास संवेदना वं शिल्प	अभिनव प्रकाशन, दिल्ली	1975

ENGLISH

1.	BETEILLE ANDRE	Tribes, caste and Religion in India		
2.	CROOKE	Races of Northern India	Delhi Cosmo Publication	1973
3.	CHAUDHARY MAMTA	Tribes of Ancient India	Indian Museum, Calcutta	1977
4	Hansnain Nadeem	Tribal India	Palaka Prakashan, New Delhi	1994 IV
5	Majumdar D.N. &	The Criminal	Universal	1949

	B.S. Bhargava	Tribes	Publishers Ltd., Lucknow	
6.	Russell R.V. Assisted by Rai Bahadur Hiralal	Tribes and Castes of Central Provinces of India, Part I, Vol I	Macmillan and Co. Ltd., London	1916
7.	Russell R.V. assisted by Rai Bahadur Hiralal	Tribes And Castes Of Central Provinces Of India (Part II Vol. IV	Macmillan and Co. Ltd., London	1969
8.	Singh K.S. (editor)	People of India (Rajasthan) (Anthropological Survey of India)	Popular Prakashan Ltd., Mumbai	1998 (I)
9.	Singh Munshi Hardayal	The Castes of Harwar	Books Treasure Jodhpur	1991
10.	Upadhayay H.C.	Reservations for Scheduled Castes and Scheduled Tribes	Anmol Publishers, New Delhi	1991
11.	Vidyarathi L.P. and B.K. Rai	The Tribal Culture of India	Concert Publishing Co., New DElhi	1985

पत्र–पत्रिकाएं

1.	अपेक्षा (त्रैमासिक)	संपा. तेज सिंह	दिल्ली	जनवरी मार्च 2003 (कबीर विशेषांक)
2.	कल के लिए (त्रैमासिक)	(सं.) जयनारायण	बहराइच	अप्रैल–जून 2004 जुलाई सितंबर (संयुक्तांक)
3.	दस्तक (त्रैमासिक)	(सं.) राघव आलोक	शंकर पुर	जनवरी–मार्च, 2004, आदिवासी विशेषांक
4.	पहल	ज्ञानरंजन	जबलपुर	अप्रैल–जून 2004
5.	पुस्तक वार्ता (द्विमासिक)	राकेश श्रीमाल	महात्मागांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, नई दिल्ली–29	सितंबर–अक्टूबर 2003

6	बूधन	अनिल कुमार पाण्डेय	दिल्ली	अप्रैल–जून 2001
7	बूधन	अनिल कुमार पाण्डेय	दिल्ली	दिसंबर 2001
8	बूधन	अनिल कुमार पाण्डेय	दिल्ली	अप्रैल 2004
9	बूधन	अनिल कुमार पाण्डेय	दिल्ली	नवंबर–जनवरी 2004
10	भाषा	शशि भारद्वाज	केंद्रीय हिंदी निदेशालय, भारत सरकार, दिल्ली	मई–जून, 2004
11	युद्धरत आम आदमी (आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, खंड 2)	रमणिका गुप्ता	नई दिल्ली	विशेषांक 2002 पूर्णांक 61
12	वर्तमान साहित्य	रघुनाथ शर्मा, घनश्याम मुरारी	उत्तर प्रदेश	जुलाई 2001
13	समकालीन जनमत	रामजीराय (प्रधान) सुधीर सुमन (सं.)	पटना	सिंतबर 2003
14	समयांतर	पंकज विष्ट	दिल्ली–95	मार्च 2003
15	हंस	राजेंद्र यादव	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली	जून 2001

Jawaharlal Nehru University Library